१ | संगीत और नाटक

संगीत क्या है ?

'संगीत' शब्द का निर्माण 'सम्' और 'गीत' से हुआ है, अर्थात् सम्यक् रूप से गाना। गीत का यह सम्यक् रूप दो अन्य वस्तुओं से मिलकर बनता है : १. वाद्य २. नृत्य। इस प्रकार संगीत शब्द के अन्तर्गत शास्त्रीय दृष्टि से गीत, वाद्य एवं नृत्य—इन तीनों कलाओं का समावेश माना जाता है। भारतीय संगीताचार्यों, विद्वानों तथा हिन्दी और संस्कृत के कोशों में इसी प्रकार संगीत के तीन अंग माने गए हैं—

१—गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।[1]

२—गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते।[2]

३—गीत वादित्र नृत्यानां त्रयं संगीतमुच्यते।[3]

हिन्दी कोश की दृष्टि से 'संगीत' शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं[4]—

१—साथ मिलकर गाया हुआ।

२—वाद्यों के साथ गाया जाने वाला गाना।

३—नृत्य और वाद्य के साथ गाने की कला।

अन्य कोषों में 'संगीत' शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से है—

१—गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते।
किमन्यदस्या : परिषदः श्रुति प्रसादनतः संगीतात् ॥

२—वाद्य और नृत्य के साथ गाया गया गीत।[5]

१—संगीत रत्नाकर : शार्ङ्गदेव, १९४३ ई० प्रथम प्रकरण, पृ० ६।

२—संगीत दर्पण : दामोदर पंडित, अनुवादक विश्वम्भरनाथ भट्ट, प्र० सं०, पृ० ५।

३—संगीत पारिजात : अहोवल पंडित, भाष्यकार पं० कलिन्द जी, द्वि० सं०, पृ० ६।

४—बृहत् हिन्दी कोष, सम्पादक कालिका प्रसाद राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीनिवास, पृ० २००९।

५—The practical Sanskrit—English Dictionary—Vaman, Shiva Rao Apte. Part III, 1957.
'Harmonious singing especially accompanied by instrumental music and dancing; driple symphony'.

कहीं-कहीं संगीत के माध्यम से नाटककारों ने पात्रों का आत्म-गत परिचय करा दिया है। 'नन्दविदा' नाटक के अन्तर्गत कुब्जा गाती है—

चांद सी मूरत सुन्दर सूरत कुब्जा मेरा नाम।[1]

'भारत-ललना' नाटक में निर्धनता, मलिनता तथा चपलता आदि पात्र रूप में अपनी-अपनी प्रवृत्तियों का परिचय गीतों में देती हैं।[2] 'भारत-सौभाग्य' (अम्विकादत्त व्यास) नाटक में 'उत्साह' तथा 'एकता' पात्रों के गीत भी आत्मपरिचयात्मक हैं।[3]

भविष्यवाणी के रूप में भी संगीत का प्रयोग किया गया है। भविष्यवाणी सम्वन्धी गीत का नाटकीय सौन्दर्य तथा पात्र की चारित्रिक विशेषताओं में अपना महत्व है। 'अभिमन्यु' नाटक में गर्भवती उत्तरा पति की चिता के साथ ही जलने को तत्पर होती है तभी भविष्यवाणी-गान होता है—

'मत जर अनल में उत्तरे, तव गर्भ एक कुमार है।[4]

यह सुनकर उत्तरा स्थिर हृदया हो अपने आपको वश में कर लेती है। इस मोड़ का कारण उपर्युक्त गीत ही है।

कुछ गीतों का सम्वन्ध पात्रों के मनोभावों तथा उनकी मानसिक स्थिति के साथ दृष्टिगत होता है। नाटक में संगीत की यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपयोगिता है। इस दृष्टि से प्रणय तथा वियोग व विरह-सम्वन्धी तथा भक्ति-भाव सम्वन्धी गीत ही अधिक है। नायक-नायिका अथवा अन्य पात्र अपने हृदय स्थित प्रेम की गहनता की अभिव्यक्ति गीत द्वारा करते हैं। इस प्रणय-व्यापार के अन्तर्गत ये प्रणयी पात्र गण गीतों में ही हंसकर आनन्दित होते हैं तथा गीतों द्वारा ही अपनी व्यथा कहकर विरह निवेदन करते हैं। 'मोरध्वज' में कुसुमावती नायिका पति-वियोग में गीतों से ही अपने पति केशव के निकट वैठ अपनी व्यथा कहती है—

हाय पिया वोरि दई मझदार।
कीन्हीं थल की नहीं बेड़े की भली लगाई पार॥
नेह की नाव चढ़ाय चाव सों पहिले कर मनुहार।
अनकहु विन अपराध तजी क्यों सुनि है कौन पुकार॥
लोक लाज कर भूमि छुड़ाई करी घात सों मार।
आखें खोलो मुख से वोलो विनवत वारम्वार॥[5]

प्रणय-गीत प्रायः सभी नाटकों में उपलब्ध हो जाते हैं क्योंकि नाटकों के कथानक प्रायः

१—नन्दविदा : वलदेव मिश्र, तृतीय अंक, पृ० २८।
२—वही, पृ० ६।   ३—वही, पृ० ३६।
४—अभिमन्यु : शालिग्राम वैश्य : १८९६ ई० सप्तम अंक, पृ० १९२।
५—मोरध्वज : शालिग्राम वैश्य : १८९० ई०, अंक ५, पृ० ११२।

प्रणय-व्यापार पर ही आधारित हैं। 'तप्ता संवरण' नाटक में नायिका तप्ता तथा नायक संवरण के प्रेम-भाव की ओर संकेत करती हुई सखियां गाती हैं—

'सखी री मन मान्यो सुख पायो ॥'[1]

'चौपट-चपेट' में वैजू हृदय-व्यथा से पीड़ित हो गाने लगता है—

'विरह की पीर सही नहि जात'।[2]

'नन्दविदा', 'अंजनासुन्दरी', 'नाट्यसंभव', 'ललिता नाटिका', 'महारास', 'हरितालिका' आदि नाटक इस प्रकार के गीतों से आपूर्ण हैं। 'नन्दविदा' नाटक के अन्तर्गत यशोदा के गीतों में मातृ-हृदय की ममता का अपूर्व चित्रण मिलता है।

'उत्साह' स्थायीभाव को उद्दीप्त करने के हेतु तथा पात्र-हृदयगत वीरता के अभिव्यंजनार्थ भी गीतों का समुचित प्रयोग नाटकों में किया गया है। राग मारू में रण-वाद्यों की गम्भीर टंकार के साथ ये गीत बड़े ही सजीव एवं प्रभावशाली हैं। 'पुरुविक्रम' में सिकन्दर तथा पोरस के युद्ध से पूर्व गाया गया गीत सैन्यगणों को उत्साहित करने में समर्थ है—

करो ऐसा रण जो धरणि कांप जाय।
दशोदिशि लगन सी लगी दृष्टि आवे ॥[3]

'माधवानलकामकन्दला' में माधव तथा मदनादित्य के युद्ध अवसर पर नेपथ्य से शंख-ध्वनि के साथ राग मारू में निम्न गीत—

रंग भूमि धूम-धूम लरत वीर भारी
भ भ भट गिरत आन क क कर ले कमान स स शर तान तान मारत
धनुधारी ॥[4]

'संयोगिता स्वयंवर' नाटक में युद्ध-गीतों के सुन्दर उदाहरण हैं। जयचन्द तथा पृथ्वीराज के सैनिकों के मध्य युद्ध के समय सिन्दूरा राग में निम्न गीत रणवाद्य के साथ नेपथ्य से होता है—

युद्ध जवनि, वीर उवनि, धावत बलशाली
क क कर धर कृपाण फ फ फेरत सुजान चंचल चपला समान चमक है
निराली ॥
ग ग गहि लेत बान, ख ख खेंचत कमान
द द द देत तान लागत जनु व्याली ॥[5]

१—तप्ता संवरण : श्री निवास दास : द्वितीय अंक, पृ० १४।
२—चौपट-चपेट : किशोरीलाल गोस्वामी : द्वि० सं०
३—पुरुविक्रम : शालिग्राम वैश्य, पृ० ५९।
४—वही, षष्ठ अंक : पृ० १९३।
५—संयोगिता स्वयंवर : श्री निवास दास, तृतीय अंक, पृ० ६५।

राष्ट्रीय गीत की जिस परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु ने किया था, यह परम्परा उनके समकालीन नाटकों में कुछ स्थलों पर विद्यमान है। राष्ट्रीय भावों की उदीप्ति के लिए लिखे गए गीतों के उदाहरण निम्न हैं—

(१) जय भारत जय भारत जय भारत कहु रे।
भारत की भक्ति करो भारत में रहु रे ॥[१]

(२) सब मिल भारत को यश पाओ।
ऐसो और द्वीप नहिं दूजो सब पृथ्वी पर गाओ ॥[२]

(३) तजि सोच उठो सब वीर बांधि दृढ़ आसा।
अब भयो भानुकुल भानु प्रताप प्रकासा ॥[३]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तत्कालीन परिस्थियों में राष्ट्रीय जागरण तथा उत्साह प्रदायक प्रेरणा-स्रोतों की विशेष आवश्यकता थी। ये गीत प्रेरणा के अमूल्य साधन कहे जा सकते हैं।

हास्य तथा व्यंय के हेतु भी कुछ गीतों की रचना की गयी है। जिन नाटकों के कथानक किसी विशेष दुर्दशा तथा अवनति का चित्रण करने वाले हैं, उन नाटकों में ही ऐसे गीत प्रायः प्राप्त होते हैं। 'भारत-सौभाग्य' नाटक के निम्न गीत में भारत की दुर्गति के विषय में तीखा व्यंग्य किया हुआ है—

भारत विषय भोग को प्यारो।
पाइ संग अंगरेजी को अब है गयो अधिक दुलारो ॥

— — —

वीना छाड़ि वजाइ पियानो उमगंत ताही मांहीं।
दूध मलाई तजि चखि बिसकुट गहत तिया की बांही ॥[४]

नाटक 'चौपट-चपेट' में लम्पटों की दुर्दशा का वर्णन किया गया है। नाटक का द्वितीयांक का प्रारम्भ निम्न गीत द्वारा होता है—

देखा जगत तमासा साधो देखा जगत तमाशा।
बाहिर बने धरम मूरत सब भीतर धोखा खासा ॥[५]

इसी प्रकार 'जयनार सिंह' की प्रहसन के अन्तर्गत वंचकों की धूर्तता का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। फकीरे के गीत में गंवारू भाषा में धूर्तता की ओर कटु व्यंग्य किया गया है—

१—अमर सिंह राठौर : राधाचरण गोस्वामी : पृ० ३।
२—पुरु विक्रम : प्रथम अंक : पृ० १६।
३—महाराणा प्रताप सिंह : राधाकृष्ण दास, प्र० अंक, पृ० १०।
४—भारत-सौभाग्य : अम्बिकादत्त व्यास, पृ० २१।
५—वही, पृ० ५।

ए धजा नारिअर गुर दस भेली चुंदरी का चोलना मंगाय हो माय।
ए तेल की जलेवी वेल की फुलोरी मकराक ववरा वनाओ ॥[1]

निश्चय ही इस प्रकार के गीत अपने स्वाभाविक आवरण में गहन तत्व को छिपाये रखते हैं। इस प्रकार के व्यंग हृदय का स्पर्श अधिक शीघ्रता एवं तीक्षणता से करते हैं। कोरे हास्य के लिए लिखे गए गीतों का अभाव है। कहीं-कहीं ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं। यथा, 'प्रभास-मिलन' (वलदेव प्रसाद मिश्र) नाटक में प्रजा के लड़के खेलते हुए गाते हैं—

(१) ग्वाल वाल तथा सुदामा गाते हुए आते हैं—
व्रजवासिन पनियां लै गई रे ॥
दमड़ी की भंग तेरी मूछों में रंग खाते ही जाके हमें आई उमंग
वोल घर—र—र-र—र--र र ॥[2]

(२) मेरे यहां चलो आज कबड्डी खेलेंगे।
हरिशंकर—हम नहिं तेरे साथ खेलते तू है खेल में रोता।
मदन-जरा देर में गिर पड़ जावे है तू कद में छोटा ॥[3]

नाटकीय कार्य-व्यापार को गति प्रदान करने के लिए कुछ गीत अत्यन्त सराहनीय हैं। नाटक 'महाराणा प्रताप सिंह' (राधाकृष्णदास) में वादशाह अकवर पृथ्वीराज की रानी को फसांकर लाने का आदेश देने के उपरान्त उत्कंठित भाव से अपने महल के एक सुसज्जित कमरे में इधर-उधर घूम रहा है तभी नेपथ्य में गान होता है—

मधुकर काहे को अकुलात ?
खिलन चहत पंकज की कलियां अब न दूर परभात।
यह पराग तेरे ही बांटे क्यों नाहक ललचात।
छन ही छकि के प्रेम-सुधा तू डालेगो इतरात ॥[4]

इस गीत में 'मधुकर' के मिस अकवर की लोलुप प्रवृत्ति की ओर गहरी व्यंजना प्रकट की गई है दूसरी ओर अकवर के कर्तव्य की ओर संकेत किया गया है। काव्य-पक्ष तथा नाटकीय सौंदर्य की दृष्टि से यह गीत सुन्दर है। इसी प्रकार इसी नाटक के तृतीय अंक के प्रारम्भ का गीत महाराज मानसिंह के अहंकार के लिए तथा विधर्मी होने के कारण एक चेतावनी है—यह भी नेपथ्य गीत है—

क्यों तू भरि गुमान इतरात।
इत उत चमकि धूलि निज छवि पै रे खद्योत इठलात ॥[5]

१—जयनार सिंह की : देवकी नन्दन त्रिपाठी : १८८४ ई० पृ० ४१३।
२—वही, पंचम अंक : पृ० ८९।
३—जयनार सिंह की : देवकी नन्दन त्रिपाठी, १८८४ ई०, पृ० ३६ (अध्याय द्वि० अंक)
४—वही, द्वितीय अंक : तृतीय गर्भांक : पृ० २२।
५—वही, पृ० ३३।

मंगलोत्सव तथा बधाई के लिए संगीत का प्रयोग प्रायः सभी धार्मिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतेन्दु-कालीन नाटकों में संगीत का व्यापक स्थान रहा है। रस की दृष्टि से मुख्य निम्न रसों से संगीत का सम्बन्ध रहा है—
१—शृंगार रस, २—वीर रस, ३—करुण रस, ४—हास्य रस, ५—शान्त रस, ६—वात्सल्य रस, ७—अद्भुत रस।
मुख्यतः शृंगार तथा वीर रस से सम्बन्धित गीतों का आधिक्य है तथा संगीत का मुख्य क्षेत्र यही दो रस रहे हैं। छन्द की दृष्टि से इस काल के नाटकों में प्रधान रूप से 'पद-गीत' का प्रयोग किया गया है। पद-शैली की प्रमुखता भारतेन्दु में भी थी। तथा भारतेन्दु के समान ही लावनी, कजली, गजल, कीर्तन, झूलना, कहरवा, होली, ठुमरी आदि चालों के विविध गीत हैं।

इस प्रकार इस काल के नाटकों में संगीत एक आवश्यक तत्व बन गया था। यद्यपि कुछ नाटकों में संगीत बिल्कुल नहीं है किन्तु ऐसे नाटकों की संख्या बहुत कम है। संभवतः दर्शकगण भी संगीत के अभाव में पूर्ण आनन्द नहीं ले पाते थे। नाटकों में शास्त्रीय संगीत का महत्व बहुत बढ़ गया था। सस्ते गीतों की संख्या यद्यपि अधिक नहीं है फिर भी एक-एक नाटक में पच्चीस-तीस गीत होना साधारण बात हो गयी थी। कहीं-कहीं तो पचास पृष्ठ के नाटक में चौउवन गीत हैं। गीतों का उतना आधिक्य नाटकीय रोचकता व कथानक की स्पष्टता एवं विकास को बाधित करता है। शास्त्रीय संगीत, लोक-गीत तथा गीत की अन्य विविध प्रणालियों, संगीत के काव्य-पक्ष तथा संगीत के अन्य अंग-उपांग-ताल, वाद्य, नृत्य, लय आदि की दृष्टि से यह युग अवश्य धनी रहा है। इस प्रकार १९१० ई० से पूर्व ही हिन्दी नाटकों में संगीत की सशक्त पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी।

———

३ | जयशंकर प्रसाद के नाटकों में संगीत

हिन्दी-नाटक के संगीत-क्षेत्र में प्रसाद एक नयी कड़ी हैं, नया मोड़ हैं। प्रसाद का व्यक्तित्व साहित्य-क्षेत्र में इतना जागरुक तथा क्रांतिकारी बनकर अवतरित हुआ कि साहित्य के विविध अंगों के मानदंड, स्वरूप और विकास में विचित्र परिवर्तन हो गया। साहित्य केवल स्थूल भावों की सम्पत्ति न रहकर सूक्ष्मतम अन्तराल का स्वामी बनने लगा। वह क्रमशः बाह्यप्रकृति से अन्तः प्रकृति की ओर उन्मुख हुआ। सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय जागरण, भारतीय संस्कृति तथा भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों के द्वारा अपने विविध सिद्धान्तों और मूल्यों को जन-जन के सम्मुख रखने का अपूर्व साहस प्रसाद ने किया। एक ओर नाटकों के कथानक नव जागरण तथा युग चेतना का संदेश लेकर सामने आए दूसरी ओर उनके पात्र मानवीय संवेदना, भारतीय आदर्श एवं जीवन की यथार्थता लेकर रंगमंच पर उतरे। प्रगतिशील लेखक की दृष्टि पात्रों के अन्तस् की गहराई तक पहुँची। फलतः नाटक में संगीत की उपयोगिता का आदर्श भी बदल गया। भाव, कला, शिल्प सभी दृष्टि से संगीत परिष्कृत हो गया। भारतेन्दु कालीन नाटककारों में इतनी प्रतिभा नहीं थी। गीतों की भरभार से उनके नाटक बोझिल थे। गीतिकाव्य भी उच्च कोटि का न था। शास्त्रीय राग-रागनियों तथा गीत के अन्य प्रकारों की प्रतिष्ठा नाटकों में होने पर भी ब्रजभाषा के बन्धनों में जकड़े रहने के कारण एवं उर्दू का प्रभाव अधिक होने के कारण गीतिकाव्य और संगीत के प्रयोग में स्थूलता अधिक थी। प्रसाद ने अपने कवि, नाटककार, और संगीतज्ञ रूप के सामंजस्य द्वारा नाटक-संगीत को नयी दृष्टि, नया पथ और नयी मर्यादा प्रदान की।

प्रसाद के इस व्यक्तित्व में उनके गंभीर अध्ययन और चिन्तन, उनकी बौद्धिक शक्ति और हृदय की विशालता, उनकी भारतीय संस्कृति तथा आदर्शों के प्रति अटूट श्रद्धा, विविध बाह्य प्रभावों को ग्रहण कर उन्हें अपनाने एवं उनको व्यक्त करने की कला तथा साहस का विशेष हाथ है। उनका यह वैशिष्ट्य विभिन्न प्रभावों का परिणाम है। ये प्रभाव निम्नलिखित हैं—

१—संस्कृत नाट्यकला, २—भारतेन्दु तथा उनकी पीढ़ी की नाट्यकला, ३—पारसी नाट्यकला, ४—बंगला नाट्यकला, ५—पाश्चात्य नाट्यकला।[१]

१—हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और समीक्षा : श्रीरामगोपाल सिंह चौहान : प्र० सं०, १९५९ ई०, पृ० २८५।

संस्कृत, भारतेन्दु तथा पारसी शैली का प्रभाव उनके प्रारम्भिक नाटकों के संगीत पर स्पष्ट दृष्टिगत होता है। 'सज्जन' तथा 'कल्याणी' नाटकों में मंगलाचरण, नान्दीपाठ, भरतवाक्य तथा गीतों का बाहुल्य इसके प्रमाण हैं। प्रसाद जी ने अपने प्रथम नाटक 'सज्जन' में भारतेन्दु जी की शैली के अनुसार गीतों की रचना की।[1] उनके 'विशाल' नाटक का संगीत पारसी-नाटकों के संगीत के ही समान साधारण कोटि का है। गीतों की अधिकता तथा प्रत्येक पात्र का गायन पर भी वहीं का स्पष्ट प्रभाव है। 'कामना' के संगीत पर भी पारसी-नाटक-संगीत का बहुत प्रभाव है। गीत चलताऊ और श्रृंगारिक है। गायन की प्रणाली भी एक स्थल पर रंगमंचीय नाटकों के ही समान है जहां एक पंक्ति एक सखी गाती है और दूसरी पंक्ति दूसरी सखी।[2] सखियों का नायक नायिका को घेरकर गाना भी पारसी नाट्य शैली का प्रभाव बताता है।[3] किन्तु गीतों की इस स्थूल प्रणाली और अटपटेपन से प्रसाद सन्तुष्ट न हो सके। उनकी व्यापक दृष्टि ने बंगला नाट्य साहित्य तथा पाश्चात्य नाट्य-कला को परखा। उस समय बंगला के रंगमंच पर गिरीशचन्द्र घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि के गीति-नाट्य अभिनीत हो रहे थे। गीतों के नव-विधान, तथा अन्त:संघर्ष एवं मानसिक स्थिति से गीतों के गहरे सम्बन्ध की अन्तदृष्टि उन्हें प्राप्त हुई। यही कारण है कि उनके प्रारम्भिक नाटकों के संगीत के प्रयोजन में जो स्थूलता है, वह आगे आने वाले नाटकों में नहीं प्राप्त होती है।

इन विशेषताओं की पूर्णत: परख करने के लिए प्रसाद के सम्पूर्ण नाटकों में संगीत के प्रयोग पर दृष्टि डालनी होगी। राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जन्मेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी, प्रसाद के नाटक हैं। प्रथम तो प्रत्येक नाटक के अन्तर्गत संगीत के प्रयोग की स्थिति का विवेचन करना आवश्यक है।

प्रसाद ने अपने नाटकों में संगीत के तीनों अंग—गीत, नृत्य, वाद्य—का प्रयोग किया है किन्तु चूंकि पूर्वकालीन तथा प्रचलित परम्परा के समान उनके नाटकों में भी गीत-पक्ष की ही प्रधानता एवं बहुलता पायी जाती है अत: प्रथमत: उनके नाटकों के गीत-पक्ष पर ही विचार करना समीचीन होगा।

वस्तुत: गीत प्रसाद के प्रत्येक नाटक की अमूल्य निधि हैं। उनके सभी नाटकों में गीतों का प्रयोग हुआ है। 'राज्यश्री' नाटक में (१+१+३+२) सात गीत हैं। इन सात गीतों में चार गीतों की नायिका सुरमा नाम्नी मालिनी है। एक गीत नायिका राज्यश्री गाती है। एक नेपथ्य-गान है तथा अन्तिम गीत भरतवाक्य के सदृश समवेत

१—हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डा० दशरथ ओझा : प्र० सं०, पृ० ३९६।

२—कामना : प्रसाद ? चतुर्थ सं०, तृतीय अंक : पृ० ७४।

३—वहीं, द्वितीय अंक, पृ० ६४।

स्वर में गाया जाता है। सभी गीत संक्षिप्त, सरल तथा समयानुरूप हैं। प्रथम गती सुरमा देवगुप्त के कहने पर गाती है—

आशा विफल हुई है मेरी
प्यास बुझी न कभी मन की रे।[1]

दूसरा गीत सुरमा देवगुप्त को मदिरा-पान कराते समय अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति की संभावना के अभिमान में फूली हुई, देवगुप्त के कहने पर ही गाती है—

सम्हाले कोई कैसे प्यार।[2]

तीसरा गीत सुरमा तृतीय अंक में अपने पुराने प्रिय शांतिदेव की इच्छा पर उपालम्भ देती हुई अपने मन की व्यथा को व्यक्त करती हुई गाती है—

जब प्रीति नहीं मन में कुछ भी
तब क्यों फिर बात बनाने लगे।[3]

चौथा गीत सुरमा अवधूतनी बनकर गाती है—'अलख अरूप—।[4] पांचवा गीत नेपथ्य से होता है जब कि दस्यु धन के लोभ में राज्यश्री को बेचने का परामर्श करते हैं—

अब भी चेत ले तू नीच।[5]

छठा गीत प्रार्थना के रूप में है जो सती होने से रोके जाने पर राज्यश्री गाती है—

जय-जयति करुणासिन्धु।
जय दीन जन के बन्धु।।[6]

अंतिम गीत हर्ष के मुकुट तथा राजदण्ड ग्रहण करने पर समवेत स्वर में गाया जाता है—

करुणा-कादम्बिनि बरसे।[7]

'विशाख' में कुल २५ गीत हैं जिनमें से केवल १५ गीतों की स्वरलिपि दी गयी है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रसाद इन्हीं १५ गीतों को गेय रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत करना चाहते थे। प्रथम अंक में चन्द्रलेखा तथा इरावती का युगल-गान है— दोनों वृक्ष के नीचे विश्राम करती हुई गाती हैं—

सखी री! सुख किसको हैं कहते?[8]

अन्य पात्र—महंत, सुश्रवा, नाग, महापिंगल, आदि द्वारा कुछ गीत गाए जाते हैं। प्रथम अंक में महंत का गाते हुए प्रवेश कराया गया है। गीत में जीवन में संतोष के महत्व तथा तृष्णा के विरोध पर बल दिया गया है—जब कि महंत स्वयं लोभी है—

१—राज्यश्री : प्रथम अंक : पृ० १८-१९।
२—वही, द्वितीय अंक : पृ० ४२-४३।
३—राज्यश्री : तृतीय अंक : पृ० ६०।
४—वही, चतुर्थ अंक : पृ० ६८।
५—वही, तृतीय अंक : पृ० ५५।
६—वही, पृ० ६३।
७—वही, चतुर्थ अंक : पृ० ७५।
८—विशाख : सप्तम संस्करण, सं० २०१३ वि०, प्र० अंक, पृ० १३।

जीवन भर आनन्द मनावे
खाये पीये जो कुछ पावे ॥[1]

इसी अंक में सुश्रवा नाग भी गाते हुए प्रवेश करता है—

उठती है लहर हरी-हरी—
पतवार पुरानी, पवन प्रलय का, कैसा किए पछेड़ा है।[2]

पुन: इसी अंक में महापिंगल भीषण स्वर में विशाख को गाना सुनाता है—

मचा है जग भर में अंधेर।
उल्टा-सीधा जो कुछ समझा वही हो गया ढेर ॥[3]

गीत पात्र की हास्यपूर्ण प्रकृति के अनुकूल है। द्वितीय अंक में सन्ध्या समय सन्यासी एकाकी बैठा गाता है—

मान लूं क्यों न उसे भगवान् ?[4]

चन्द्रलेखा दो गीत गाती है। एक गीत उसकी विशाख के प्रति प्रथम प्रेमानुभूति का अभिव्यंजक है जो वह संघाराम में वन्दिनी रूप में गाती है—

देखी नयनों ने एक झलक, वह छवि की छटा निराली थी।[5]

दूसरा गीत भिक्षु के चक्र में फंसी त्रस्त चन्द्रलेखा अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हुए गाती है—

कर रहे हो नाथ, तुम जब विश्व-मंगल-कामना,
क्यों रहें चिंतित हमीं क्यों दुख का हो सामना ?[6]

प्रार्थना-रूप में अन्य गीत चन्द्रलेखा की बहिन इरावती चन्द्रलेखा के रूप के कारण फैले उपद्रव तथा प्रतिहिंसा के आतंक को देखकर गाती है—

दीन दुखी न रहे कोई
सुखी हों सब लोग।[7]

एक गीत महापिंगल तथा तरला का युगल-गान है जिसका उद्देश्य केवल हास्य-सृष्टि तथा मनोरञ्जन है।[8] दो गीत सखियों के समूह-गान के रूप में हैं। द्वितीय अंक में विशाख और चन्द्रलेखा का प्रेमालाप देखकर सखियां दोनों को घेरकर गाती हैं तथा नाचती हैं—

हिये में चुभ गई,
हां, ऐसी मधुर मुसुकान।

१—विशाख : सप्तम संस्करण, सं० २०१३, प्र० अंक, पृ० १६-१७।
२—वही, पृ० १८।
३—वही, पृ० २३-२४।
४—वही, पृ० ६३।
५—वही, प्रथम अंक, पृ० ३९।
६—वही, द्वि० अंक, पृ० ६६।
७—विशाख : सप्तम संस्करण : सं० २०१३ वि० : सं० अंक : पृ० ८८।
८—वही, द्वि० अंक, पृ० ४९।

लूट लिया मन, ऐसा चलाया नैन का तीर-कमान ।।[1]

सखियों द्वारा गाया गया दूसरा समूह गीत पात्रगत विशेषता से युक्त सप्रसंग तथा संगीत-तत्व से पूर्ण है। नाव पर विलासी-अन्यायी नरदेव की आकुल रानी के साथ आयी हुई सखियां डाड़ें चलाती हुई गाती हैं—

नदी नीर से भरी।
संचित जल ले शैल का,
हुई नदी में बाढ़।
मानस में एकत्र था।
इधर प्रणय भी गाढ़ ।।[2]

तीन गीत नर्तकियों द्वारा राजसभा तथा राजकीय उद्यान में राजा के मनोरञ्जनार्थ गाए जाते हैं जिनमें से दो गीत तो साधारण हैं किन्तु एक गीत प्रसाद के कवित्व का परिचायक है—

आज मधु पी ले, यौवन वसन्त खिला।[3]

एक गीत विहार के समीप एक रंगीला साधु गाते हुए आता है।[4] उपर्युक्त १५ गीतों के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने पारसी नाटक शैली तथा भारतेन्दु शैली पर अधिक गीत लिखे हैं। केवल दो गीत उनके छायावादी कवि-रूप तथा गीति काव्य-शैली पर लिखे गए हैं—

१—नदी नीर से भरी
२—आज मधु पीले यौवन

अन्य १३ गीत संदर्भ, नाटकीयत्व, गेयत्व तथा साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से प्राचीन ढंग की शैली पर लिखे गए साधारण कोटि के गीत हैं। नाटक के अधिकतर पात्र गाते हैं। युगल-गान, समूह-गान, नृत्य-गान तीनों का प्रयोग किया गया है।

'अजातशत्रु' में १२ गीत हैं। दो गीत पुरुषों द्वारा गाए जाते हैं। एक तो भिक्षुगण सामूहिक स्वर में गाते हुए प्रवेश करते हैं—

'न धरो कहकर इसको अपना'।
यह दो दिन का है सपना ।।[5]

गीत भिक्षुओं की शान्त प्रकृति के अनुरूप है। दूसरा गीत नेपथ्य से गाया जाता है।[6] शेष दस गीतों में से सात की गायिका मागन्धी है। उदयन की रानी होने पर भी

१—विशाख : सप्तम संस्करण : सं० २०१३ वि०, प्रथम अंक, पृ० ४५।
२—वही, तृ० अंक, पृ० ६९।
३—वही, प्रथम अंक, पृ० २६।
४—वही, पृ० ३१।
५—अजातशत्रु : १६ वां सं० २०१५ वि०, प्रथम अंक, पृ० ३९।
६—वही, तृ० अंक, पृ० १३८।

३—वाद्य और नृत्य के साथ गाने की कला या विज्ञान।[1]

संगीत के ये तीनों अंग अभिन्न माने गए हैं। तीनों की अभिन्नता होने पर भी 'संगीत' नाम ही दिया गया है। वस्तुतः संगीत का सम्बन्ध नाभि एवं कंठ से होने के कारण वह अपने आप में स्वतंत्र और स्वाभाव सिद्ध है—उसे किसी का आश्रय नहीं चाहिए। जब कि वाद्य और नर्तन दोनों यंत्र-संगीत तथा वाद्य-यंत्रों पर आधारित रहते हैं। उनकी इस आधीनता के कारण ही उन्हें मध्यम स्थान दिया गया है और गीत को प्रथम एवं प्रधान स्थान। इसी महत्व के कारण तीनों को ही संगीत कहा गया है—

गानस्या त्र प्रधानत्वाज्ञच्छंगीतमितीरितम्।[2]

सुदामाप्रसाद दुबे का कथन है—

'गीत भावाभिव्यक्ति का आंगिक रूप है, वाद्य गीत का पूरक क्षेत्र है और नृत्य भावोन्माद का गठित स्वरूप है। इस प्रकार गीत में वाद्य और नृत्य के मूल तत्व सन्निहित रहते हैं तथा उसकी प्रधानता स्पष्ट हो जाती है।'[3]

श्री भातखंडे भी इसी कथन के समर्थक हैं—

'गीत वाद्य व नृत्य इन तीनों कलाओं का समावेश 'संगीत' इस शब्द में होता है। वस्तुतः यह तीनों कला स्वतंत्र हैं किन्तु गीत प्रधान होने के कारण तीनों का समावेश 'संगीत' में किया जाता है।'[4]

ग्रन्थों में संगीत के दो भेदों का उल्लेख मिलता है—१. मार्ग, २. देशी। जो संगीत प्राचीन संस्कृत नियमों से वद्ध था, वेदों की सामग्री के आधार पर जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा हुयी तथा तदुपरान्त भरतादि द्वारा जो जन-रुचि का कारण बना, और जिसका पालन धार्मिक नियमानुसार किया जाता था उसे मार्ग संगीत कहा गया।[5] इसके विपरीत जो संगीत जन-रुचि के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकता था, जिसका प्रचलन देश के विविध भागों में था एवं जो जन-मन-रंजन का एकमात्र साधन था, नियमों से वाध्य नहीं था वह देशी संगीत कहलाता था।

१—The art or science of singing with music and dancing—Sanskrit English Dictionary by Sir M. Monier Williams, 1956 P. 1129.

२—संगीत पारिजात, अहोवल, पृ० ६।

३—भातखंडे संगीत शास्त्र : विष्णुनारायण भातखंडे, प्रथम भाग, प्र० सं० पृ० ३।

४—हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति, क्रमिक पुस्तक माला, दूसरी पुस्तक : पं० विष्णुनारायण भातखंडे, संवत् २०१०, पृ० ९।

५—'The origin of Marga is described by our ancient writers as the music that was composed by Brahma and others collecting material from the Vedas which later was popularised among the people by Bharat and other savants, giving it a proper shape and form'.

—The Story of Indian Music by O. Cozvani 1957 Page 19.

गौतम जैसे भिक्षु द्वारा अपने रूप के अपमान तथा उसकी अनासक्ति तथा पद्मावती के प्रति सपत्नी भाव से प्रतिशोध-ज्वाला से दग्ध मागन्धी गाती है।

अली ने क्यों भला अवहेला की।
चम्पककली खिली सौरभ से उषा मनोहर वेला की।
'वरस दिवस, मन वहलाने को मलयज से फिर खेला की।
अली ने क्यों भला अवहेला की ॥'[१]

दूसरा गीत इसी अंक में राजा उदयन को अपने आकर्षण-जाल में फंसाने तथा अपने प्रतिशोध कार्य को आगे बढ़ाने की आकांक्षा से मदिरा-पान कराती हुई मागन्धी गाती है।[२] तीसरा गीत वह वार-विलासिनी श्यामा के रूप में, डाकू वेषधारी कौशलराज विरुद्धक के प्रति प्रणय-निवेदन करती गाती है।

वहुत छिपाया उफन पड़ा अव
संभालने का समय नहीं है।[३]

चौथा गीत श्यामा, गौतम के प्रतिद्विन्द्वी देवदत्त के शिष्य समुद्रदत्त को रिझाने तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नृत्य के साथ गाती है—

चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दनकानन का।
नन्दनकानन का, रसीला नन्दन कानन का ॥[३]

पांचवां गीत श्याम श्रावस्ती के उपवन में विरुद्धक को मद्यपान कराते हुए गाती है। उसके जीवन की अतुल प्यास का चित्र इस गीत में परिचय के रूप में है।[४] छठा गीत वह विरुद्धक द्वारा व्यक्त होने के उपरान्त देवी-स्वरूपा मल्लिका के व्यक्तितत्व से प्रभावित होकर अपने आपको धिक्कारती हुई गाती है।[५] अपने जीवन की उत्थान-कड़ी में आम्रपाली मागन्धी अपने वीते हुए दिनों की संकोचदायिनी स्मृति करते हुए गाती है।[६] मागन्धी के इन सात गीतों के अतिरिक्त एक गीत राजा उदयन की रानी पद्मावती गाती हैं। विकल पद्मावती वीणा बजाने में असमर्थ होकर अकेले अपने प्रकोष्ठ में गाने लगती है—

मीड़, मत खिंचे वीन के तार ॥[७]

अन्य गीत वाजिरा, कोशल के राजमहल के समीपस्थ वन्दीगृह के पास गाती है जिसमें वन्दी अजातशत्रु के प्रति उसके सहज आकर्षण तथा कोमल अनुभूति की व्यंजना दृष्टिगत होती है—

१—अजातशत्रु : १६ वां सं०, सं० २०१५ वि० प्रथम अंक, पृ० ४२।
२—वही, प्रथम अंक, पृ० ४५।
३—वही, द्वि० अंक, पृ० ७८।
४—वही, पृ० ९५।
५—वही, तृ० अंक, पृ० ११९।
६—वही, पृ० १३३-३४।
७—वही, प्रथम अंक, पृ० ५८।

घने प्रेम-तरु तले
बैठ छांह लो भव-आतप से तापित और जले ।[1]

तीसरा गीत देवसेना, महादेवी की समाधि के पास अकेली बैठी अपने आप से कहती हुई गाती है—

शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश,
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश ।[2]

चौथा गीत वह कनिष्क स्तूप के एक भाग में भीख मांगती हुई, नागरिकों के कहने पर गाती है—

देश की दुर्दशा निहारोगे,
डूबते को कभी उबारोगे, ।[3]

देवसेना का अन्तिम गीत उसके जीवन की समस्त आशाओं, निराशाओं, आकाक्षाओं तथा वेदनाओं का और उसके साथ ही नाटक के समस्त वातावरण का मुख्य केन्द्र है-

आह ! वेदना मिली विदाई ![4]

एक गीत विजया-महत्वाकांक्षिणी, प्रतिशोध की ज्वाला से दग्ध, तथा उच्छृंखल वीर स्कन्दगुप्त को अपने बन्धन में बांधने की प्यासी-अपने हृदय के विकल मनोरथ को व्यक्त करती हुई गाती है—

उमड़कर चली भिगोने आज
तुम्हारा निश्चल अंचल छोर ।[5]

इसके अतिरिक्त दो नेपथ्य गीत हैं-एक गीत, देवसेना की सखी गाती है—

'मांझी साहस है खे लोगे?'[6]

यह गीत देवसेना के हृदय में उमड़ती बरसाती नदी के आवेग का परिचय देता है—दो गीत नर्तकियों द्वारा गाए जाते हैं । पुरुषों में केवल मातृगुप्त एक गीत गाता है जो राष्ट्रीय भावों का प्रतीक है ।[7] यह गीत अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है । एक अन्य गीत मुद्गल और मातृगुप्त समवेत स्वर में प्रार्थना के रूप में गाते हैं ।[8]

'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी गीतों की बहुलता है । सम्पूर्ण नाटक में कुल १३ गीत हैं। ग्यारह गीतों की गायिकायें स्त्रियां हैं । एक नेपथ्य गीत है तथा एक गीत राक्षस नामक पुरुष पात्र गाता है । स्त्रियों के ११ गीतों में ३ गीतों की गायिका सुवासिनी

१—वही, द्वि० अंक, पृ० ५४ ।
२—वही, पं० अंक, पृ० १४९ ।
३—वही, पृ० १५८ ।
४—वही, पृ० १६५-६६ ।
५—वही, पृ० अंक, पृ० ८८ ।
६—वही, पृ० १०४ ।
७—स्कन्दगुप्त : ८ वां संस्करण, सं० २००२ वि, पंचम अंक, पृ० १६२-७३ ।
८—वही, प्र० अंक, पृ० ३९ ।

हैं जिनमें से एक वह प्रथम अंक में ही गाती है । मगध-सम्राट के विलास-कानन में विलासी युवकों के मनोरंजनार्थ उसका यह गीत भावपूर्ण है—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?[१]

दूसरा गीत मगध में नन्द की रंगशाला में वह नन्द को मद-पान कराती हुई गाती है। यह उन्मादक गीत है ।[२] तीसरा गीत ग्रीक-शिविर में कार्नेलिया की इच्छा पर रात्रि के के मधुर वातावरण में अपनी मूक वेदनाओं तथा स्वप्नों का संकेत करती हुई गाती है ।[३] अलका के तीनों गीत तीन प्रकार की भावनाओं तथा परिस्थितियों के प्रतीक हैं। प्रथम गीत में सिंहरण के प्रति उसका मूक प्रेम, उसके प्रति शुभ-कामनायें हैं,[४] द्वितीय में उसका उद्देश्य अपनी कार्यसिद्धि के लिए गीत द्वारा पर्वतेश्वर को वहकाना है ।[५] उसका तृतीय गीत राष्ट्रीयता की अमर कड़ी है—उसमें पूरे नाटक का स्थायित्व है—

हिमाद्रि तुंगशृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—[६]

कार्नेलिया केवल एक ही गीत गाती है किन्तु वह भारतीय संगीत, राष्ट्रीय प्रेम-जागरण तथा एक स्निग्ध, उदार, कोमल हृदया नारी के भावों के दर्पण के समान है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।[७]

कल्याणी का एक ही गीत उसके अन्तर्द्वन्द्व, चन्द्रगुप्त के प्रति प्रणय-भाव तथा नन्द-वंश के विनाश के दृश्य से उत्पन्न उद्विग्नता का प्रतीक है—

'सुधा-सीकर से नहला दो ।[८]

मालविका के तीनों गीत शृंगार प्रेम तथा सौन्दर्य सम्बन्धी हैं । उसका प्रथमगीत पुराणों के लोलुप मधुह-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करता है—

'मधुप कब एक कली का है ।'[९]

द्वितीय गीत में चन्द्रगुप्त के प्रति कोमल अनुभूतियों का संकेत है।[१०] तृतीय गीत में चन्द्रगुप्त जैसे प्रेमी के लिए हंसते-हंसते मर मिटनेवाली मालविका अपने जीवन की स्मृतियों तथा अन्तर के अनुराग को सुलाती हुई चन्द्रगुप्त की शय्या पर बैठकर गाती है ।[११] पुरुषों में केवल राक्षस एक स्थान पर अभिनय सहित गाता है ।[१२]

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद का परिष्कृततम नाटक है। इसमें कुल चार गीत हैं । दो गीत मन्दाकिनी गाती है, एक गीत कोमा गाती है जिसमें उसके प्रणय-व्यथित,

१—चन्द्रगुप्त : पृ० ६३ ।
२—वही, तृतीय अंक, पृ० १५५ ।
३—वही, चतुर्थ अंक, पृ० २०७ ।
४—वही, द्वितीय अंक, पृ० १२३ ।
५—वही, पृ० १२८-२९ ।
६—वही, च० अंक, पृ० १९४ ।
७—वही, द्वि० अंक, पृ० १०० ।
८—चन्द्रगुप्त : चतुर्थ अंक : पृ० १७५ ।
९—वही, पृ० १८५ ।
१०—वही, पृ० ४८५ ।
११—वही, पृ० १८६ ।
१२—वही, पृ० ६४ ।

पिपासित हृदय का कोमल उच्छ्वास है तथा एक गीत नर्तकियों द्वारा गाया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रसाद के नाटकों में भी पूर्व युगों के समान गीत-पक्ष की प्रधानता और बहुलता है। अधिकतर नाटकों में गीत-संख्या अधिक है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि प्रसाद प्रचलित परम्परा से मुक्त नहीं हो सके हैं। भारतेन्दु-युगीन नाटकों तथा पारसी कम्पनियों के नाटकों में गीतों के अतिरेक का प्रभाव उन पर भी पड़ा हैं। दूसरा कारण उनके कवि हृदय की भावुकता तथा संगीत के प्रति उनकी रुचि है जिसने उन्हें गीत-रचना के लिए विवश कर दिया। गीत-बाहुल्य के इस दोष को प्रसाद अपने अन्तिम नाटक से ही दूर कर पाए हैं जिससे यह संकेत अवश्य मिलता है कि उनके मस्तिष्क में भी गीत-संख्या के आधिक्य-दोष का प्रश्न उठ चुका था।

प्रसाद के नाटकों में गीतों के इस विकास क्रम को देखने के उपरान्त यह भी ज्ञात होता है कि उनके नाटक-गीतों में दो प्रकार के गीतों का अत्यधिक महत्व है—

१—नृत्य-गीत, २—नेपथ्य-गीत।

नाटकीय सौन्दर्य एवं संगीत की दृष्टि से ये दोनों प्रकार के गीत विशेष उल्लेखनीय हैं अतएव इनका विवेचन पृथक्-पृथक् किया जायगा।

नृत्य गीत :

नृत्य-गीत प्रसाद के नाटकों का आकर्षण है। प्राय: सभी स्थलों पर नृत्य के साथ उन्होंने गीत का प्रयोग किया है जो वातावरण को परिस्थिति के अनुरूप और अधिक प्रभावशाली बना देता है। नृत्य-गीत उनके सभी नाटकों में उपलब्ध नहीं होते हैं। केवल 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में नृत्य-गीतों का प्रयोग हुआ है। कुल मिलाकर बारह नृत्य-गीत प्रसाद ने लिखे हैं। चार नृत्य-गीत केवल 'विशाख' नाटक में ही हैं। इसके अतिरिक्त दो 'अजातशत्रु' में, दो 'कामना' में, दो 'स्कन्दगुप्त' में तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' एवं 'ध्रुवस्वामिनी' में एक-एक नृत्य-गीत है। इस प्रकार विकास-क्रम की दृष्टि से धीरे-धीरे नृत्य-गीतों की संख्या कम होती गयी है।

मुख्यत: केवल तीन प्रकार के पात्र इन नृत्य-गीतों के गायक हैं—सखियां, नर्तकी और पुरुष पात्र। अधिकतर नृत्य-गीत सखियां और नर्तकियों द्वारा ही गाए गए हैं। पुरुष पात्र में केवल 'कामना' नाटक में विलास एक नृत्य-गीत गाता है।[1] सखियों और नर्तकियों में से भी अधिक नृत्य-गीतों की गायिकायें नर्तकियां हैं। सखियां तो 'विशाख' नाटक में विशाख और चन्द्रलेखा के प्रणय व्यापार को लक्ष्य कर दोनों को घेर कर नाचती हुई गाती हैं।[2] सखियों द्वारा गाया गया अन्य इसी प्रकार का नृत्य-

१—कामना : प्र० अंक : पृ० ३२।

२—विशाख : द्वि० अंक : पृ० ४५।

गीत 'कामना'[1] और 'जनमेजय का नागयज्ञ'[2] नाटक में सखियों द्वारा गाया गया है।

इन नृत्य-गीतों के स्थान और अवसर सामान्य तथा परम्परागत हैं। सखियाँ यदि नायिका को प्रसन्न करने के हेतु गाती हैं तो नर्तकियाँ दरबार में या विलास-भवन अथवा शिविर में राजा के मनोरंजनार्थ गाती हैं। यही कारण है कि उनके अधिकतर नृत्य-गीतों का विषय श्रृंगार है। 'पी ले प्रेम का प्याला' (कामना), 'आज मधु पी ले' (विशाख), 'प्यारे, निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे' (अजातशत्रु) इत्यादि गीत मोहक आवरण डालने वाले हैं। केवल 'ध्रुवस्वामिनी' का नृत्य-गीत प्रकृति-चित्रण से सम्बन्धित है[3] जो उनके नृत्य-गीत का नवीन सौन्दर्य है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या इन नृत्य-गीतों का उद्देश्य पूर्वपरम्परानुसार केवल मनोरंजन करना तथा रंगमंच के आकर्षण की वृद्धि करना ही है ? वस्तुत: प्रसाद के नृत्य-गीत केवल एक पक्षीय उद्देश्य को लेकर नहीं लिखे गये हैं वरन् उनके नृत्य-गीतों की रचना की निश्चित योजना पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अन्य उद्देश्य भी हैं जो नाटकीय सौन्दर्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यथा—

१—कथानक के अन्तर्गत वातावरण की सृष्टि करना।

२—नृत्य-गीत की इच्छा प्रकट करने वाले पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालना तथा चरित्र-विकास में सहायक होना।

३—मुख्य-पात्र के हृदयस्थित प्रणयांकुर को और अधिक स्थायित्व प्रदान करना।

४—विविध उद्देश्यों की एक साथ सिद्धि करना।

इसमें सन्देह नहीं कि इन चारों लक्ष्यों की पूर्ति में प्रसाद के नृत्य-गीत अपूर्व सहयोग देते हैं। सभी नृत्य-गीत दृश्यानुकूल वातावरण की सृष्टि करने में सहायक हैं। सखियों के नृत्य-गीत जहाँ नायक-नायिका के प्रणय से सम्बन्धित मोहकता की सृष्टि करते हैं वहां दरबार या विलास-भवन में राजाओं की विलासिता की तुष्टि के लिए भी तदनुकूल वातावरण का निर्माण करते हैं। दूसरी ओर 'स्कन्दगुप्त' का 'सुना न ऐसी पुकार कोकिल' नृत्य-गीत प्रथम अंक में गंभीर उदासी, करुणा और मौनता की सृष्टि करता है।[4] इसी प्रकार 'विशाख' में महाराज नरदेव की राजसभा में नर्तकी का नृत्य व गीत—'कुंज में वंशी बजती है' तथा 'आज मधु पी ले यौवन वसन्त खिला'[5] नृत्य का आदेश देने वाले नरदेव की कामुकता तथा विलासमय चरित्र पर प्रकाश

१—कामना : द्वि० अंक : पृ० ६४।

२—जनमेजय का नागयज्ञ : द्वि० अंक : पृ० ५८।

३—देखिये तृतीय अध्याय, पृ० १६२।

४—देखिए तृतीय अध्याय ।

५—विशाख : प्रथम अंक : पृ० २६।

डालता है। दूसरी ओर विशाख और चन्द्रलेखा को घेर कर सखियां जब गाती हैं—

हिये में चुभ गई,
हां, ऐसी मधुर मुस्कान।
× × ×
'मिले दो हृदय, अमल अछूते, दो शरीर एक प्रान'[1]

यह गीत एक ओर तो नायक-नायिका के हृदयस्थित प्रणय को व्यक्त करता है दूसरी ओर उनके प्रणय-भाव को और अधिक उत्तेजित कर उनके प्रेमांकुर को अधिक शक्ति भी प्रदान करता है।

उनके कुछ नृत्य-गीत किसी एक उद्देश्य से ही प्रतिष्ठित नहीं हैं। वे मनोरंजन भी करते हैं, वातावरण को मादक और उत्तेजक भी बनाते हैं, आगामी घटना के अनुकूल पृष्ठभूमि भी तैयार करते हैं और पात्र विशेप का चरित्र-विकास भी। उदाहरणार्थ 'अजातशत्रु' में जब उदयन के हृदय-पट से मागन्धी का चित्र विस्मृत सा हो रहा था तभी मागन्धी उन्हें बुलाकर उनका हाथ पकड़ कर बातों से उन्हें मोहित करना चाहती है, उसी क्षण नर्तकियां गाते हुए रंगमंच पर प्रवेश करती हैं—

प्यारे, निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे।
वरसो सदा दया-जल शीतल,
सिंचे हमारा हृदय-मरुस्थल,
अरे कंटीले फूल इसी में फूलना रे।[2]

यह मोहक गीत जहां उदयन का मनोरंजन करता है, दर्शकों को मुग्ध करता हैं, रंगमंच की शोभा बढ़ाता है, वहाँ उसके साथ ही उदयन के हृदय में पुनः मागन्धी का प्रेम जागृत करने में सहायक होता है। साथ ही मागन्धी को भी अवसर मिल जाता है कि वह राजा उदयन को मुग्ध कर व पद्मावती के विरुद्ध पड्यंत्र कर सके तथा स्वयं के स्वामिनी का पद ग्रहण कर सके। इसी प्रकार का समयानुकूल तथा चरित्र-विकास में सहायक गीत 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भी है। यह नृत्य-गीत भटार्क के शिविर में नर्तकी द्वारा गाया गया है। भटार्क अपने स्वार्थ तथा अहंकार में डूबा हुआ है। ऐसे अवसर पर नर्तकी गाती है—

'भाव-निधि में लहरियां उठतीं तभी,
भूल कर भी जब स्मरण होता कभी॥'[3]

यह गीत कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। एक ओर जहाँ यह वातावरण को उत्तेजित बनाता है, दूसरी ओर भटार्क की आमोदमयी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है, एक ओर जहां यह गीत भटार्क के चारित्रिक दोपों, अभावों एवं दीनता को व्यंजित करता है,

---

१—विशाख : द्वि० अंक : पृ० ४५।
२—अजातशत्रु : च० अंक : पृ० ४३।
३—स्कन्दगुप्त : च० अंक : पृ० १२०।

वहां दूसरी ओर भटार्क की सुप्त चेतना को जागृत करने तथा आगामी परिस्थिति की आशंका से सचेत करने का कार्य भी करता है। एक ही नृत्य-गीत में इतने उद्देश्यों की योजना तथा संगुफन प्रसाद के कवि एवं नाटककार के स्वरूप का ही चमत्कार है।

'अजातशत्रु' में राजा उदयन की रानी मागन्धी, श्यामा के रूप में समुद्रदत्त के सम्मुख नृत्य-गान गाती है। इस नृत्य-गान का मुख्योद्दश्य केवल समुद्रदत्त का मनोरंजन करना ही नहीं है वरन् यह अपने स्वार्थ, अपने कार्य तथा अपनी महत्वकांक्षा की सिद्धि प्राप्त करने का माध्यम भी है। श्यामा का लक्ष्य समुद्रदत्त की हत्या करना और अपने प्रिय शैलेन्द्र के मार्ग को निष्कंटक करना है अतएव समुद्रदत्त को आर्कपित करने तथा प्रेम एवं विश्वास की डोरी में बांधने के हेतु ही वह नृत्य करती है और गाती है—

चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दनकानन का।[1]

अब तक प्राय: नृत्य-गीतों का काव्य-पक्ष उत्तम नहीं होता था। वे चलते हुए, हलके-फुलके साधारण कोटि के होते थे। भारतेन्दु-काल तक नृत्य-गीतों में उच्च कोटि की गीतिकाव्यात्मकता का अभाव था। प्रसाद में अपने छायावादी कौशल, सूक्ष्म कल्पना-वैभव तथा लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा नृत्य-गीतों में नवीन प्राणों का संचार किया। उन्हें साधारण स्तर से हटाकर उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके सभी नृत्य-गीत उत्तम गीतिकाव्य हैं। वस्तुत: काल-क्रमानुसार उनका कला-पक्ष विकसित होता गया है। प्रारम्भ तथा अन्त के नाटकों के नृत्य-गीतों में पर्याप्त अन्तर है। उदाहरणार्थ उनके प्रारम्भिक नाटक 'विशाख' के नृत्य-गीत पूर्व-प्रचलित शैली के ही हैं। उनकी लय, शब्द-योजना, भाव-सौंदर्य साधारण कोटि के हैं। 'विशाख' में सखियाँ जब नृत्य करती हुई गातीं हैं—

हिये में चुभ गई
हाँ, ऐसी मधुर मुस्कान।

तो रंगमंचीय तथा भारतेन्दुकालीन नृत्यगीत का स्थूल स्वरूप ही सामने आता है। किन्तु 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', और 'ध्रुवस्वामिनी' में नर्तकियों के नृत्य-गीत भाव, कला, नृत्य सभी दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। उदाहरणार्थ निम्न-गीत में नृत्यानुकूल सौंदर्य है—

चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दनकानन का।
नन्दनकानन का रसीला नन्दनकानन का॥
फूलों पर आनन्द-भैरवी गाते मधुरकर वृन्द।
बिखर रही है किस यौवन की किरण, खिला अरविन्द-
ध्यान है किसके आनन का॥
नन्दकानन का, रसीला नन्दनकानन का॥

१—अजातशत्रु : द्वितीय अंक : पृ० ७८।

इस गीत में नृत्य के अनुकूल द्रुतलय है तथा सम पर आने की विशेष ध्वनि है। 'नंदनं-कानन का........' दोहराने से गीत में अधिक लय का संचार हुआ है। इसके अति-रिक्त 'मन्थर-गति', 'मधुकर वृन्द का फूलों पर गाना, यौवन की किरण बिखरना, अरविन्द का खिलना इत्यादि नृत्य के हाव-भाव तथा विशिष्ट मुद्राओं के महत्वपूर्ण अंग हैं। दूसरी ओर छायावादी कला-कौशल तथा कल्पना वैभव से पूर्ण निम्नलिखित नृत्य-गीत 'स्कन्दगुप्त' का है—

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन तार कोकिल
करुण रागनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल।[1]

यह गीत प्राचीन परम्पराओं से सर्वथा मुक्त है। 'कोकिल' के माध्यम से लक्षणा के द्वारा कवि प्रसाद ने यहां अपने श्रेष्ठ काव्यत्व का भी प्रयोग किया है तथा 'न छेड़ना', 'करुण रागनी का तड़प उठना', 'मघा की फुहार', 'वसन्ती वहार' आदि शब्द-योजना नृत्यानुकूल भावों-मुद्राओं को जन्म देती है। इसी प्रकार 'विशाख' में 'आज मधु पीले यौवन वसन्त खिला' तथा 'अजातशत्रु' में 'भाव निधि में लहरियां उठतीं तभी' आदि नर्तकियों के नृत्य-गीत प्रसाद की छायावादी कला तथा मुक्तक काव्य की चमक का अभास देते हैं।

अतएव उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद ने प्राय: नाटकों में नृत्य-गीत को स्थान दिया है। विशेषता यही है कि नृत्य-गीत की पृष्ठ-भूमि में उनकी कोई-न-कोई निश्चित योजना अवश्य रही है। पूर्व परम्परा के अनुसार उनके नृत्य-गीत केवल दरबार और रंगमंच की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं है, और न केवल आकर्षण तथा मनोरंजन मात्र की सामग्री हैं वरन् ये चरित्र-विकास, वातावरण निर्माण तथा कथानक को गतिशीलता प्रदान करने का माध्यम भी हैं।

प्रसाद के नेपथ्य गीत :

नृत्य-गीतों के समान प्रसाद के नाटकों में नेपथ्य गीत भी महत्वपूर्ण एवं आवश्यक तत्व हैं। वस्तुत: नाटककार को विशेष परिस्थितियों में नेपथ्यगीत का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। कभी-कभी नाटक में अभिनय की दृष्टि से प्राय: ऐसी परिस्थितियां आ जाती हैं जब नाटककार तो किसी विशेष तथ्य का उद्घाटन करना चाहता है किन्तु रंगमंच पर उपस्थित किसी भी पात्र द्वारा रहस्योद्घाटन संभव न हो सके। ऐसी विषम परिस्थिति में नेपथ्यगीत तिनके का सहारा बन जाता है। प्रसाद ने प्राय: सभी नाटकों में नेपथ्य गीत का प्रयोग किया है। केवल 'विशाख' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकों में नेपथ्य-गीत प्रयुक्त नहीं हैं। अन्य सब नाटकों को मिलाकर कुल आठ नेपथ्य-गान प्रसाद ने लिखे हैं। इन सभी नेपथ्य-गीतों द्वारा नाटकों में

१—स्कन्दगुप्त : प्रथम अंक : पृ० १५।

विशिष्ट उद्देश्यों की सिद्धि होती है। मुख्यतः उनके नेपथ्य-गीतों के निम्नलिखित लक्ष्य रहे हैं—

१—कथा-विकास एवं परिवर्तन

२—रंगमंच की दृष्टि से आपत्ति-काल में नाटकीय वातावरण को बनाए रखने में सहायता प्रदान करना

३—पात्रों के चरित्र में विकास, प्रेरणा एवं परिवर्तन

४—उपयुक्त अभिनय के लिए अवसर प्रदान करना

५—नाटकीय सौंदर्य में अभिवृद्धि करना

प्रसाद के नेपथ्य-गीतों के सम्बन्ध में विशिष्ट बात यह है कि उनका कोई भी नेपथ्य-गीत किसी एक उद्देश्य अथवा प्रयोजन से सम्बधित नहीं है, वरन् एक ही नेपथ्य-गीत कई उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ करने में समर्थ है। एक ही स्थल और एक ही अवसर पर वही नेपथ्य-गीत मानसिक संघर्ष को भी व्यक्त कर सकता है, अभिनय-सौंदर्य में भी वृद्धि कर सकता है तथा कथानक में एक मोड़ भी ला सकता है। ऐसी स्थित में प्रसाद के किसी भी नेपथ्य-गीत को उपर्युक्त उद्देश्यों में से एक-एक प्रयोजन के अन्तर्गत रखकर चलना उचित न होगा। कोई भी नेपथ्य-गीत उपर्युक्त कई प्रयोजनों की सिद्धि किस प्रकार सफलतापूर्वक करता है, यही देखने के लिए उनके नेपथ्य-गीतों का विवेचन किया जायगा क्योंकि एक गीत में विविध लक्ष्यों की सिद्ध करने की सामर्थ्य उत्पन्न करना ही प्रसाद की सबसे बड़ी विशेषता है। अस्तु—

नेपथ्य-गीत का सर्वोत्तम उदाहरण 'राज्यश्री' में दृष्टव्य है। राज्यश्री शत्रुओं से घिर जाने पर आपत्ति-काल में अपने जीवन का अन्त करने के लिए प्रस्तुत है। ऐसी स्थिति में प्रसाद उसके रक्षक दिवाकरमित्र को रंगमंच पर नहीं बुलाते वरन् दूर से आते हुए दिवाकर मित्र के गीत को नेपथ्य-गान के रूप में उपस्थित करते हैं—

> अब भी चेत ले तू नीच।
> दुख-परितापित धरा को स्नेह-जल से सींच॥
> शीघ्र तृष्णा-पाश से नर! कण्ठ को निज खींच।
> स्नान कर करुणा-सरोवर, धुले तेरा कीच॥[1]

गीत संक्षिप्त और सटीक है। इस गीत के द्वारा प्रसाद ने कई प्रयोजनों को सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया है, यथा—

१—सर्वप्रथम तो इसके द्वारा नाटक तथा विशेष कर उस दृश्य विशेष की नाटकीयता और प्रभावशालिता, दर्शकों की मानसिक स्थिति को दृश्य में उपस्थित भाव के अनुकूल करने की क्षमता तथा अभिनयात्मकता में वृद्धि हो जाती है।

२—शत्रुओं के विपक्ष तथा अपने पक्ष में इस गीत को सुनकर राज्यश्री के हृदय का तूफान एवं संघर्ष कुछ आश्वस्त हो उठता है। साथ ही उसे अपने अन्तर्द्वन्द्व को

१—राज्यश्री : तृ० अंक : पृ० ५५।

मार्ग देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते ।
यो मार्गितो विरंच्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः ॥
देवस्य पुरत शम्भोर्नियताभ्युदय प्रदः ।
देशे-देशे जनानां यदुच्या हृदयं रंजथम् ॥
गीतं च वादनं नृत्तं तदेशीत्वाभिधीयते ।
नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च ॥[१]

नियमों की कठोरता तथा मोक्ष-प्राप्ति का साधन होने के कारण मार्ग संगीत धीरे-धीरे लुप्त हो गया और अब उपलब्ध नहीं होता किन्तु देशी संगीत मनोरंजन का साधन होने के कारण एवं जन-रुचि के कारण उन्नति करता रहा। वस्तुतः आज जो संगीत हम सुनते हैं वह देशी संगीत ही है।

संगीत के मुख्य आधार

संगीत की परिभाषा तब तक अपूर्ण रहती है जब तक उसके विविध आधारों को न समझा जाय। संगीत का सबसे अधिक एवं प्रथम सम्बन्ध 'नाद' से है।

नाद :—संगीत का सम्बन्ध ध्वनि से होता है। संगीतोपयोगी ध्वनि को नाद कहा जायगा। "नाद के बिना गीत नहीं है, नाद के बिना स्वर नहीं है, नाद के बिना नृत नहीं है अतएव समस्त संसार नादात्मक (अर्थात् नाद पर अवलम्बित) है।"

न नादेन बिना गीतं न नादेन बिना स्वरः ।
न नादेन बिना नृतं तस्मान्नादात्मकं जगत् ॥[२]

"सब गीत नादात्मक है। वाद्यनाद उत्पन्नकर्ता होने से प्रशस्त है। दोनों (वाद्य तथा गीत) के आधार से नृत्य होता है। अतएव तीनों कलायें नाद के आधीन है।

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्तया प्रशस्यते ।
तद्द्वयानुगतं नृत्यं नादाधीनतमस्त्रयम् ॥[३]

स्पष्ट है कि नाद के बिना संगीत की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि स्वयं संगीत नादविशेष है जो सुख का कारण है। नाद को आकाश का गुण माना जाता है। तर्क-शास्त्र में 'शब्दगुणकयाकाशम्' कहा गया है।[४] ईश्वर ने आकाश की सृष्टि सबसे पहले की और आकाश का गुण नाद है अतएव नाद में ईश्वर का निवास है। ईश्वर आनन्द स्वरूप हैं अतः नाद भी आनन्दप्रदायक है। संगीत उसी शाश्वत, अनन्त एवं अनन्य आनन्द का विधायक है।

१—संगीत रत्नाकर : शार्ङ्ग देव, पृ० १४-१५ ।
२—मतङ्ग: भरत कोश, सम्पादक प्रो० पी० पी० वी० रमैया स्वामी, पृ० ३२४ ।
३—संगीत रत्नाकर : शार्ङ्ग देव (प्रथम भाग), द्वितीय प्रकरण, पृ० ११ ।
४—संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, प्रथम संस्करण, पृ० ८ ।

मुख के भावों द्वारा प्रदर्शित करने तथा दर्शकों के सहृदय भावों के साथ तादात्म्य उपस्थित करने का अवसर मिल जाता है।

३— दोनों दस्यु अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो उठते हैं और गीत के भावों से प्रभावित होकर अपने पापों एवं कलुषित कार्यों को त्यागने तथा नया जीवन प्रारम्भ करने का प्रयास प्रारम्भ कर देते हैं। इस तरह से इस गीत के द्वारा प्रसाद को अपने असत् से सत् तथा अधर्म से धर्म की ओर प्रेरित करने वाले चरित्र सम्वन्धी आदर्शवादी सिद्धांत की पूर्ति में सफलता प्राप्त होती है।

४— प्रसाद इस दोष के भी भागी नहीं वन पाते कि दिवाकर मित्र नामक पात्र को उन्होंने विना किसी पूर्व संकेत अथवा सूचना के रंगमंच पर वुला दिया। नेपथ्यगीत दूरागत दिवाकर मित्र के प्रवेश की सूचना भी देता है और उस पात्र के चरित्र की पवित्रता एवं धवलता को भी व्यंजित करता है।

५— नाटक के कथानक में एक मोड़ आता है और कथानक पुनः प्रभावशाली गति से आगे वढ़ने लगता है। नाटकीयता की दृष्टि से इस प्रकार के नेपथ्य-गीत अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

इसी प्रकार 'अजातशत्रु' के नेपथ्यगीत में कई उद्देश्य सन्निहित हैं। इसमें एक गम्भीर रहस्य संग्रहीत है। अपने कुटीर में थके-हारे एकाकी विम्वसार लेटे हुए हैं। रंगमंच पर अन्य कोई पात्र नहीं है। किन्तु नाटककार प्रसाद चाहते हैं कि विम्वसार की मानसिक दशा को एकाग्र करने के लिये उन्हें मानव-जीवन के गम्भीर रहस्य से अवगत करा दिया जाय। यह कार्य कौन करे? अतः वह नेपथ्य-गीत का अवलम्वन लेते हैं—

'चल वसन्त वाला अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त,
आतीं मलयानिल की लहरें जव दिनकर होता है अस्त।[1]

प्राकृतिक व्यापारों के माध्यम से जीवन-रहस्य की व्यंजना प्रसाद का कौशल है। इसी गीत के द्वारा सम्राट् के हृदय में साम्राज्य का परित्याग करने तथा जीवन की शान्ति व शीतलता की अनुभूति जागृति होती है। सम्राट् को उद्वोधित करने के उद्देश्य से ही प्रधानतः इस नेपथ्य-गीत की रचना की गयी।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में एक स्थान पर नेपथ्य गीत है। जिस समय आस्तीक और मणिमाला मानव-जीवन के रहस्य पर विचार करते हुए अपने जीवन में प्राप्त आघातों की स्मृति से आंसू वहाने लगते हैं तथा जनमेजय प्रकृति के अनुचर, नियति के दास और उसकी क्रीड़ा के उपकरण वनने वाले मानव के अहं भाव पर विचार करता है तभी नेपथ्य से निम्न संगीत सुनायी पड़ता है—

१—अजातशत्रु : तृ० अंक : पृ० १३८।

जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यों इसमें सुख आता है ।
मानव, तूने कुछ सोचा है क्यों आता, क्यों जाता है ।

× × ×

कारण, कर्म न भिन्न कहीं है, कर्म ! कर्म चेतनता है ।
खेल खेलने आया है तू फिर क्यों रोने जाता है ।।[१]

यह गीत एक ओर आस्तीक तथा मणिमाला को आश्वस्त करता है दूसरी ओर जनमेजय को भी जीवन-रहस्य से अवगत कराता है तथा कर्म करने की चेतनता प्रदान करता है । इसके अतिरिक्त कर्म की चेतनता, सुख की क्षणिकता तथा नियति-वाद जैसे गम्भीर रहस्यों का उद्‌घाटन करने का अवसर भी प्रसाद को प्राप्त हो गया ।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में सुवासिनी के चले जाने के उपरान्त राक्षस जब एकाकी रह जाता है और चाणक्य तथा सुवासिनी के पूर्व सम्बन्ध को स्मरण कर विचलित होने लगता है, तो कुछ निर्णय करने के लिए वह वहां अकेला ही विचारमग्न हो जाता है, इसी समय नेपथ्य गान होता है—

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला?
पड़ता है पतंग सा इसमें मन होकर मतवाला ।
सान्ध्य-गगन-सी रागमयी यह बड़ी तीव्र है हाला,
लौह श्रृंखला से न कड़ी क्या यह फूलों की माला ?[२]

इस गीत से नाटककार प्रसाद कई प्रयोजनों को एक साथ सिद्ध कर लेते हैं, यथा—

१— इस अवसर पर यदि यह गीत न प्रस्तुत किया जाता तो राक्षस पात्र की विचारमग्नता के समय दर्शक ऊब सकते थे । अतएव इस गीत से नाटकीय वातावरण का सौन्दर्य तथा आकर्षण द्विगुणित हो उठता है ।

२— जितने समय तक यह गीत चलता है, उतने समय तक राक्षस को सोचने तथा दृढ़ संकल्प करने का अवसर प्राप्त हो जाता है ।

३— इसी गीत द्वारा रूप ज्वाला की तीव्रता तथा शक्ति का परिचय पाकर राक्षस की चेतना जागृत होती हैं, उसके निर्णय में दृढ़ता आती है । इस प्रकार यह गीत राक्षस के हृदय में दवी हुई आग को उभारता है ।

४— इस गीत के द्वारा कथा-विकास होता है तथा उसमें परिवर्तन भी होता है । उत्तेजक राक्षस चाणक्य से टक्कर लेने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है । अव तक जो कथा सरल-गति से चल रही थी, अव उसमें संघर्ष की सृष्टि हो जाती है ।

१—जनमेजय का नागयज्ञ : द्वि० अंक : पृ० ४८ ।
२—चन्द्रगुप्त : चतुर्थ अंक : पृ० १७९ ।

यही गीत प्रसाद राक्षस द्वारा भी गवा सकते थे, लेकिन स्वयं राक्षस के मुख से यह गीत उतना प्रभावपूर्ण नहीं होता। और न राक्षस को मौन-चिंतन द्वारा दृढ़ संकल्प करने की उतनी प्रेरणा प्राप्त हो सकती थी, जो इस गीत द्वारा हुई। अतएव भावानुकूल वातावरण-निर्माण, दर्शकों के मनोरञ्जन, नाटकीय प्रभावशीलता तथा चरित्र-विकास में मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से इस स्थल पर नेपथ्य-गान की योजना नाटककार की सूक्ष्मदृष्टि की परिचायक है।

'स्कन्दगुप्त' नाटक में दो नेपथ्य-गीत हैं। दोनों ही उपयुक्त हैं। वन्दी गृह में कैद देवकी और रामा अपने स्वजनों के अन्याय तथा आगामी विपत्ति से सशंकित हैं—तभी नेपथ्य से संगीत-ध्वनि आती है—

पालना बनें प्रलय की लहरें !
शीतल हो ज्वाला की आंधी
करुणा के घन छहरें ॥[1]

दोनों विपन्न नारियों को शान्ति, धैर्य शक्ति एवं सान्त्वना प्रदान करने के हेतु गीत उपयुक्त हैं। दर्शकों के लिए भी नाटकीय वातावरण का निर्माण हो जाता है। इस सबके साथ आगे मिलने वाले न्याय तथा सुख का संकेत भी मिल जाता है। इसी गीत के कारण देवकी तथा रामा में इतनी प्रेरणा व शक्ति आ जाती है कि वे क्रूर भटार्क तथा शर्व का सामना दृढ़ता पूर्वक करती हैं। दूसरा नेपथ्य-गीत उस समय होता है जब देवसेना और विजया श्मशान में आयी हैं—

सब जीवन बीता जाता है
धूप-छांह के खेल सदृश ।[2]

इस नेपथ्य-गीत से प्रथम तो श्मशान का वातावरण मूर्त हो उठता है। साथ ही देवसेना की भाव-विभोरता तथा सरलता के प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है—जिसे देखकर स्वार्थ, छल तथा प्रतिहिंसा के उद्देश्य से आने वाली विजया भी एक पल के लिए विचलित हो उठती हैं। इस प्रकार दो प्रकार के नारी-हृदयों का तुलनात्मक दर्शन एक ही समय पर दर्शक कर लेते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद के नेपथ्य-गीत सार्थक और सोद्देश्य हैं तथा नाटकीय सौन्दर्य में प्रसाद ने उनकी उपयोगिता को स्वीकार किया है।

गायक पात्र :

प्रसाद से पूर्व नाटकों में प्रायः सभी पात्र गायक होते थे। स्त्री-पुरुष सभी को समय-असमय गाने का रोग था। प्रसाद के समकालीन नाटकों[3] तथा रंगमंचीय

१—स्कन्दगुप्त : द्वि० अंक : पृ० ६७-६८।

२—वही, तृ० अंक, पृ० ९४।

३—देखिए चतुर्थ अध्याय।

नाटकों में[1] भी वही परम्परा चलती रही है। सभी पात्र संगीत-कुशल दिखाए गए हैं। किन्तु प्रसाद ने अपने नाटकों में गायक-पात्रों की एक मर्यादा स्थिर करने का प्रयास किया है। यद्यपि उनके 'विशाख' नाटक एवं चन्द्रगुप्त नाटक में भी उपर्युक्त दोप विद्यमान है। किन्तु उनके अन्य दाटकों में गायक-पात्रों के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा उनकी एक निश्चित योजना का आभास होता है।

उनके नाटकों में गायक पात्र पुरुप भी हैं और स्त्रियां भी। पुरुप पात्रों में गायक रूप में हमें मातृगुप्त, मुद्गल, राक्षस, महापिंगल, महन्त, भिक्षुगण, विलास और सुश्रवा नाग मिलते हैं। ये सभी पात्र प्राय: केवल एक-एक गीत ही गाते हैं अधिक नहीं। केवल 'विशाख' नाटक में ही अधिक पुरुप पात्र गायक के रूप में सम्मुख आते हैं उदाहरणार्थ महापिंगल, महन्त, भिक्षुगण और सुश्रवा नाग। 'विशाख' के उपरान्त गायकों के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। उनके अन्य सभी नाटकों में गायन-कार्य अधिकतर स्त्री पात्रों को सौंप दिगा गया है।

स्त्री पात्रों में चन्द्रलेखा, सखियां, नर्तकियां, राज्यश्री, सुरमा, मालविका, कल्याणी, सुवासिनी, विजया, देवसेना, पद्मावती, श्यामा, मन्दाकिनी, कोमा, कार्नेलिया, अलका, कामना, लेखा आदि विविध नारियां गीत गाती हैं। 'कामना' में विलास के गीत के अतिरिक्त अन्य सभी गीत स्त्रियों द्वारा गाए गए हैं। 'अजातशत्रु' के बारह गीतों में से दस गीत स्त्रियां ही गाती हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' के तो चारों गीत स्त्री-पात्रों द्वारा गाए गए हैं। 'चन्द्रगुप्त' कल्याणी, मालविका, कार्नेलिया, अलका और सुवासिनी ही अधिक गाती हैं।

इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि निश्चय ही प्रसाद संगीत-क्षेत्र में स्त्रियों को प्रमुखता देते थे तथा संगीत को उनके मधुर कण्ठ के ही अनुकूल मानते थे। दूसरा कारण भारतीय सभ्यता और मर्यादा भी हो सकती है। भारतीय परम्परा के अनुसार प्रसाद ने रोने-गाने का अधिकार स्त्रियों को ही अधिक दिया है। पुरुषों का गाना उन्हें शोभनीय नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि उनके नाटकों का कोई भी गायक गीत नहीं गाता। क्योंकि उनके नायक आदर्श हैं, चरित्रवान् हैं, गंभीर है तथा महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न हैं। उनके इस स्वरूप पर नेपथ्य-गीत अथवा अन्य पात्रों के गीत प्रकाश चाहे डाल दें किन्तु वे स्वयं नहीं गाते। 'स्कन्दगुप्त' नाटक के चतुर्थ अंक में केवल एक स्थल पर विचारमग्न स्कन्दगुप्त के लिए प्रसाद ने एक गीत की रचना तो की है[2] किन्तु न प्रसाद ने उसके 'गाने' का संकेत कहीं किया है और न नाटकांत में उसकी स्वरलिपि ही दी गयी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसाद स्वयं स्कन्दगुप्त को रंगमंच पर गाते हुए नहीं प्रस्तुत

१—देखिए चतुर्थ अध्याय।

२—स्कन्दगुप्त : पृ० १३८।

करना चाहते। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' में गौतम को गाते हुए नहीं दिखाया गया है। न उन गीतों की स्वरलिपियां ही दी गयी हैं।

स्त्री तथा पुरुषों के गीतों में एक महान् अन्तर भी है और वह यह कि स्त्रियां जहां विरह, मिलन, साहस, प्रेरणा, सान्त्वना, विलास आदि से सम्पन्न गीत गाती हैं, वहां पुरुष पात्र केवल भक्ति, हास्य, वैराग्य, वीरता और शान्ति के गीत ही गाते हैं, विरह मिलन और विलास के नहीं। उदाहरणार्थ मातृगुप्त का गीत वीरत्व से पूर्ण है।[१] भिक्षुगण स्वभावानुसार संसार की असारता का गान करते हैं। महन्त और महापिंगल के गीत उनकी लोभी प्रवृत्ति के अनुकूल तथा किंचित् हास्य-युक्त हैं। केवल 'कामना' में विलास नामक पात्र 'पी ले प्रेम का प्याला' जैसा शृंगारपूर्ण गीत गाता है। वह भी इसलिए कि प्रतीकात्मक नाटक होने के कारण विलास के प्रतीक पुरुष पात्र से उसके चरित्र की विशेषता दिखाने के लिए ऐसा ही गीत गवाना आवश्यक था। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रसाद स्त्री और पुरुष पात्रों के गायन तथा गीत-विषय में भेद अवश्य मानते थे तथा दोनों की प्रकृति के अनुरूप गीत-रचना करते थे। यह नाट्य-संगीत में उनका नवीनतम कार्य है।

स्त्री-पात्रों के गायन में भी एक विशेषता दृष्टिगत होती है, वह यह कि प्रसाद सभी स्त्री-पात्रों को संगीतज्ञ नहीं दिखाना चाहते थे। इसीलिये गायिकाओं में से किसी एक को उन्होंने संगीत की विशेष प्रेमिका के रूप में दिखाया है। उदाहरणार्थ 'विशाख' में चन्द्रलेखा, 'अजातशत्रु' में मागन्धी, 'राज्यश्री' में सुरमा, 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन नाटकों में अन्य स्त्री-पात्र गाते ही नहीं हैं। विजया, नर्तकी, राज्यश्री, सखियां आदि भी गाती हैं किन्तु अधिकांश स्थलों पर मुख्य गायिका यही चार नारियां हैं जिन्हें हम संगीत-कुशल कह सकते हैं। संगीत इनके जीवन का अनिवार्य अंग है। इनके जीवन की गहन अनुभूतियां, उतार-चढ़ाव इनके गीतों में ही अधिक मुखर हुआ है। इसके विपरीत 'स्कन्दगुप्त' में सभी नारी पात्र गायन में विशेषज्ञ हैं फिर भी चूंकि अधिक नाटकों में उपर्युक्त क्रम मिलता है अतएव हम यह मान सकते हैं कि कुछ विशेष नारी-पात्रों को संगीत-प्रेमी दिखाने की ओर प्रसाद की रुचि थी। इस प्रकार गायक-पात्रों के चुनाव और क्रम में प्रसाद प्राचीन परम्परा से मुक्त हैं तथा नयी दिशा के निर्माता हैं। यह चुनाव उनकी सूक्ष्म-दर्शिता, उनके सिद्धांतों और मान-मूल्यों का परिचायक है।

प्रसाद के नाटकों में गीतों के विषय :

प्रसाद के नाट्य-गीतों में विषय की अनेकरूपता दृष्टिगत होती है। उनके नाटक चूंकि भारत के अतीत के स्वर्णिम पृष्ठों से उज्ज्वल, आर्य-संस्कृति की प्रतिष्ठा से गौरवान्वित, मानवता के महान-दर्शन से प्रकाशित तथा राष्ट्रीय-भावना से मंडित

१—स्कन्दगुप्त पृ० १६२।

हैं अतएव उनके गीतों में भी इन्हीं उद्देश्यों और तदनुरूप भावों का आभास मिलता है। इस सांस्कृतिक चेतना के अतिरिक्त प्रसाद ने मानव-हृदय को टटोला है, उसकी सूक्ष्मतम धड़कन को सुना है अतएव उनके मानवीय पात्रों के जीवन में प्रेम के विचित्र चित्र आते हैं। कहीं यह प्रेम केवल वाह्य सौदर्य व मांसलता से उत्पन्न स्थूलता के आवरण से युक्त है, कहीं प्रेम का वह विलक्षण स्वरूप है जहां केवल तपस्या, त्याग है, जहां तिरस्कार और अपमान पाने पर भी अनुनय तथा सहनशीलता है, जहां स्वार्थ नहीं है केवल आत्म-बलिदान है, विश्व-मंगल-कामना है, जो संयमी साधकों का प्रेय है। प्रेमी-जीवन के इन स्वरूपों को प्रसाद ने विविध दृष्टिकोणों से देखा है और इन प्रेमियों की पीड़ा, कसक, मंगल-कामना, त्याग, सहिष्णुता और मूक वेदना के साथ दर्शकों को ले जाने के लिए गीतों को माध्यम बनाया है। इनके अतिरिक्त ऐसे भी गीत हैं जिनमें अध्यात्म का चिन्तन है, संसार की असारता है, लोक-परलोक का सन्देश है, जीवन के गम्भीर रहस्य का उद्घाटन है। इस प्रकार प्रसाद के नाट्य-गीतों में कहीं वीरों का उल्लास है, राष्ट्र का जागरण-मंत्र है और देश-प्रेमी की कर्तव्यनिष्ठा है, कहीं उन्मत्त प्रेम की ज्वाला है, कहीं प्रणय का निवेदन, अनुनय-विनय, दीनता है, कहीं प्रेम पाने की आतुरता है, कहीं प्रेम पाकर भी हृदय का असन्तोष और आकुलता है, कहीं गीतों में विरहिणियों के अश्रु हैं, कहीं उनका बलिदान एवं निष्काम त्याग, कहीं बीते हुए दिनों की याद है और भावी जीवन के लिए दृढ़ निश्चय है, कहीं इन गीतों में सन्देश है, चेतावनी है, उल्लास है, प्रार्थना है और मंगल-कामना है। मानव-जीवन के विभिन्न चित्रों, मानवीय भावों-अनुभूतियों कल्पनाओं एवं मनोवृत्तियों की सांकेतिक अभिव्यंजना करने में प्रसाद के नाटकों के गीत सफल हैं। प्रसाद के गीतों के भाव-पक्ष पर विचार करते हुए डा० दशरथ ओझा ने लिखा है— 'इन गीतिकाव्यों में विरहिणी का अतृप्त प्रेम, प्रेमोन्मत्त नारी का मत्त प्रलाप, असफल व्यक्ति का हृदयोद्गार, श्रद्धालु का दृढ़ विश्वास, सन्यासी का अचल वैराग्य, प्रेम-पिपासु का अनुनय-विनय, नारी का आत्मसमर्पण, मातृभूमि का ममत्व, देश-प्रेमी की सत्यनिष्ठा, पराजित के अश्रु, अतीत-स्मृति की टीस और कसक, भावना का आरोहावरोह, अध्यात्म का चिंतन आदि लौकिक-पारलौकिक अनेक भावों और विचारों का एक स्थल पर सम्मिलन दिखायी पड़ता है।'[१]

उपर्युक्त निवेदन के अनुसार प्रसाद के नाट्य-गीतों में निम्नलिखित विषय प्राप्त होते हैं—

१—देश-प्रेम और जागरण—देश-प्रेम और राष्ट्रीय जागरण से सम्बन्धित प्रसाद के गीत उनके नाटकों की अमूल्य निधि हैं। इस प्रकार के गीत भी एक समान नहीं हैं वरन् उनके विषय में अन्तर है, यथा—

१—हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृष्ठ ४०९।

(क) भारत-प्रशंसा-गीत :—'अरुण यह मधुमय देश हमारा'[1]
'हिमालय के आंगन में उसे प्रथम
किरणों का दे उपहार'[2]

(ख) मार्चिंग गीत :—'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती'[3]

(ग) आह्वान गीत :—'क्या सुना नहीं कुछ, अभी पड़े सोते हो ?[4]
'देश की दुर्दशा निहारोगे ?[5]

२—प्रेम की गहन अनुभूति :—प्रेम के मनोहर चित्र प्रसाद ने अपने गीतों में खींचे हैं। उनके देवसेना, कल्याणी, मालविका, चन्द्रलेखा, कोमा आदि सभी स्त्री-पात्र प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं जिनके गीतों में प्रेम की गहन अनुभूति का चित्रण हुआ है। यथा-

१—भरा नैनों में मन में रूप'[6]
२—घने प्रेम तरु तले[7]
३—सुधा-सीकर से नहला दो[8]
४—ओ मेरे जीवन की स्मृति।[9]
५—निर्जन गोधूलि प्रान्तर में।[10]

३—रूप, यौवन और विलास :—रूप और यौवन की ऊष्म गंध से युक्त प्रसाद के गीत रुचिर कल्पना से पूर्ण हैं यथा—

१—आज मधु पीले, यौवन वसन्त खिला ॥[11]
२—कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।[12]
३—आज इस यौवन के माधवी-कुंज में।[13]
४—यौवन तेरी चंचल छाया।[14]

४—पुरुष-वृत्ति-चित्रण :—'मधुप कब एक कली का है'।[15] गीत में सुवासिनी

१—चन्द्रगुप्त : द्वि० अंक : पृ० १००।
२—स्कन्दगुप्त : पं० अंक : पृ० १६२।
३—चन्द्रगुप्त : च० अंक : पृ० १६४।
४—जनमेजय का नाग यज्ञ : पृ० ८३।
५—स्कन्दगुप्त, पं० अंक : पृ० १५८।
६—वही, प्र० अंक, पृ० ४५।
७—वही, द्वि० अंक, पृ० ५४।
८—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १७५।
९—वही, पृ० १८६।
१०—अजातशत्रु : द्वि० अंक : पृ० ९५।
११—विशाख : प्र० अंक; पृ० २६।
१२—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १७९।
१३—वही, तृ० अंक, पृ० १५५।
१४—ध्रुवस्वामिनी : द्वि० अंक; पृ० ३५।
१५—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १८५।

है अतएव उनके गीतों में भी इन्हीं उद्देश्यों और तदनुरूप भावों का आभास मिलता है। इस सांस्कृतिक चेतना के अतिरिक्त प्रसाद ने मानव-हृदय को टटोला है, उसकी सूक्ष्मतम धड़कन को सुना है अतएव उनके मानवीय पात्रों के जीवन में प्रेम के विचित्र चित्र आते हैं। कहीं यह प्रेम केवल वाह्य सौदर्न्य व मांसलता से उत्पन्न स्थूलता के आवरण से युक्त है, कहीं प्रेम का वह विलक्षण स्वरूप है जहां केवल तपस्या, त्याग है, जहां तिरस्कार और अपमान पाने पर भी अनुनय तथा सहनशीलता है, जहां स्वार्थ नहीं है केवल आत्म-बलिदान है, विश्व-मंगल-कामना है, जो संयमी साधकों का प्रेय है। प्रेमी-जीवन के इन स्वरूपों को प्रसाद ने विविध दृष्टिकोणों से देखा है और इन प्रेमियों की पीड़ा, कसक, मंगल-कामना, त्याग, सहिष्णुता और मूक वेदना के साथ दर्शकों को ले जाने के लिए गीतों को माध्यम बनाया है। इनके अतिरिक्त ऐसे भी गीत हैं जिनमें अध्यात्म का चिन्तन है, संसार की असारता है, लोक-परलोक का सन्देश है, जीवन के गम्भीर रहस्य का उद्घाटन है। इस प्रकार प्रसाद के नाट्य-गीतों में कहीं वीरों का उल्लास है, राष्ट्र का जागरण-मंत्र है और देश-प्रेमी की कर्तव्यनिष्ठा है, कहीं उन्मत्त प्रेम की ज्वाला है, कहीं प्रणय का निवेदन, अनुनय-विनय, दीनता है, कहीं प्रेम पाने की आतुरता है, कहीं प्रेम पाकर भी हृदय का असन्तोप और आकुलता है, कहीं गीतों में विरहिणियों के अश्रु हैं, कहीं उनका बलिदान एवं निष्काम त्याग, कहीं बीते हुए दिनों की याद है और भावी जीवन के लिए दृढ़ निश्चय है, कहीं इन गीतों में सन्देश है, चेतावनी है, उल्लास है, प्रार्थना है और मंगल-कामना है। मानव-जीवन के विभिन्न चित्रों, मानवीय भावों-अनुभूतियों कल्पनाओं एवं मनोवृत्तियों की सांकेतिक अभिव्यंजना करने में प्रसाद के नाटकों के गीत सफल हैं। प्रसाद के गीतों के भाव-पक्ष पर विचार करते हुए डा० दशरथ ओझा ने लिखा है— 'इन गीतिकाव्यों में विरहिणी का अतृप्त प्रेम, प्रेमोन्मत्त नारी का मत्त प्रलाप, असफल व्यक्ति का हृदयोद्गार, श्रद्धालु का दृढ़ विश्वास, सन्यासी का अचल वैराग्य, प्रेम-पिपासु का अनुनय-विनय, नारी का आत्मसमर्पण, मातृभूमि का ममत्व, देश-प्रेमी की सत्यनिष्ठा, पराजित के अश्रु, अतीत-स्मृति की टीस और कसक, भावना का आरोहावरोह, अध्यात्म का चिंतन आदि लौकिक-पारलौकिक अनेक भावों और विचारों का एक स्थल पर सम्मिलन दिखायी पड़ता है।'[1]

उपर्युक्त निवेदन के अनुसार प्रसाद के नाट्य-गीतों में निम्नलिखित विपय प्राप्त होते हैं—

१—**देश-प्रेम और जागरण**—देश-प्रेम और राष्ट्रीय जागरण से सम्बन्धित प्रसाद के गीत उनके नाटकों की अमूल्य निधि हैं। इस प्रकार के गीत भी एक समान नहीं हैं वरन् उनके विपय में अन्तर है, यथा—

१—हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृष्ठ ४०९।

(क) भारत-प्रशंसा-गीत :—'अरुण यह मधुमय देश हमारा'[१]
'हिमालय के आंगन में उसे प्रथम
किरणों का दे उपहार'[२]

(ख) मार्चिंग गीत :—'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती'[३]

(ग) आह्वान गीत :—'क्या सुना नहीं कुछ, अभी पड़े सोते हो ?[४]
'देश की दुर्दशा निहारोगे ?[५]

२—**प्रेम की गहन अनुभूति** :—प्रेम के मनोहर चित्र प्रसाद ने अपने गीतों में खींचे हैं। उनके देवसेना, कल्याणी, मालविका, चन्द्रलेखा, कोमा आदि सभी स्त्री-पात्र प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं जिनके गीतों में प्रेम की गहन अनुभूति का चित्रण हुआ है। यथा-

१—भरा नैनों में मन में रूप'[६]
२—घने प्रेम तरु तले[७]
३—सुधा-सीकर से नहला दो[८]
४—ओ मेरे जीवन की स्मृति।[९]
५—निर्जन गोधूलि प्रान्तर में।[१०]

३—**रूप, यौवन और विलास** :—रूप और यौवन की ऊष्म गंध से युक्त प्रसाद के गीत रुचिर कल्पना से पूर्ण हैं यथा—

१—आज मधु पीले, यौवन वसन्त खिला॥[११]
२—कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।[१२]
३—आज इस यौवन के माधवी-कुंज में।[१३]
४—यौवन तेरी चंचल छाया।[१४]

४—**पुरुष-वृत्ति-चित्रण** :—'मधुप कब एक कली का है'।[१५] गीत में सुवासिनी

१—चन्द्रगुप्त : द्वि० अंक : पृ० १००।
२—स्कन्दगुप्त : पं० अंक : पृ० १६२।
३—चन्द्रगुप्त : च० अंक : पृ० १६४।
४—जनमेजय का नाग यज्ञ : पृ० ८३।
५—स्कन्दगुप्त, पं० अंक : पृ० १५८।
६—वही, प्र० अंक, पृ० ४५। ७—वही, द्वि० अंक, पृ० ५४।
८—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १७५।
९—वही, पृ० १८६। १०—अजातशत्रु : द्वि० अंक : पृ० ९५।
११—विशाख : प्र० अंक, पृ० २६।
१२—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १७९।
१३—वही, तृ० अंक, पृ० १५५। १४—ध्रुवस्वामिनी : द्वि० अंक, पृ० ३५।
१५—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १८५।

द्वारा प्रसाद मधुप के बहाने से पुरुष की कामुकता एवं स्वार्थ की ओर कटु संकेत किया है।

५—अनिन्द्य-सौन्दर्य-चित्रण :—'तुम कनक किरण के अन्तराल से'[1] गीत में सौन्दर्य का अत्यन्त रोचक एवं भावपूर्ण चित्रांकन हुआ है जो अन्य साधारण सौन्दर्य-चित्रों से सर्वथा भिन्न है।

६—शृंगार :—शृंगार के साधारणतम चित्र भी प्रसाद के नाटक गीतों में यदा-कदा अंकित हुए हैं, उदाहरणार्थ—

१—मेरे मन को चुराके कहां ले चले[2]

२—हिये में चुभ गई ऐसी मधुर मुस्कान[3]

३—देखी नयनों ने एक झलक[4]

४—आओ हिये में अहो प्राण प्यारे[5]

५—प्यारे, निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे[6]

६—अनिल भी रहा लगाये घात[7]

७—छिपाओगी कैसे, आखें कहेंगी[8]

८—पी ले प्रेम का प्याला[9]

९—किसे नहीं चुभ जायें नैनों के तीर नुकीले ?[10]

७—वेदना कसक और विवशता :—वेदना, टीस और कसक तथा विवश जीवन की पुकार से पूर्ण गीत प्रसाद की कवि-कल्पना की श्रेष्ठतम कृति है। अपने स्त्री-पात्रों के गीतों में उन्होंने हृदय को वेदना और पीड़ा को साकार कर दिया है, यथा-

१—प्यास बुझी न कभी मन की रे।[11]

२—आह ! वेदना मिली विदाई[12]

३—यह कसक अरे आंसू सहजा[13]

४—न छेड़ना उस अतीत स्मृति से।[14]

५—बहुत छिपाया उफन पड़ा अब[15]

१—वही, प्र० अंक, पृ० ६३। २—वही, द्वि० अंक, पृ० ५३।
३—वही, पृ० ४५। ४—वही, प्र० अंक, पृ० ३९।
५—अजातशत्रु : प्र० अंक, पृ० ४५। ६—वही, पृ० ४३।
७—जनमेजय का नाग यज्ञ : प्र० अंक, पृ० २०।
८—कामना, द्वि० अंक, पृ० ६४।
९—वही, प्र० अंक, पृ० ३२। १०—वही, द्वि० अंक, पृ० ५३।
११—राजश्री : प्र० अंक, पृ० १८। १२—स्कन्दगुप्त : पं० अंक, पृ० १६५।
१३—ध्रुवस्वामिनी : १३ वां संस्क०, प्र० अंक, पृ० १९।
१४—स्कन्दगुप्त : प्र० अंक, पृ० १५।
१५—अजातशत्रु : द्वि० अंक, पृ० ७०-७१।

नाद दो प्रकार का होता है—

(१) अनाहत नाद

(२) आहत नाद

आहतानाहतश्चेति द्विधानादोनिगद्यते ।[१]

——— ——— ———

नादस्तु सद्विथः प्रोक्तः पूर्वनादस्त्वनाहतः ।
कर्णरन्ध्रे तया नद्यां निर्झरोऽपि भवेच्चयः ।।[२]

——— ——— ———

आहतस्तु द्वितीयो सो वाद्येष्वाघातकर्म्मणा ।
तेन गीतस्वरोत्पत्तिः स नादो जयते भुवि ।।[३]

अनाहत नादः—अनाहत नाद का सम्बन्ध योगियों के ब्रह्मानन्द से है। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने के उपरान्त ही इस नाद को सुना जा सकता है। वाह्य विषयों में आसक्ति होने पर इस नाद को नहीं सुना जा सकता। मानव-हृदय में एक छोटी-सी जगह शुद्ध आकाश से युक्त है जिसमें विना आघात के सदैव नाद का प्रादुर्भाव होता रहता है यही अनाहत नाद कहलाता है। इस नाद में रंजकत्व नहीं है—वह केवल मुक्ति का कारण है—

तत्रानाहतनादं तु मुनयः समुपासते ।
गुरूपदिष्ट मार्गेण मुक्तिदं न तु रंजकम् ।।[४]

आहत नादः—हृदय आकाश में होने वाले अनाहत नाद के अतिरिक्त शेष सभी नाद आहत है। संगीत का नाद भी आहत ही है। दो वस्तुओं की रगड़ से तथा वाद्य-यंत्रों पर आघात करने से जो शब्द निकलता है उसे आहत नाद कहते हैं। इसी से संगीत के स्वरों की उत्पत्ति होती है। आहत नाद व्यावहारिक रूप में केवल लोक-रंजन ही नहीं करता, वह "भव भंजक" भी वन जाता है—

स नादस्त्वाहतो लोके रंजको भवभंजकः ।।१७।।[५]

श्रुतिः—श्रुति शब्द "श्रु" धातु से वना है। अर्थात् जिसको श्रवण-इन्द्रिय ग्रहण कर सकें, उसे श्रुति कहते हैं—

श्रवणेन्द्रियग्रह्यत्वाद ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।।[६]

१—संगीत दर्पण : दामोदर पृ० ९ ।
२—संगीत पारिजात : अहोवल, पृ० ११ ।
३—संगीत पारिजात : अहोवल, पृ० ११ ।
४—संगीत दर्पण : दामोदर, पृ० ६ ।
५—संगीत दर्पण : दामोदर, पृ० १० ।
६—संगीत पारिजात : अहोवल, पृ० १२-१३ ।

६—निर्दय उंगली भरी ठहर जा [1]

७—बिखरी किरन अलक व्याकुल हो।[2]

८—अली ने क्यों भला अवहेला की ?[3]

८—आध्यात्मिक प्रेम :—कहीं-कहीं प्रसाद के नाटक-गीतों में आध्यात्मिक प्रेम भी विषय बन गया है। जहां कहीं प्रेमी या प्रेमिका की आत्मा एक रहस्यवादी की भांति कण-कण में अपने प्रिय का दर्शन कर निवेदन करने लगती है वहां इस प्रेम की छटा दृष्टिगत होती है, यथा—

१—उमड़ कर चली भिगोने आज[4]

२—शून्य गगन में खोजना जैसे चन्द्र निराश[5]

९—दार्शनिकता :—कहीं-कहीं प्रसाद के नाटक-गीतों में जीवन दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा दार्शनिक वातावरण को भी आवश्यकतानुसार विषय बनाया गया है। उदाहरणार्थ—

१—जीने का अधिकार तुझे क्या ? [6]

२—तू खोजता किसे ? [7]

१०—संसार की स्वार्थपरता एवं नश्वरता :—संसार की स्वार्थी वृत्ति एवं नश्वरता का चित्रण एक-दो गीतों में दृष्टव्य है—

१—चूसा रस पत्तों पत्तों से फूलों का दे लोभ अपार।[8]

२—मचा है जग भर में अंधेर [9]

३—धूप-छांह के खेल सदृश
सब जीवन बीता जाता है।[10]

११—प्रेरणा-चेतावनी एवं सन्देश :—प्रेरणा एवं सन्देश को गीतों का विषय बनाकर कहीं तो प्रसाद ने दर्शकों को सन्देश प्रदान किया है और कहीं स्वयं पात्रों को प्रेरित करने तथा चेतावनी देने के हेतु इस प्रकार के गीत लिखे हैं—

१—अजातशत्रु : द्वि० अंक, : पृ० ५८।

२—चन्द्रगुप्त : द्वि० अंक, पृ० १२८।

३—अजातशत्रु : प्र० अंक, पृ० ४२।

४—स्कन्दगुप्त : तृ० अंक, पृ० ८८।

५—वही, पं० अंक, पृ० १४९।

६—जनमेजय का नाग यज्ञ, द्वि० अंक, पृ० ४७।

७—विशाख : प्र० अंक, पृ० ३१।

८—अजातशत्रु : तृ० अंक, पृ० १३८।

९—विशाख : प्र० अंक, पृ० २४।

१०—स्कन्दगुप्त : तृ० अंक, पृ० ९४।

१—अब भी चेत ले तू नीच[1]

२—पालना बने प्रलय की लहरें[2]

३—भाव निधि में लहरियां उठतीं तभी[3]

४—मन जागो जागो[4]

१३—**ईश-वन्दना एवं मंगल-कामना** :—प्रसाद के नाटक-गीतों में स्थित्यनुसार कहीं ईश-वन्दना है, कहीं मंगल-कामना, यथा—

१—जय जयित करुणा-सिंधु[5]

२—अलख अरूप—[6]

३—जय हो उसकी —[7]

४—करुणा-कादम्बिनि बरसे[8]

१४—**प्रकृति-चित्रण** :—प्रसाद के नाट्य-गीतों में कुछ स्थलों पर प्रकृति भी विषय बनकर आयी है। प्रकृति का यह चित्रण इन गीतों में तीन रूपों में हुआ है—

१— आलम्बन रूप में—'अस्ताचल पर युवती संध्या की'[9]
'चला है मन्थर गति से पवन'[10]

२— उद्दीपन रूप में—'छटा कैसी सलोनी निराली है'[11] यह भी लीला और विनोद के शृंगार भाव को उद्दीप्त करता है।

३— माध्यम रूप में—'चल वसन्तमाला अंचल से'[12] इस गीत के प्रकृति के माध्यम से संसार की निर्दयता का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

इस विवरण से प्रथम तो यही स्पष्ट होता है कि प्रसाद के गीतों में विषय की अनेकरूपता है। यद्यपि विषयों का यह विविध रूप उनसे पूर्व नाटक-गीतों में भी रहा है। उपर्युक्त सभी विषय उनमें मिलते हैं किन्तु अन्तर की दृष्टि से प्रसाद में दो

१—राजश्री : तृ० अंक, पृ० ५५।
२—स्कन्दगुप्त, द्वि० अंक, पृ० ६७।
३—स्कन्दगुप्त, च० अंक, पृ० १२०।
४—जनमेजय का नाग यज्ञ, तृ० अंक, पृ० ८०।
५—राजश्री : तृ० अंक, पृ० ६३।
६—राज्श्री : च० अंक, पृ० ६८।
७—जनमेजय का नागयज्ञ : तृ० अंक, पृ० १०९।
८—राज्यश्री : च० अंक पृ० ७५।
९—ध्रुवस्वामिनी : द्वि० अंक, पृ० २८-२९।
१०—अजातशत्रु : द्वि० अंक, पृ० ७८।
११—कामना : द्वि० अंक, पृ० ४१।
१२—अजातशत्रु : तृ० अंक, पृ० १३८।

विशेषतायें हैं, एक तो सौन्दर्य, प्रेम और विलास के गीत और दूसरे राष्ट्रीय गीत। यह निश्चित है कि प्रथम प्रकार के गीत प्रसाद ने सबसे अधिक लिखे हैं। क्योंकि उनके प्राय: स्त्री-पात्र सौन्दर्य, प्रेम और विलास की ऊष्मा से युक्त हैं अत: उनके गीतों में यही विषय सर्वाधिक आ पाए हैं। प्रेम के तथा सौन्दर्य और विलास के गीत भारतेन्दु-काल में भी रहे हैं किन्तु उनमें जितनी स्थूलता है उतनी सूक्ष्मता नहीं। प्रसाद के 'हिये में चुभ गई मुस्कान' और 'मेरे मन को चुरा के कहां ले गए' गीत उसी पूर्व-परम्परा के गीत हैं किन्तु अन्य गीतों में उन्होंने वाह्य सौन्दर्य, यौवन-विलास, प्रेम की गहरी अनुभूतियों के जो चित्र खींचे हैं उनमें उनकी सौंदर्य-भावना का शाश्वत रूप लक्षित होता है। उनसे पहले के सौन्दर्य और शृंगार सम्बन्धी गीतों में जहां कोरी भावुकता, स्थूलता और सस्तापन होता था, वहां प्रसाद के ऐसे गीतों में लाज-भरे सौन्दर्य, प्रेम की छलकती हुई मदिरा, उफनते हुए हृदय तथा अतृप्त प्यास के साथ-साथ सौन्दर्य तथा प्रेम का इतना उदात्त स्वरूप दीखता है जिसकी समानता नहीं है।

दूसरी विशेषता उनके राष्ट्रीय गीतों की है। प्रसाद से पूर्व इसका नेतृत्व भारतेन्दु ने किया था। उनके बाद गीतों में देश-प्रेम की यह पुकार और राष्ट्रीय जागरण का यह प्रयास प्राय: लुप्त सा हो गया। प्रसाद ने उच्चकोटि के राष्ट्रीय गीत लिखकर यह सिद्ध कर दिया कि गीत केवल माधुर्य, आनन्द, विलास तक ही सीमित नहीं हैं वरन् उनका क्षेत्र, देशभक्ति, वीरत्व, साहस, उत्साह और कर्मठता भी है। निश्चय ही प्रसाद ने एक ओर अपने गीतों में जहां माधुर्य गुण की सृष्टि की, वहां दूसरी ओर ओजगुण-सम्पन्न गीतों का भी उत्कृष्टतम स्वरूप सामने रखा। यही कारण है आज भी संकटकालीन स्थिति में उलका का 'हिमाद्रि तुंग शृंग से......' गीत प्रशस्त पथ पर बढ़ते चलने की प्रेरणा प्रदान करने में उतना ही समर्थ है। यही प्रसाद के गीतों का अमरत्व है।

विषय की दृष्टि से एक अन्य विशेपता यह है कि विकास-क्रम से प्रसाद के नाटकों में गीतों के विषयों में भी विकास होता रहा है। उदाहरणार्थ उनके प्रारम्भिक नाटक 'विशाख', 'राज्यश्री', 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'कामना' में गीत के विपयों में अनेकरूपता भी अधिक नहीं है तथा विपय सरल भी है। इनमें सौंदर्य प्रेम तथा वेदना के गीत सरल और साधारण हैं। जबकि 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्द-गुप्त' और ध्रुवस्वामिनी में सौन्दर्य, प्रेम, राष्ट्र, वेदना, विलास, भक्ति, मंगल-कामना संसार की नश्वरता प्रकृति आदि विपयों के उच्चकोटि के गीतों का संग्रह है। इस विविधता तथा श्रेष्ठता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' नाटक हैं जिनके विविध गीतों के उद्धरण दिए जा चुके हैं।

अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपने पूर्व-युग से प्रसाद इस क्षेत्र में अवश्य अधिक सफल हुए हैं तथा उनके गीतों में अपेक्षाकृत विविध भावों और बिपयों का समन्वय एवं इन विपयों की सूक्ष्म और कलात्मक अभिव्यक्ति उपलब्ध

होती है जिसका अब तक सर्वथा अभाव था। काव्यात्मकता की दृष्टि से इनके गीतों की समीक्षा आगे की जायेगी।

वाद्य-यन्त्र :

प्रसाद ने अपने नाटकों में वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग वादन-रूप में कहीं भी नहीं किया है। पूर्व-परम्परा के अनुसार न तो उनके पात्र वाद्य के साथ गायन करते हैं और न ही वाद्य यन्त्र का स्वतन्त्र रूप में वादन करते हैं। केवल नाटकीय सौन्दर्य, तथा चारित्रिक संघर्ष दिखाने के लिए 'अजातशत्रु' नाटक में राजा उदयन और पद्मावती के साथ वीणा वाद्य का प्रयोग किया है। पद्मावती वीणा उठाती है, बजाना चाहती है किन्तु असफल होती है। स्वयं उसका कथन है कि 'जब भीतर की तन्त्री बेकल है तब यह कैसे बजे।'[1] और फिर वीणा रखकर जाने लगती है। वहाँ वीणा का प्रयोग उसके संगीत-ज्ञान, उसकी चारित्रिक करुणा तथा विकल मानसिक स्थिति एवं अन्तर्द्वन्द्व की तीव्रता प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। इसी नाटक में एक अन्य स्थल पर वीणा वाद्य का नाम मात्र ही नाटकीय मोड़, आकस्मिकता, कौतूहल तथा महत्वाकांक्षिणी मागन्धी की प्रतिहिंसा एवं द्वेष-भाव का चित्रण करने के लिए आया है,[2] किन्तु उसका वादन सम्पूर्ण नाटक में कहीं नहीं हुआ है। इसके विपरीत उनके नाटक-गीतों में वाद्य यन्त्रों का कहीं-कहीं उल्लेख मात्र मिलता है जिसके उद्धरण इस प्रकार हैं—

१—जीवन-वंशी के छिद्रों में......[3]
२—बज रही वंशी आठों याम की[4]
३—कुंज में वंशी बजती है[5]
४—मीड़ मत खिंचे वीन के तार[6]
५—विमल वाणी ने वीणा ली[7]
६—बजा दो वेणु मनमोहन[8]
७—वंशी को बस बज जाने दो[9]

इन उद्धरणों के आधार पर यह दृष्टव्य है कि मुख्यत: दो ही वाद्यों का उन्होंने उल्लेख किया है—वंशी और वीणा। भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों से अनुप्राणित

१—अजातशत्रु : पृ० २८। २—वही, पृ० ४५।
३—ध्रुवस्वामिनी, द्वि० अंक, पृ० ३५।
४—चन्द्रगुप्त, च० अंक, पृ० १८५।
५—विशाख : प्र० अंक, पृ० २६।
६—अजातशत्रु : प्र० अंक : पृ० ५८।
७—स्कन्दगुप्त : पं० अंक : पृ० १६२।
८—वही, च० अंक, पृ० १३८। ९—वही, तृ० अंक, पृ० ९४।

उनके नाटकों में इन्हीं दो वाद्यों का उल्लेख उनकी सूक्ष्म-दर्शिता तथा इतिहास-ज्ञान को ही प्रकट करता है क्योंकि भारतीय दृष्टि से वंशी और वीणा दोनों प्राचीनतम वाद्य-यंत्र हैं तथा दोनों ही भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं इतिहास-गौरव के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त राजा उदयन के कथानक में वीणा का प्रयोग अवश्य होता रहा है। 'स्वप्नवासदत्ता' में इसका उद्धरण मिलता है।[1] आधुनिक काल में गोविन्दवल्लभ पंत में भी 'अन्त:पुर का छिद्र' नाटक में उदयन द्वारा वीणा का प्रयोग कराया है।[2] वीणा निश्चित ही अत्यन्त प्राचीन एवं प्रिय वाद्य माना जाता रहा है। वेदों में, विशेषत: ऋग्वेद में वीणा [3] और वेणु [4] दोनों के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

नृत्य :

संगीत का एक अभिन्न अङ्ग नृत्य है। नाटकों में नृत्य की परम्परा संस्कृत नाट्य-साहित्य से चली आ रही थी। भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-कालीन नाटकों में यदा-कदा नृत्य का उपयोग किया जाता रहा था। नृत्यों का प्रयोग मुख्यत: दरबार की शोभा के लिए अथवा मनोरंजन के लिए होता रहा था। 'आनन्द-रघुनन्दन' में जिस प्रकार कत्थक नृत्य के बोलों पर स्वच्छन्द नृत्य का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, [5] उस प्रकार के नृत्य का स्वतन्त्र कलात्मक स्वरूप अभी तक हिन्दी नाटकों में दृष्टिगत नहीं हुआ।

प्रसाद ने अपने नाटकों में नृत्य का प्रयोग किया तो है किन्तु इस नृत्य-प्रयोग में वे पूर्व परम्परा तथा अपनी समकालीन प्रचलित परम्परा से मुक्त नहीं हो सके हैं। नृत्य का प्रयोग उनके 'विशाख' नाटक में तीन स्थलों पर, 'अजातशत्रु' में दो स्थलों पर, 'कामना' में दो स्थलों पर, 'स्कन्दगुप्त' में दो स्थलों पर तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में एक स्थल पर हुआ है। इन सभी नाटकों में नृत्य न तो स्वतन्त्र एवं विशिष्ट कला के रूप में उपस्थित हुआ है, न किसी वाद्य-यन्त्र के सहारे नृत्य-योजना की गयी है, वरन् सभी स्थलों पर गीत के साथ नृत्य की पूर्व प्रचलित साधारण परम्परा का पालन किया गया है। कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता कि प्रसाद किस प्रकार के नृत्य की आकांक्षा करते हैं अथवा अपने ऐतिहासिक नाटकों के काल के आधार पर वह कौन सी नृत्य-शैली प्रस्तुत करना चाहते हैं। केवल इतना ही संकेत किया है कि 'नर्तकियाँ नृत्य करते हुए प्रवेश करती हैं और गाती हैं' अथवा 'सखियाँ नायिका को

१—स्वप्नवासवदत्ता : महाकवि भास : १९५० ई० अंक, पृ० २०९।

२—अन्त:पुर का छिन्द्र : द्वि० अंक : पृ० २७।

३—हिन्दी ऋग्वेद : भाषान्तरकार तथा सम्पादक रामगोविन्द त्रिवेदी, १९५४ ई० सप्तम अध्याय, सूक्त ३४।

४—वही पृ० १४२८, सूक्त १३५।

५—देखिये द्वितीय अध्याय।

घेर कर नृत्य करती हैं।'

इस दृष्टि से दो प्रकार के पात्र नृत्य करते हैं—सखियां और नर्तकियां। इनके द्वारा सम्पन्न नृत्य तीन प्रकार के हैं–१—एकाकी नृत्य, २–सामूहिक नृत्य, ३–युगल नृत्य। 'विशाख' में महाराज नरदेव की राजसभा में नर्तकी एकाकी नृत्य करती है।[१] 'अजातशत्रु' में श्यामा एकाकी नृत्य करती है।[२] 'स्कन्दगुप्त'[३] और 'ध्रुवस्वामिनी'[४] में नर्तकियों के समूह नृत्य राजमन्दिर तथा राज सभा में होते हैं। 'कामना'[५] और 'विशाख'[६] में नायिका को घेरकर सखियाँ समूह-नृत्य करती हैं। युगल नृत्य केवल 'जनमेजय का नागयज्ञ'[७] नाटक में रत्नावली और प्रमदा करती हैं। इन सभी नृत्यों से नृत्य-कला का कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। नाटकीय दृष्टि से यद्यपि प्रचलित परम्परा का ही पालन प्रसाद ने किया है फिर भी उनकी नृत्य-योजना के निम्नलिखित उद्देश्य प्रतीत होते हैं—

१—राजाओं की विलासी प्रवृत्ति की तुष्टि

२—नायक-नायिका का मनोरंजन

३—विशिष्ट समस्या की सिद्धि।

ऐतिहासिक नाटकों में दरबार अथवा राजसभा में होने वाले सभी नृत्य नृपति की विलासिता से सम्बन्धित हैं। 'विशाख' में महाराज नरदेव की विलासी प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए ही उनकी राजसभा में नर्तकी उन्मादक गीत के साथ नृत्य करती है। 'स्कन्दगुप्त' में सम्राट कुमार गुप्त के राजमन्दिर में नर्तकियों का नृत्य दरबारी परम्परा के पालन तथा राजा के मनोरंजन का ही परिणाम है। 'ध्रुवस्वामिनी' में सम्राट् रामगुप्त की विलासिता की तुष्टि करने के लिए ही नर्तकियाँ नृत्य करती हैं। सखियों के सभी नृत्य नायक-नायिका से मनोरंजनार्थ हुए हैं।

समस्या की सिद्धि के लिए किया गया सोद्देश्य नृत्य श्यामा 'अजातशत्रु' में करती है। द्वितीय अङ्क में समुद्रदत्त के सम्मुख उसका नृत्य इसी प्रकार का है।[८]

तात्पर्य यह है कि प्रसाद जी ने नाटकों के अन्तर्गत गीत तत्व पर जितना अधिक ध्यान दिया, उतना वाद्य और नृत्य पर नहीं। कवि होने के कारण उन्होंने

१—विशाख : प्र० अंक, पृ० २६।

२—अजातशत्रु : द्वि० अंक, पृ० ७८।

३—स्कन्दगुप्त : प्र० अंक, पृ० १५।

४—ध्रुवस्वामिनी : द्वि० अंक, पृ० ३८-३९।

५—कामना : द्वि० अंक, पृ० ६४।

६—विशाख : द्वि० अंक, पृ० ४५।

७—जनमेजय का नागयज्ञ : द्वि० अंक, पृ० ५८।

८—देखिये तृतीय अध्याय।

गीत तत्व में नवीन सौन्दर्य की अभिवृद्धि की तथा उसे नूतन कलेवर प्रदान किया किन्तु नृत्य में वह कोई नवीनता नहीं ला सके। यही कारण है कि नृत्य-योजना में वह पूर्व-प्रचलित सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ सके हैं।

गीत के प्रकार :

प्रसाद के नाटक-गीतों में गीत के प्रकारों की उतनी विविधता नहीं है जितनी कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में थी। प्रसाद के गीत अधिकतर छायावादी शैली से प्रेरित हैं। उनमें लोकगीत जैसा सारल्य नहीं है। क्योंकि यह गीत आधुनिक संक्रान्तिकालीन छायावादी कवि की प्रेरणा-शक्ति के परिणाम हैं अत: लावनी, चेता, खेमटा आदि का सरल, स्वाभाविक सौन्दर्य उनके गीतों में नहीं है। मुख्यत: निम्न गीत-प्रकार उनके नाटकों में उपलब्ध होते हैं—(१) ठुमरी, (२) गजल, (३) कजली।

'राज्यश्री' का प्रथम गीत 'प्यास बुझी न कभी मन की रे' धुन-ठुमरी में ही बाँधा गया है।[१] 'अजातशत्रु' का 'पलट गए दिन' ग़ज़ल से ही प्रभावित है। 'चन्द्रगुप्त' के 'आज इस यौवन के......' तथा 'सुधा-सीकर से नहला दो' गीत कजली की धुन पर आधारित हैं।[२] इस प्रकार मधुर प्रकृति के गीतों को ही इन गीत-प्रकारों में बांधा गया है। मधुर तथा सौन्दर्याकर्षण से युक्त तथा सरल, सरस किन्तु प्रवाहपूर्ण संगीतमय गीत प्रसाद को अधिकतर रुचिकर थे। उनके मित्र रायकृष्णदास का कथन है कि 'भारी भरकम गाना उन्हें पसन्द न था। ठुमरी, दादरा के प्रेमी थे किन्तु चुटीला गाना हो तभी और स्वर के साथ साहित्य भी। केवल स्वर उतना न रुचता।'[३] यही कारण है कि उनके अधिकतर गीत प्रेम और शृंगार के विविध रूप उपस्थित करते हैं। कुछ गीतों को छोड़ कर प्राय: उन्होंने स्वर और साहित्य, संगीत और काव्य की सुरक्षा की है।

प्रसाद का संगीत-ज्ञान :

यह प्रश्न स्वाभावत: सामने आ जाता है कि क्या प्रसाद को संगीत का समुचित ज्ञान था ? इसका उत्तर स्वयं उनके नाटकों एवं गीतों से मिल जाता है। प्रसाद के पास भावुक कवि के साथ-साथ संगीतकार का हृदय भी था तभी तो वे आवश्यकतानुसार अपने संगीत-प्रेमी पात्रों से ऐसे कथोपकथन कहला देते हैं जिनमें उनका कवि रूप संगीतज्ञ बन जाता है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना जब भावमग्न होकर कहती है—प्रत्येक परिमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है।..............पक्षियों को देखो, उनकी 'चह चह', 'कलकल', 'छलछल' में, 'काकली 'रागनी है'[४] तो यह लगता है कि प्रसाद स्वयं अपनी विचारधारा को, अपनी भावनाओं

१—राज्यश्री : पृ० ८१ (स्वरलिपि)
२—चन्द्रगुप्त : पृ० २३०-२३१ (स्वरलिपि)
३—प्रसाद का साहित्य : सं० कृष्णदेव प्रसाद गौड़, पृ० २०।
४—स्कन्दगुप्त : पृ० ५३।

को दूसरे के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं। ये 'विश्व के प्रत्येक कम्पन में एक ताल' का अनुभव करते हैं। उनका हृदय 'युद्ध में भी गीत' सुनता है और प्रकृति के कण-कण में नृत्य, संगीत, ताल और लय का श्रवण करके झूम उठता है। जिस कवि और नाटककार के पास ऐसी संगीतमयी उदार दृष्टि एवं हृदय हो उसके नाटकों में संगीत की लहरमयी तान क्यों न गूंजेगी। यही कारण है कि प्रसाद के नाटक-गीत विविध राग-रागनियों में वद्ध हैं तथा उनके घनिष्ट मित्र मुनीम जी द्वारा गीतों की स्वर-लिपियां अन्त में दी गयी हैं। इन स्वरलिपियों तथा शास्त्रीय रागों में प्रसाद जी का भी सहयोग अत्यधिक रहा है। ऐसी सूचना प्रसाद के घनिष्टतम मित्र श्री रायकृष्णदास जी द्वारा प्राप्त हुई है। इनका कथन है कि मुनीम जी किसी गीत को एक राग में वांधते थे—फिर प्रसाद और वह साथ बैठकर गीत गा-गाकर उस पर विचार करते थे तथा आवश्यकतानुसार प्रसाद उसमें परिवर्तन भी किया करते थे। इस सूचना के प्रमाणार्थ रायकृष्णदास जी की निम्न पंक्तियां प्रसाद के संगीत-प्रेम तथा ज्ञान पर प्रकाश डालती हैं—

'महीन आवाज़ थी और उसमें दर्द था, खटका था। जो धुन उन्हें पसन्द थी, कभी-कभी गुनगुनाते जिसे सुनते ही बनता।'[1] इस कथन से यह तो ज्ञात होता ही है कि प्रसाद गायक थे। उनके इसी स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए डा० भोलानाथ तिवारी ने कहा है—'प्रसाद जी संगीत के प्रेमी थे, विशेषत: शास्त्रीय संगीत उन्हें वहुत पसन्द था। वे निस्संकोच भाव से सिद्धेश्वरवाई वेश्या के यहां कभी-कभी संगीत का आनन्द लेने जाते थे। स्वयं भी कभी-कभी संस्कृत के श्लोकों को वड़े आकर्षक ढंग से स्वान्त:सुखाय गाते थे।'[2] सिद्धेश्वरवाई जैसी शास्त्रीय संगीत में पारंगत संगीतज्ञ के सहयोग से प्रसाद के संगीतज्ञ पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनके गीतों की पंक्तियों में स्थान-स्थान पर शास्त्रीय रागों, संगीत के अन्य पारिभाषिक शब्दों के जो समुचित प्रयोग मिलते हैं तथा वाद्यों का जो उल्लेख उनके गीतों में उपलब्ध होता है, उन प्रयोगों से यह निश्चय ही मानना पड़ता है कि प्रसाद संगीतज्ञ थे और शास्त्रीय संगीत से विशेषत: प्रभावित थे। निम्नांकित विवेचन द्वारा उनके इस स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। अस्तु—

संगीत सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख :

प्रसाद के नाटकों के अधिकतर गीतों में संगीत-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है जिससे उनके संगीत-ज्ञान का परिचय मिलता है। नाद, श्रुति, मूर्च्छना, तान, सप्त-स्वर, सरगम, आरोह-अवरोह, राग-रागिनी, नृत्य, राग-नाम-विशेष तथा अन्य पारि-भाषिक शब्दों का उल्लेख उन गीतों में मिलता है। इस संगीत-सामग्री से सम्बन्धित गीतों की कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की जाती हैं—

१—प्रसाद का साहित्य : सं० कृष्णदेव प्रसाद गौड़, निवन्ध 'प्रसाद-कलाकार' पृ० २०

२—कवि प्रसाद : डा० भोलानाथ तिवारी : पृ० १८।

१४३ : जयशंकर प्रसाद के नाटकों से संगीत

१—हृदय के कोने-कोने से[1]
स्वर उठता है **कोमल मध्यम**, कभी **तीव्र** होकर भी **पंचम**

२—कुंज में वंशी बजती है।
स्वर में खिंचा जा रहा मन, क्यों बुद्धि वरजती है।
संध्या **रागमयी, तानों** का भूषण सजती है।[2]

३—फूलों पर **आनन्द-भैरवी** गाते मधुकर वृन्द।[3]

४—**मींड़** मत खिंचे बीन के तार।
निर्दय उंगली। अरी ठहर जा
पल भर अनुकम्पा से भर जा
यह मूर्छित **मूर्च्छना** आह-सी
निकलेगी निस्सार।[4]

५—**शुद्ध नाद** था बड़ा सुरीला, कोई विकृति न थी उसमें।
कौन कल्पना करके उसमें **मींड़** लगाकर गाता है।[5]

६—ओ मेरी जीवन की स्मृति। ओ अन्तर के आतुर अनुराग।
बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर **राग** ?
चेतन सागर उर्मिल होता यह कैसी **कम्पनमय तान**।
यों अधीरता से न **मींड़** लो अभी हुए हैं पुलकित प्रान।[6]

७—न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन-तार कोकिल
करुण **रागिनी** तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल।

× × ×

सुनी बहुत **आनन्द-भैरवी**
विगत हो चुकी निशा-माधवी।[7]

८—वंशी को बस बज जाने दो
मीठी **मीड़ों** को आने दो।[8]

१—विशाख : तृ० अंक, पृ० ९२। २—वही, प्र० अं०, पृ० २६।
३—अजातशत्रु, द्वि० अंक, पृ० ७८। ४—वही, द्वि० अंक, पृ० ५८।
५—जनमेजय का नागयज्ञ : द्वि० अंक, पृ० ४८।
६—चंद्रगुप्त : च० अंक, पृ० १८६।
७—स्कन्दगुप्त : प्र० अंक, पृ० १५।
८—स्कन्दगुप्त : तृ० अंक, पृ० ९४।

९—सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे छिड़ा तव मधुर साम संगीत ।[1]

१०—पथिक उनींदी श्रुति में किसने
यह विहाग की तान उठाई ।[2]

११—पद-पद पर तांडव नर्तन हो, स्वर सप्तक होंवे लय सारे ।
भैरव-रव से हो व्याप्त दिशा, हो कांप रही भय-चकित निशा ।[3]

१२—जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया ।[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद के गीतों में संगीत और काव्य का अपूर्व समन्वय है । संगीत के विविध शब्दों, अंगों, भेदों तथा राग-रागिनियों का उन्होंने समुचित तथा उपयुक्त स्थलीय प्रयोग किया है । उससे उनका संगीत-कौशल ही प्रकट होता है । 'मीड़' शब्द का प्रयोग उन्होंने प्राय: किया है । 'किसी एक स्वर से दूसरे स्वर तक आवाज को मिलते हुए जाने को मींड़ कहते हैं । मींड़ में बीच के स्वर छूते तो जाते हैं किन्तु उनमें से कोई पृथक् पता नहीं चलता, जैसे पंचम से गांधार की मींड़ में मध्यम पृथक् नहीं पता चलेगा परन्तु आवाज प रे ग तक मिली हुयी आएगी ।'[5] संगीत की मार्मिकता, प्रभाव तथा माधुर्य में मींड़ का बहुत महत्व है । सम्भवत: इसी कारण प्रसाद ने अपने पात्रों के हृदय की करुण व्यथा और हर्षोल्लास के साथ 'मीड़' का यथावसर प्रयोग कर लिया है । वस्तुत: कवि होने के कारण प्रसाद ने 'कविता के लिये भाव, ओज, संगीत तथा आह्लादकता आदि को आवश्यक माना है ।'[1] इसी सिद्धान्त तथा उनकी संगीतमय प्रकृति के कारण उनके नाटकों के पात्र ही संगीतमय नहीं हैं वरन् उनके गीतों में भी संगीत का तरल प्रवाह है ।

शास्त्रीय राग-रागिनियां :

प्रसाद के नाटक-गीत उनके मित्र द्वारा विविध शास्त्रीय राग-रागनियों तथा तालों में बांधे गए हैं । राग खमाच, जौनपुरी-टोड़ी, सिन्ध-भैरवी, मिश्रित भैरवी, सोहनी, विहारी, काम्हरा, भीमपलासी, झिंझौटी-खम्माच, भूपाली-कहर्वा, पीलू जंगला, धुन गारा, विहाग, अल्हैया मिश्रित, मांड, पूर्वी, देशमलार, भूपकल्याण, देवगिरी विलावल इत्यादि उनके नाटकों में प्रयुक्त हुए हैं जिनकी स्वर-योजना उनके नाटकों के अन्त में ही प्रसाद के घनिष्ट मित्र तथा संगीताचार्य श्री लक्ष्मणदास 'मुनीम' जी के द्वारा दी गयी है । विशेषता यही है कि गीत के स्वभाव को पहचानने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है । जो गीत साधारण, चलते हुए हैं, उन्हें किसी राग विशेष में न बांधकर ... तो चलती धुन में बांध दिया गया है अथवा इंगलिश ट्यून में । उदाहरणार्थ,

वस्तुत: जो ध्वनि स्पष्ट हो, एक दूसरे से अलग पहचानी जा सके, और संगीतोपयोगी हो उसे श्रुति कहते हैं—

नित्यं गीतोपयोगित्वभीमज्ञेयत्वमप्युत् ।
लक्ष्ये प्रोक्तं सुपर्याप्तं संगीत श्रुतिलक्षणम् ॥[1]

अंग्रेजी में श्रुतियों को (Quarter tone) कहते हैं। भारतीय अचार्यों के अनुसार श्रुति नाद के वश में होती है और स्वर का कारण होती है—

श्रुतिर्नाम भवेन्नादविशेषः स्वरकारणम् ।[2]

श्रुतियां संख्या में २२ मानी गयी हैं। इन्हीं से स्वरों की उत्पत्ति होती है। श्रुतियां स्वरों से पृथक् नहीं हैं, वे अभिन्न हैं—

श्रुतयः स्युः स्वरभिन्ना श्रावणत्वेन हेतुना ॥[3]

आकाश में जैसे पक्षियों की गति है ठीक उसी प्रकार स्वर में श्रुति की गति कहलाती है। श्रुति नाद के वश में उसकी आश्रित कला है जो सूक्ष्मरूपेण स्वर में स्थित रहती है—

गगने पक्षिणां यद्वत्तद्वच्छ्वरगता श्रुतिः ।
श्रुतिर्नादवशा प्रोक्ता तथा या च कला मता ॥[4]

तात्पर्य यह कि एक शब्द को सुनते समय हमें जो पहला छोटा भाग सुनाई पड़ता है वही श्रुति कहलाता है। यही यदि लगातार सुनाई पड़े तो वह स्वर का रूप धारण कर लेता है—

प्रथमः श्रवणात् शब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः ।
सा श्रुतिः सपरिज्ञेया स्वरावयय लक्षणा ॥[5]

स्वरः—स्वर और श्रुति में सूक्ष्म अन्तर है। श्रुतियां अधिक सूक्ष्म होती हैं—स्वर में ध्वनियां अलग और स्पष्ट होती हैं। श्रुति की ध्वनि में ठहराव कम होता है, स्वर की ध्वनियों में अधिक ठहराव होता है। श्रुतियों को लगातार उत्पन्न करने से स्वर की उत्पत्ति होती है। स्वर का मुख्य गुण माधुर्य एवं रंजनात्मकता है। यह स्वाभाविक रूप से स्वत: श्रोताओं को आकर्षित करने का गुण रखता है।

रञ्जयन्ति स्वतः स्वान्तं श्रोतृणामिति ते स्वराः ॥६३॥[6]

१—अभिनवरागमंजरी : पं० विष्णु शर्मा, १९२१ ई०, पृ० ३, छन्द २९।

२—वैकंठभैरवी : भरतकोश, पृ० ६८३।

३—संगीत दर्पण : दामोदर, पृ० १३।

४—संगीत पारिजात : अहोबल, पृ० १७।

५—वही, पृ० १४।

६—वही, पृ० १८।

'विशाख' में तरला और महापिंगल का 'मेरे मन को लुभा के कहां को चले' गीत राग-बद्ध नहीं है वरन् उसके लिए चलताऊ धुन और कहरवा ताल का प्रयोग किया है।[1] चलताऊ धुन के साथ कहरवा का ठेका अत्यन्त उपयुक्त बैठता है क्योंकि उसकी द्रुत लय होती है। इसी प्रकार 'लगा दो गहने का बाजार' जैसे साधारण गीत को भी इंगलिश ट्यून तथा कहरवा ताल में बांधा है।[2] इसे हम प्रसाद पर उनके समय का प्रभाव भी मान सकते हैं क्योंकि हिन्दी नाटकों में विशेषकर रंगमंचीय नाटकों में चलताऊ गीतों एवं धुनों की परम्परा निरन्तर चल रही थी।

कथावस्तु और संगीत का सम्बन्ध :

नाटक की कथावस्तु में नाटककार को प्रमुखतः उसकी नाटकीयता एवं आकर्षण पर ध्यान देना होता है क्योंकि नाटक अभिनय की वस्तु है। उसका सम्पूर्ण परिवेश अभिनय की दृष्टि से निर्मित होता है। कथावस्तु के सौन्दर्य की वृद्धि में संगीत भी अत्यावश्यक अंग बन सकता है यदि उसका प्रयोग समय और परिस्थिति का ध्यान रखते हुए उचित रूप में किया जाय। संगीत अपने प्रभाव, लोकप्रियता तथा आकर्षण के लिये विश्वप्रसिद्ध है। अतएव उपयुक्त संगीत अपने अपूर्व आकर्षण-विमोहन द्वारा नाटक के कथानक का तादात्म्य दर्शकों के हृदय से कर सकता है, वह मधुर एवं प्रभावपूर्ण वातावरण की सृष्टि कर सकता है, एक प्रकार से दर्शकों को नवीन भाव-लोक में ले जा सकता है। संगीत के तीनों अंग गीत, वाद्य, नृत्य-कथावस्तु के अभिन्न अंग बन सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि सूक्ष्मदर्शी नाटककार अनुकूल स्थिति की परीक्षा कर सके। गम्भीर, शुष्क वातावरण वाले राजनीतिक या दार्शनिक कथानक में संगीत का स्वरूप एवं औचित्य दूसरा होगा और ऐतिहासिक, रोमांटिक या धार्मिक वातावरण वाले कथानक में संगीत दूसरे प्रकार का होगा। क्योंकि संगीत जहां उचित वातावरण की सानुकूलता में प्रभावशाली हो सकता है वहां उसका अनुचित, अव्यवस्थित और अनावश्यक प्रयोग कथावस्तु को प्रभावहीन भी कर सकता है। अभिनय की दृष्टि से भी स्थान-स्थान पर पात्रों का गाने-नाचने या वाद्य बजाने लगना जहां अस्वाभाविक और अशोभनीय लगता है वहां कथावस्तु की गति, सौन्दर्य तथा प्रभावपूर्णता में बाधक सिद्ध होता है जिससे नाटककार की अपरिपक्वता का ही आभास होता है। अतएव कथानक के अनुकूल, समय तथा परिस्थिति के अनुरूप उचित स्थलों पर ही प्रयुक्त श्रेष्ठ कोटि का संगीत ही कथावस्तु को सप्राण, सजीव एवं सुन्दर बनाने में समर्थ हो सकता है। इस दृष्टि से नाटक की कथावस्तु में संगीत के निम्न उद्देश्य होने चाहिए—

१—वातावरण का निर्माण करना

२—कथानक की आवश्यक मांग की पूर्ति करना।

१—विशाख : पृ० ११९ (स्वरलिपि)   २—वही, पृ० ११७ (स्वरलिपि)

३—कथावस्तु को मोड़ प्रदान करना

४—कथानक में कार्य-व्यापार की तीव्रता उत्पन्न करना।

प्रसाद : कथावस्तु और संगीत :

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में संगीत और कथावस्तु का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया था किन्तु उनके समकालीन नाटकों में कथानक की दृष्टि से अनावश्यक और अस्वाभाविक संगीत की ही भरमार थी। संगीत की वहुलता, एक ही अंक अथवा दृश्य में कई गीत होना, एक ही पात्र का समय-असमय गाने लगना इत्यादि दोष नाटकों में विद्यमान थे जो नाटकीयता में बाधक थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद इन सब दोषों से मुक्त हैं। 'राज्यश्री' और 'ध्रुवस्वामिनी' को छोड़कर उनके सभी नाटक गीतों से बोझिल हैं। प्रसाद का यह कवि रूप उनके नाटकों में कहीं तो कथा के साथ चलता है और कभी उससे पृथक् स्वतंत्र रूप में। जहां तक गीतों की नाटकीय प्रसंगानुकूलता का प्रश्न है, वहां तक यह निश्चित है कि सभी गीत प्रसंगानुकूल हैं किन्तु मुख्य बात यह है कि क्या उनके सभी गीत नाटकीय माँग को पूरा करने वाले हैं ? इस दृष्टि से उनके नाटकों में दोनों प्रकार का संगीत उपलब्ध होता है—

१—कथावस्तु, समय और परिस्थिति की मांग का पूरक।

२—नाटकीय आवश्यकता से दूर तथा कवि की रंगीन कल्पना का परिमाण मात्र।

जो संगीत कथावस्तु एवं परिस्थिति की मांग के रूप में उपस्थित हुआ है, नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत उसके विविध उद्देश्य हैं, यथा—

१—कथावस्तु को नवीन मोड़ प्रदान करना

२—कथावस्तु को गति प्रदान करना

३—कथावस्तु में वातावरण का निर्माण करना।

प्रसाद के केवल एक नाटक में संगीत का वह रूप भी उपलब्ध होता है जिसके कारण कथावस्तु के चलते हुए प्रवाह में अकस्मात् एक मोड़ आ जाता है। वस्तुत: नाटक के अन्तर्गत मोड़ लाने के लिए नाटककार को संगीत से बहुत सहायता मिल जाती है। प्रसाद ने 'राज्यश्री' नाटक के तृतीय अंक में नेपथ्यगीत [1] से व्यथा को मोड़ देने में सहायता ली है। राज्यश्री दस्यु-जनों के जाल में फंसकर अपने जीवन का अन्त करना चाहती है, साथ ही दस्यु जन राज्यश्री को वेचकर धन ग्रहण करना चाहते हैं। ऐसे समय दिवाकर मित्र नेपथ्य से 'अब भी चेत ले तू नीच' [2] गीत गाता है, गीत सुनकर दस्यु-जनों को चेतना आती है, वे राज्यश्री को छोड़ देते हैं तथा शांति की

१—देखिए अध्याय तृतीय।

२—राज्यश्री, तृ० अं०, पृ० ५७।

खोज करते हैं। दूसरी ओर राज्यश्री जो आत्महत्या के लिए प्रस्तुत थी, जीवन से निराश थी, वह भी गीत गाकर प्रवेश करते हुए दिवाकर मित्र के वचनों से आश्वस्त होती है और हताहतों की सेवा में रत हो जाती है। इस प्रकार जहां कथावस्तु में दस्युओं के अत्याचार तथा राज्यश्री की आत्महत्या का दृश्य आने वाला था वहां इस गीत के द्वारा कथा शांति, कर्म और सेवा की ओर मुड़ जाती है। कथा-स्रोत अन्य पथ से प्रवाहित होने लगता है।

कथावस्तु को गति प्रदान करनेवाला संगीत प्रसाद के नाटकों में अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सुवासिनी के 'आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा'[1] गीत द्वारा कथावस्तु के प्रवाह को गति प्राप्त होती है। इसी गीत की मादकता के प्रभाव से नन्द कामुक जैसी चेष्टा करता है जिससे सुवासिनी की रक्षार्थ राक्षस रंगमंच पर प्रविष्ट होता है। इस परिस्थिति में नन्द और राक्षस का सामना होने से कथा में संघर्ष और कौतूहल की सृष्टि होती है तथा गति मिलती है।

इसी प्रकार चतुर्थ अंक में एक अन्य गीत द्वारा भी कथावस्तु गतिशील होती है। राक्षस चूंकि सुवासिनी से प्रेम करता है अतएव वह चाणक्य और सुवासिनी के बाल्य-परिचय तथा पारस्परिक आकर्षण की बात भुला नहीं पाता तथा चाणक्य के विषय में सोचता रहता है इसी समय नेपथ्य से यह गीत होता है—

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला ?
पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला।[2]

इस गीत को सुनते ही राक्षस और अधिक उत्तेजित हो जाता है तथा चाणक्य के प्रति उसकी कटुता अधिक तीव्र हो जाती है और वह तुरन्त चाणक्य से टक्कर लेने के लिए तत्पर हो जाता है। इस प्रकार प्रजा को भड़काने की सामग्री एकत्रित करने लगता है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में पहाड़ की तराई में मनसा और सखियों का समूह-गान 'क्या सुना नहीं कुछ अभी पड़े सोते हो ?'[3] कथावस्तु को प्रवाहमयी बनाने में सहायक है। इसी गीत के द्वारा मनसा नाग-सैनिकों को उत्तेजित करती है। गीत द्वारा प्रोत्साहन पाकर नाग सैनिक उसका साथ देने को तत्पर हो जाते हैं और मनसा नाग-जाति की सुरक्षा का भार वहन करने लगती है। सारे नाग सैनिक इस बात का निर्णय कर लेते हैं कि वे उपहार लेकर जनमेजय की अगवानी करने नहीं जायेंगे किन्तु मारेंगे और मर जायेंगे। कथा को यह गति इस गीत द्वारा ही मिलती है।

१—चन्द्रगुप्त : तृ० अंक : पृ० १५५।
२—वही, पृ० १७९।
३—जनमेजय का नागयज्ञ : तृ० अंक, पृ० ८३।

'अजातशत्रु' में श्यामा के नृत्य एवं गीत 'चला है मन्थर गति से पवन रसीला'[1] द्वारा भी कथानक में गति एवं प्रवाह की सृष्टि हुई है। इस नृत्य एवं गीत द्वारा ही श्यामा समुद्रदत्त को मोहित करती है तथा उसे अपने नृत्य की मोहकता से बद्ध कर मोहरों की थैली देकर दण्डनायक के पास जाने की प्रार्थना करती है ताकि वहां दण्डनायक के हाथों उसकी हत्या हो सके। इस प्रकार यह संगीत कथावस्तु को बढ़ाने में सहायता प्रदान करता है।

कहीं-कहीं प्रसाद का नाटक-संगीत वातावरण-निर्माण करने में भी सहायक हुआ है। वातावरण-निर्माण की दृष्टि से प्रसाद का सर्वोत्तम नाट्य-गीत 'आह! वेदना मिली विदाई'[2] है। देवसेना की हृदय-वेदना नाटकीय वातावरण पर छा जाती है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि देवसेना के जिन अन्तिम वाक्यों से नाटक का अन्त होता है ('कष्ट हृदय की कसौटी है—सब क्षणिक सुखों का अन्त है।——मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!') उन्हीं के द्वारा नाटकान्त में व्याप्त उदासी, निराशा और वेदना का आभास अन्त से पूर्व ही इस गीत में हो जाता है तथा यह गीत नाटकान्त के उस वातावरण को और अधिक प्रभावशील बनाने में सहायक होता है। जयनाथ नलिन का कथन उपयुक्त ही है कि 'यह गीत धुँधलके, निराश वातावरण में सिसकियां भरे स्वर बिखरा जाता है। दर्शक या पाठक की धड़कन में कितनी ही देर तक यह गीत नाटक का अन्तिम प्रभाव छोड़ने के लिए बहुत ही सफल है।'[3]

इसी नाटक का अन्य महत्वपूर्ण गीत नर्तकियों का 'न छेड़ना उस अतीत स्मृति से' गीत है। गीत की आगे की पंक्तियां जब गायी जाती हैं कि—

सुनो बहुत आनन्द-भैरवी
विगत हो चुकी निशा-माधवी
रही न अब शारदी भैरवी
न तो मघा की फुहार कोकिल।[4]

तो इस गीत के माध्यम से ही एक ओर गुप्त साम्राज्य के आनन्दमय अतीत एवं दूसरी ओर वर्तमान की शिथिलता तथा उदासी का-सा चित्र खिंच जाता है। कुमार-गुप्त की वृद्धावस्था तथा विलासिता के कारण होने वाली इस स्थिति का चित्रांकन करके यह गीत तदनुरूप वातावरण की सृष्टि करता है। इसी प्रकार तृतीय अंक में श्मशान का वातावरण चित्रित करने के लिए नेपथ्य-गान होता है—

१—अजातशत्रु, द्वि० अंक, पृ० ७८।
२—स्कन्दगुप्त, पं० अंक, पृ० १६५।
३—हिन्दी नाटककार : प्रो० जयनाथ नलिन, १९५२ ई०, पृ० ७५।
४—स्कन्दगुप्त : प्र० अंक, पृ० १५।

'सब जीवन बीता जाता है
धूप-छांह के खेल सदृश।'[1]

इस गीत से श्मशान का दृश्य तो प्रभावपूर्ण बनता ही है किन्तु साथ ही देवसेना के सम्मुख जीवन की नश्वरता, समय की अस्थिरता, आदि की वह पृष्ठभूमि बन जाती है जिसका वर्णन प्रपंचबुद्धि देवसेना के सामने करता है ताकि देवसेना अपनी बलि देने को प्रस्तुत हो सके।

इस प्रकार एक ओर प्रसाद के नाटकों का संगीत कथावस्तु का अनिवार्य अंग है, दूसरी ओर उसका अनावश्यक प्रयोग भी है जो कथावस्तु की गति में, स्वाभाविकता में बाधक है। उदाहरणार्थ 'विशाख' में स्थान-स्थान पर गीतों का अवांछनीय प्रयोग है। जिससे कार्य-व्यापार में शिथिलता तो आती ही है, अभिनय भी दूषित होता है। जो भी पात्र आता है, गाते हुए ही आता है। नाटक के प्रथम अंक में ही महंत,[2] सुश्रवा नाग,[3] महापिंगल[4] पात्र गाते हुए प्रवेश करते हैं। तीनों के गीतों का कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार तरला और महापिंगल का गीत[5] भी सर्वथा व्यर्थ की भरमार है जिनके अभाव में ही नाटक अच्छा बन सकता था।

'अजातशत्रु' के प्रथम अंक के पांचवें दृश्य के तीन-चार पृष्ठों में ही तीन-तीन गीत[6] कथावस्तु में बाधक लगते हैं तथा उनसे नाटक की स्वाभाविकता भी नष्ट होती है। स्कन्दगुप्त' में देवसेना का लम्बे-लम्बे स्वगत तथा संवाद के बाद गाने लगना भी अत्यन्त अस्वाभाविक है।[7] इससे कथावस्तु की शिथिलता ही स्पष्ट होती है। इसी प्रकार विजया का अपने आप कुछ बोलकर अनायास ही गाने लगना अनावश्यक है।[8]

अनावश्यक संगीत का दोष 'चन्द्रगुप्त' में भी कहीं-कहीं उपलब्ध होता है। प्रथम अंक में सुवासिनी के गीत के तुरन्त बाद राक्षस का 'निकल मत बाहर दुर्बल आह'[9] गीत कार्य-व्यापार में भी शिथिलता उत्पन्न करता है, साथ ही इस गीत का कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है, न उसकी अपेक्षा है। अलका का 'बिखरी किरन अलक व्याकुल हो'[10] गीत भी केवल उसके 'गाने की इच्छा' का परिणाम मात्र है। कथानक में उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में एक ही पृष्ठ

१—स्कन्दगुप्त : तृतीय अंक, पृ० ९४।

२—विशाख : प्र० अंक, पृ० १६। ३—वही, पृ० १८।

४—वही, पृ० २३। ५—विशाख, द्वि० अंक, पृ० ४९।

६—अजातशत्रु : प्र० अंक : पृ० ४२-४३।

७—स्कन्दगुप्त : पं० अंक : पृ० १४९। ८—वही, तृ० अंक : पृ० ८९।

९—चन्द्रगुप्त : प्र० अंक, पृ० ६४-६५। १०—वही, द्वि० अंक, पृ० १२८-२९।

पर मालविका के दो-दो गीत[1] नाटकीयता में बाधक हैं तथा कवि की भावुकता का ही परिणाम है। इन दोनों गीतों को निकालकर यदि केवल 'ओ मेरी जीवन की स्मृति' गीत ही रहने दिया जाता तो भी मालविका की अनुभूतियों का, उसके उत्सर्ग का परिचय मिल जाता, साथ ही कथानक अधिक प्रभावपूर्ण एवं गतिशील बना रहता। 'जनमेजय का नागयज्ञ' के तृतीयांक के द्वितीय दृश्य में एक साथ दो गीत -[2] एक प्रमदा द्वारा और दूसरा कलिका द्वारा गाया गया—पूर्णतः व्यर्थ है। कथा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, केवल बैठे-बैठे गाने लगना ही उनका उद्देश्य है। ऐसे गीत कथा-प्रवाह में बाधा डालते हैं तथा निरर्थक सिद्ध होते हैं। दोनों गीत केवल महादेवी वपुष्टमा की गीत सुनने की इच्छा को पूर्ण करते हैं। 'कामना' के गीत भी स्थान-स्थान पर गाए जाते हैं क्योंकि कहीं किसी पात्र की स्वयं गाने की इच्छा होती है और कहीं कोई पात्र गाना सुनने की इच्छा प्रकट करता है। तात्पर्य यह कि प्रसाद के नाटक-संगीत में कथावस्तु की दृष्टि से उपयुक्तता, स्वाभाविकता, आवश्यकता एवं प्रभावशीलता भी है। और कहीं-कहीं अनुपयुक्तता, अस्वाभाविकता और अनावश्यकता भी, जिसका कारण उनकी भावुकता, कल्पना एवं तत्कालीन परम्परा का प्रभाव ही माना जा सकता है।

चरित्र-चित्रण और संगीत का सम्बन्ध—

नाटक के अन्तर्गत पात्रों के चरित्र-चित्रण से संगीत का अत्यन्त घनिष्ट संबंध है। संगीत के माध्यम से पात्रों की विविध चारित्रिक विशेषतायें, उनकी कला-प्रियता गुण-अवगुण, मान्यतायें, आस्थायें, विभिन्न मनोदशायें तथा मानसिक भूमि की सूक्ष्मतम रेखायें अप्रत्यक्ष रूप में व्यंजित हो जाती हैं जो पात्र की मन:स्थिति से दर्शकों के चित्त का तादात्म्य करने में समर्थ होती हैं और लोक रुचि का परिमार्जन करती हैं। पात्र का अन्तर्द्वन्द्व, हृदय की पीड़ा, कसक, घुटन, हलचल का जितना आभास दर्शकों को संगीत के यथावश्यक तथा यथास्थान प्रयोग द्वारा हो सकता है उतना अन्य आधार से नहीं। यद्यपि नाटक का प्रत्येक पात्र गायक हो, अथवा संगीत प्रेमी हो यह अवश्य अस्वाभाविक है किन्तु फिर भी साधारणतः जीवन क्षेत्र में संगीत से अज्ञान व्यक्ति भी विशेष मन:स्थिति में गुनगुनाया करते हैं। कुछ गा नहीं सकते तो संगीत सुनने में ही आनन्द विभोर हो जाते हैं। अतएव नाटक के कुछ पात्र यदि संगीत-प्रिय हैं अथवा गायक हैं तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। सभी पात्र स्वयं ही गायें यह भी आवश्यक नहीं है। नेपथ्यगीत, अन्य पात्र-गीत, पार्श्व-संगीत, वाद्य-ध्वनि, नृत्य इत्यादि के द्वारा पात्रों की गहन अनुभूतियों को मूर्त किया जा सकता है

१—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १८५।

२—जनमेजय का नागयज्ञ : पृ० ८०-८१।

और इसी में नाटककार की कुशलता है। नाटक में पात्र के लिए कथोपकथन के अतिरिक्त अन्य माध्यम संगीत ही है।

इस प्रकार नाटक के अन्तर्गत चरित्र-चित्रण की दृष्टि से संगीत द्वारा निम्न कार्य सिद्ध हो सकते हैं—

१– संगीत द्वारा चारित्रिक विशेपताओं, रूप-गुण-सौन्दर्य, आदि की अभिव्यक्ति

२—संगीत द्वारा पात्र की अन्तस्थ भावनाओं तथा विविध मनोदशाओं का चित्रण

३—पात्र के अन्तर्द्वन्द्व की व्यंजना

४—संगीत के माध्यम से पात्र के चारित्रिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति।

प्रसाद : चरित्र-चित्रण और संगीत :

प्रसाद का संगीत यद्यपि उनके भावोच्छ्वास तथा कल्पना-वैभव की रंगीनी के प्रतीक हैं, किन्तु वे कोरे काल्पनिक अथवा उच्छ्वास-मात्र नहीं हैं। उनका मानवीय भावों से गहन सम्बन्ध है। अतएव पात्रों के चरित्र की सूक्ष्मतम विशेपताओं के उद्घाटन में प्रसाद ने संगीत से सहायता ली है। उन्होंने गीतों के माध्यम से ही पात्रों के अनेक मनोभावों, प्रेम, तिरस्कार, अनुनय, दीनता, विवशता, विरह, हर्ष-शोक, वीरता आदि की कलात्मक अभिव्यंजना की है। प्रसाद ने संगीत का सर्वाधिक प्रयोग चरित्र-चित्रण के लिए ही किया है। प्रमुख रूप में पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में उनका नाट्य-संगीत निम्न रूपों में सहायक हुआ है—

१—पात्रों के मनोभावों का प्रदर्शन

२—पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति

३—चारित्रिक विशेपताओं का उद्घाटन

४—किसी पात्र के जीवन का क्रमिक इतिहास

५—चारित्रिक परिवर्तन।

प्रसाद के संगीत का घनिष्टतम सम्बन्ध पात्रों की मानसिक दशाओं एवं मनोभावों से है। उनके संयमी प्रेम साधकों की गहन अनुभूतियाँ और तन्मयता उनके गीतों में फूट पड़ती है। कल्याणी, मालविका, देवसेना, कोमा इसी प्रकार की साधिकायें हैं जो पूर्ण निःस्वार्थ प्रेम एवं आत्म-बलिदान में विश्वास करने वाली है। नन्द-वंश के विनास से आकुल तथा विरोधी चन्द्रगुप्त के प्रति अनन्य प्रेम भाव रखने वाली कल्याणी जब गाती है—'सुधा सीकर से नहला दो'[1] तो ऐसे संक्षिप्त और भावपूर्ण गीत में चन्द्रगुप्त के प्रति उसकी कोमल भावनाओं का संकेत मिल जाता है। दूसरी ओर अपने प्रिय के लिए आत्मोत्सर्ग करनेवाली मालविका अन्तिम समय चन्द्रगुप्त की शैय्या पर बैठकर गाती है—

१—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १७१।

ओ मेरी जीवन की स्मृति।
ओ अन्तर के आतुर अनुराग।[१]

तो उस गीत में चन्द्रगुप्त के प्रति उसके मनोभाव की गम्भीरता एवं उसके चरित्रादर्श की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रिय के लिए प्राण देने में भी उसे आनन्दानुभूति होती है, इसी कारण वह गाती है कि—

चेतन सागर उर्मित होता यह कैसी कम्पनमय तान।
यों अधीरता से न मोड़ लो अभी हुए हैं पुलकित प्रान।

मनोभावों के प्रदर्शन की दृष्टि से सर्वोत्तम गीत देवसेना के हैं। देवसेना प्रेम की प्रतिमूर्ति, वेदना का साकार स्वरूप है। प्रेम और वेदना से सम्बन्धित भावों का जितना सुमधुर अंकन देवसेना के गीतों में हुआ है उतना अन्य में नहीं।

'घने प्रेम तरु तले।
बैठ छांह लो भव-आतप से तापित और जले।'[२]

इस गीत में जहाँ देवसेना का प्रेमादर्श तथा सत्सम्बन्धी भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ दूसरी ओर 'आह! वेदना मिली विदाई'[३] में उसकी त्याग की भावना उसके अन्तर की मूक वेदना, पीड़ा, निराशा आदि जैसे एक साथ मुखर हो उठती हैं। डा० सोमनाथ गुप्त का भी कथन है कि 'देवसेना के गीत तो नारी-हृदय का सचित्र इतिहास है। एक ओर उनमें प्रेमी का रंग है, पुरुष के गुणों पर रीझकर उस पर अधिकार कर अपना सर्वस्व निछावर करने की अभिलाषा है और दूसरी ओर कर्तव्य का पालन करते हुए त्याग का मूर्तिमान अंकन है।[४]

यही नहीं, कार्नेलिया के केवल एक ही गीत द्वारा उसकी महत् भावनाओं की अभिव्यंजना होती है। एक विदेशी युवती होते हुए भी वह भारतवर्ष के प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेम करती है, उससे भी अधिक भारत के अध्यात्मवाद की ओर आकर्षित है। भारतवर्ष के प्रति उसके इन पुनीत मनोभावों का प्रदर्शन स्वयं उसी के गीत 'अरुण यह मधुमय देश हमारा'[५] द्वारा पूर्णतः हो जाता है। इसी प्रकार अलग कहीं अपने गीतों में सिंहरण के प्रति कोमल भावना को व्यक्त करती है[६] और कहीं गीत में देश प्रेम की चिन्गारी लिए हुये सामने आती है।[७] 'विशाख' में चन्द्रलेखा का गीत भी विशाख के प्रति उसके प्रेम भाव को व्यक्त करता है।[८] मनोभावों के प्रदर्शनार्थ संगीत

१—चन्द्रगुप्त पृ० १८६।
२—स्कन्दगुप्त : द्वि० अंक, पृ० ५४।
३—स्कन्दगुप्त, पं० अंक, पृ० १६४।
४—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास : तृ० सं०, पृ० २०५।
५—चन्द्रगुप्त, द्वि० अंक, पृ० १००।
६—वही, द्वि० अंक, पृ० १२८। ७—वही, च० अंक, पृ० १९४।
८—विशाख, प्र० अंक, पृ० ३९।

अन्य प्रयोग 'अजातशत्रु' नाटक में हुआ है। उदयन की रानी पद्मावती असहाय, एकाकी और शून्य तथा नीरस जीवन से व्यथित है। मागन्धी के कुचक्र के कारण राजा उदयन उससे असन्तुष्ट है। यह वेदना उससे सहन नहीं होती, न वह उदयन से अनुनय-विनय करने का साहस कर पाती है। मानसिक संघर्ष की इस अवस्था में वह वीणा बजाना चाहती है किन्तु हृदय की वेकल तंत्री के कारण वीणा के तार भी उससे नहीं बजते और वह गा उठती है—'मीड़ मत खिचें वीन के तार।'[1] उसके हृदय का द्वन्द्व ही इस गीत का कारण है। मचल उठेगी सकरुण वीणा, किसी हृदय को होगी पीड़ा पंक्तियों में उसकी वेदना तथा उदार, उदात्त और सहानुभूतिमय हृदय चित्रित हो जाता है जो अपनी पीड़ा को दूसरों पर प्रकट नहीं करना चाहता तथा अपनी पीड़ा से किसी को व्यथित भी नहीं करना चाहता। इस प्रकार वीणा वाद्य तथा गीत का प्रयोग इस स्थल पर पद्मावती की हृदय-वेदना को व्यक्त करने के हेतु ही किया गया है।

दूसरी ओर कोमा निश्छल प्रेम में विश्वास करने वाली, सरल हृदया, त्यागमयी किन्तु फिर भी प्रिय द्वारा उपेक्षित, अपमानित और पिपासित है। उसका यह निरीह रूप एवं अतृप्त इच्छायें उसके एक ही गीत में दृष्टव्य हैं—

यौवन ! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूंट भर पी लूं जो रस है तू लाया।[2]

कोमा को लगता है कि प्रेम करने की एक ऋतु होती है और वह इस ऋतु को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहती है। इसी कारण यौवन के एक घूंट रस का आनन्द लेने के लिए वह आतुर है।

गीत के माध्यम से पात्र विशेष के अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति भी हुई है। दो विरोधी भावनाओं के संघर्ष का सफल अंकन देवसेना के अन्तिम गीत में हुआ है। जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा सबसे वह विदा लेती है किन्तु एक ओर जहाँ उसके हृदय में इस विदाई से संतोष है, दूसरी ओर वेदना भी। आशा और निराशा, प्राप्य और अप्राप्य का यह द्वन्द्व उसके गीत में झांकता है—

लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह ! बावली
तूने खो दी सकल कमाई।[3]

अन्तर्द्वन्द्व का यह रूप अन्य किसी पात्र के गीत में लक्षित नहीं होता है।

१—अजातशत्रु, प्र० अंक, पृ० ५८।
२—ध्रुवस्वामिनी, द्वि० अंक, पृ० ३५।
३—स्कन्दगुप्त, प० अंक, पृ० १३५।

प्रसाद ने चारित्रिक विशेषताओं के प्रकाशन में भी गीत से अत्यधिक सहायता ली है। कहीं स्वयं पात्र के अपने गीत द्वारा ही उसके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। और कहीं अन्य पात्र के गीत द्वारा पात्र विशेष की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया गया है। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत कुछ उद्धरण दर्शनीय है। 'जनमेजय का नागयज्ञ की मनसा वीर, साहसी और जाति-उद्धारक एवं प्रेरणामयी नारी है। उसका यह चारित्रिक वैशिष्ट्य उसके गीत 'क्या सुना नहीं कुछ, अभी पड़े सोते हो ?' में व्यक्त हुआ है। जब वह गाती है कि—

जातीय क्षेत्र में अयश बीज बोते हो।
क्यों निज स्वतन्त्रता की लज्जा खोते हो ॥[1]

तो जातीयता की सम्मान-रक्षा में उसका दृढ़ विश्वास, स्वतन्त्रता की लाज रखने का उसका संकल्प एवं निज स्वत्व को सुरक्षित रखने की भावना उसके अन्दर की दृढ़ता और साहस की ओर संकेत होता है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' की अलका का 'हिमाद्रि तुंग शृंग से······'[2] गीत अलका के ही दृढ़, प्रेरणामय, साहसी और वीर चरित्र की सफल अभिव्यक्ति करता है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' की ऋषि-पत्नी दामिनी विलासी प्रवृत्ति की युवती है। उसके निम्न गीत में उसकी यह विलासिता आंकती है—

अनिल भी रहा लगाये घात।
वरजोरी रस छीन ले गया, करके मीठी बात।[3]

'चन्द्रगुप्त' की सुवासिनी एक अभिनेत्री है जिसका कार्य रूप, यौवन और उन्माद के गीतों द्वारा राजा का मनोरंजन करना है। उसका 'तुम कनक-किरण के अन्तराल से लुक छिप कर चलते हो क्यों'[4] गीत तथा आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा'[5] गीत उसके इसी स्वरूप एवं प्रकृति के अनुरूप है। 'ध्रुवस्वामिनी' की मन्दाकिनी कलुषित वातावरण से दूर भागने वाली, अन्याय, अत्याचार से घृणा करनेवाली तथा कर्तव्य एवं न्याय को प्रमुख मानने वाली, जागृति की संदेश-वाहिनी दृढ़ नारी है। उसका यह साहसी तथा जागरूक चरित्र निम्न गीत में अंकित है —

पीड़ा की धूल उड़ाता-सा, बाधाओं को ठुकराता-सा।
कष्टों पर कुछ मुस्क्याता-सा, ऊपर ऊँचे सब झेल चले।

— — —

क्रन्दन कम्पन में पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो।[6]

१—जनमेजय का नागयज्ञ, तृ० अंक, पृ० ८३।
२—चन्द्रगुप्त, च० अंक, पृ० १९४।
३—जनमेजय का नागयज्ञ, प्र० अंक, पृ० २०।
४—चन्द्रगुप्त, प्र० अंक, पृ० ६३। ५—वही, तृ० अंक, पृ० १५५।
६—ध्रुवस्वामिनी : प्र० अंक, पृ० ३३।

स्वयं यो राजते नादः स स्वरः परिकीर्तितः ॥५८॥[१]
श्रुत्यनन्तरभावी यः शब्दोऽनुरणनात्मकः ।
स्वतो रंजयते श्रोतुश्चित्तं सः स्वर उच्यते ॥२६॥[२]

इस प्रकार स्वर के अन्तर्गत निम्न विशेषतायें है—

१—श्रुतियो को लगातार उत्पन्न करने से ही स्वर की उत्पत्ति ।[३]

२—शब्द का "अनुरणन" रूप ही स्वर कहलाता है ।

३—हर एक स्वर, दूसरे स्वर की सहायता के बिना स्वयं रंजक है ।

स्वरो की सख्या सात मानी गयी हे—(१) षड्ज् (२) ऋषभ (३) गान्धार (४) मध्यम (५) पचम (६) धैवत (७) निषाद । इन्ही को संक्षिप्त रूप में सा रे ग म प ध नि कहते है ।[४] अंग्रेजी मे स्वरो के सूक्ष्म नाम C D E F G A B हैं।
स रे ग म प ध नि

स्वर के दो भेद है—(१) शुद्ध या प्रकृत स्वर (२) विकृत स्वर ।

शुद्ध स्वर मुख्य सात स्वर होते है यथा—

स, रे, ग, म, प, ध, नि ।

विकृत स्वर दो प्रकार के होते है— (१) कोमल (२) तीव्र ।

कोमल स्वर—मूल स्वर नीचे उतरने पर कोमल बनता है यथा—

रे, ग, ध, नि

तीव्र स्वर—मूल स्वर ऊपर चढ़ाने से तीव्र बन जाता है । यथा—प

इस प्रकार अपने मूल स्थान से हटने पर उस स्वर को विकृत नाम दिया जाता है । इनके मिश्रण से संगीत में सौदर्य की वृद्धि तथा भिन्न रुचि वाले लोगों की तृप्ति होती है ।

स्वर के चार प्रकार होते है—वादी, सम्वादी, अनुवादी और विवादी ।

चतुर्विधाः स्वरावादी संवादी च विवाद्यपि ।
अनुवादी च वादी तु प्रयोगे बहुलस्वरः ॥१९॥[५]

१—संगीत दर्पण : दामोदर, पृ० १८ ।

२—संगीत रत्नाकार : शार्ङ्गदेव (प्रथम भाग) तृतीय प्रकरण, पृ० ४० ।

३—Svaras are components of Shrutis as the clay is of a jar; Svaras are the transformations of shrutis as the curd is of Milk—The story of Indian Music. O, Gosvami, Page 28.

४—तेषां संज्ञा : सरिगमपधनीत्यपरामताः, संगीत रत्नाकर, शार्ङ्गदेव, (प्रथम भाग) तृतीय प्रकरण, पृ० ४० ।

५—संगीत रत्नाकार : शार्ङ्गदेव, प्रथम भाग, तृतीय प्रकरण, पृ० ४३ ।

इस गीत में बाधाओं को ठुकराने वाली, सभी कष्टों को हंसकर सहन करने वाली एवं स्ववीरता और बल पर विश्वास करनेवाली मन्दाकिनी का व्यक्तितत्व मुखर हो उठा है।

'चन्द्रगुप्त' की कार्नेलिया भारत के नैसर्गिक सौन्दर्य, भारतीय संगीत, भारतीय अध्यात्मवाद आदि के प्रति अनन्य श्रद्धा भाव रखने वाली विदेशी युवती है। एक विदेशी नारी का सर्वथा दूसरी सभ्यता-संस्कृति के प्रति यह अनुराग स्वयं उसके गीत में स्पष्ट होता है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहां पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।[1]

इस प्रकार यह गीत कार्नेलिया के उदार हृदय, निश्छल व्यक्तित्व एवं उसके चारित्रिक वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया गया है।

पुरुषों में मातृगुप्त का 'जगे हम लगे जगाने विश्व' लोक में फैला फिर आलोक' गीत उसके दृढ़, वीर, साहसी, धर्म-कर्म, सत्य और शांति में विश्वास रखने वाले व्यक्तित्व का अंकन करता है। जब वह गाता है कि—

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान।
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।[2]

तो स्वयं उसका चारित्रिक वैशिष्ट्य सम्मुख प्रकट हो जाता है। 'कामना' में विलास का गीत भी उसकी प्रकृति के अनुरूप है। इस प्रतीकात्मक नाटक में 'विलास' नामक पुरुष-पात्र विलासी प्रकृति का प्रतीक है। उसका गीत 'पी ले प्रेम का प्याला'[3] इसी स्वरूप को चित्रित करता है।

कहीं-कहीं एक पात्र के गीत द्वारा दूसरे पात्र के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। इसमें नृत्य-गीत सबसे अधिक सहायक रहे हैं। 'विशाख' में नर्तकी के दोनों नृत्य-गीत[4] नरदेव की विलासिता की ओर संकेत करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में सुवासिनी का 'आज इस यौवन के माधवी कुंज में'[5] गीत नन्द की कामुकता की ओर संकेत करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

'अजातशत्रु' नाटक में प्रसाद ने गीतों के माध्यम से मागन्धी के सम्पूर्ण जीवन की कथा को प्रस्तुत कर दिया है। मागन्धी-श्यामा के गीत उसके चारित्रिक परिवर्तन

१—चन्द्रगुप्त : द्वि० अंक, पृ० १००।
२—स्कन्दगुप्त, पं० अंक पृ० १६२-१६३।
३—कामना, प्र० अंक, पृ० ३२।
४—विशाख : पृ० अंक, पृ० २६।
५—चन्द्रगुप्त : तृ० अंक पृ० १५५।

का क्रम सामने रख देते हैं। 'अली ने क्यों अवहेला की'[1] में महाराज उदयन की उदासीनता के प्रति उसके आक्रोश की व्यंजना है। 'आओ हिये में अहो प्राण प्यारे'[2] गीत द्वारा वह अपने प्रति उदयन को अधिक आकर्षित करना चाहती है क्योंकि उसे अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करनी है। श्यामा के रूप में 'बहुत छिपाया उफन पड़ा अब, सम्भालने का समय नहीं है'[3] गीत द्वारा वह विरुद्धक के प्रति अपने प्रणय का निवेदन करती है और नृत्य-गीत 'चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का'[4] द्वारा वह समुद्रदत्त की हत्या का षड्यंत्र रचती है। उसका सबसे अधिक उपयोगी एवं मनोहर गीत 'निर्जन गोधूली प्रान्तर में खोलो पर्ण कुटी के द्वार, दीप जलाए बैठे थे तुम किये प्रतीक्षा पर अधिकार'[5] है। इसमें श्याम और शैलेन्द्र की प्रेम-कथा पूर्ण उच्छ्वासित रूप में है जिसमें श्यामा की करुण विवशता, उसकी अप्राप्त एकाधिकार प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा, तज्जनित पीड़ा एवं अन्तर्द्वन्द्व का चित्र है। पुनः मल्लिका के मानवत्व और देवत्व से हारकर अपने आपको धिक्कारती हुई श्यामा जब गाती है-

स्वर्ग है नहीं दूसरा और।
सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है और।[6]

तो श्यामा का संस्कृत, शुद्ध मन, उसकी तपस्या तथा उसके चरित्र का उत्थान व विकास जैसे मूर्त हो उठता है। अतएव अपने काल्पनिक सुख-लिप्सा में व्यस्त मन को संयत कर अन्त में वह गौतम बुद्ध की शरण चली जाती है और अपने पूर्व जीवन पर पश्चाताप करती हुई गाती है—

'पलट गये दिन सनेह वाले ....'[7]

यह गीत उसके विगत जीवन का इतिहास कह देता है। अतएव गीतों में यह तारतम्य चरित्र-विकास का यह क्रम, यह उतार-चढ़ाव उत्थान-पतन प्रसाद की ही सफल योजना का परिणाम है।

अतएव यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि प्रसाद के सर्वश्रेष्ठ गीत उनके नाटकों में हैं। उनके अधिकतर गीतों के पीछे विशेष पात्र की आकृति झाँकती है जिससे गीत और भी प्रभावात्मक हो उठते हैं। उनके पात्र अपनी जिन कोमल भावनाओं को वार्तालाप द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर पाते, उन्हें वे गीतों में ढाल देते हैं। चरित्र के विविध रूपों, गहन अनुभूतियों और अन्तर्द्वन्द्व से गीत का यह सम्बन्ध प्रसाद का ही प्रयास है।

गीत जहां किसी पात्र विशेष के चरित्र पर इतना प्रभाव डाले कि उस पात्र का चारित्रिक परिवर्तन संभव हो सके, वह पात्र असद् से सद् की ओर प्रेरित हो

१—अजातशत्रु, प्र० अंक, पृ० ४२। २—वही, प्र० अंक, पृ० ४५।
३—वही, द्वि० अंक पृ० ७१। ४—वही, द्वि० अंक, पृ० ७८।
५—अजातशत्रु, द्वि० अंक, पृ० ९५-९६।
६—वही, तृ० अंक, पृ० ११९। ७—वही, तृ० अंक पृ० १३३।

सके, ऐसा गीत या संगीत निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। संगीत के इस प्रभावपूर्ण स्वरूप को प्रसाद ने 'राज्यश्री' में किया है। 'अब भी चेत ले तू नीच' गीत को सुनते ही दस्यु जनों को अपने दुष्कृत्य के प्रति घृणा होने लगती है और वे अपने कुपथ को त्यागकर शान्ति और सेवा का सुपथ ग्रहण कर लेते हैं। नेपथ्य-गीत द्वारा अधम पात्रों का यह चारित्रिक परिवर्तन नाटक में प्रभावशील प्रतीत होता है।[1]

तात्पर्य यह है कि प्रसाद का नाट्य-संगीत पात्रों के चरित्र-चित्रण से ही विशिष्ट रूप में सम्बन्धित है। उनके अधिकतर गीत पात्रानुकूल हैं। केवल 'स्कन्दगुप्त' में विजया का 'उमड़ कर चली भिगोने आज'[2] गीत विजया की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। विजया जो कि निरन्तर प्रतिशोध की ज्वाला से दग्ध है तथा महत्वाकांक्षणी है, उसके द्वारा रहस्य-भावना से पूर्ण यह गम्भीर गीत उसके चरित्र के विपरीत प्रतीत होता है।

देशकाल और संगीत का सम्बन्ध :

नाटकीय तत्वों में देश-काल का भी अत्यधिक महत्व है। देश-काल से तात्पर्य है नाटक में उपस्थित युग तथा काल चित्रण, नगर, वन आदि के वर्णन से। इनके संयोग तथा उपयुक्तता से ही नाटक में वातावरण की सानुकूलता आ पाती है। देश-काल के चित्रण में नाटककार संगीत से भी सहायता ले सकता है और लेता है। संगीत एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा नाटककार इच्छित एवं आवश्यक वातावरण को अधिक प्रभावोत्पादक रीति से प्रस्तुत कर सकता है। गीत, नृत्य तथा वाद्य तीनों ही इसमें सहायक हो सकते हैं। इनमें गीत का सर्वाधिक महत्व है। गीत द्वारा युग का स्वरूप भी उपस्थित किया जा सकता है और प्रकृति का भी। उदाहरणार्थ ऐतिहासिक मर्यादा, गौरव तथा भारतीय संस्कृति के आदर्श से युक्त नाटकों में गम्भीर, संयत, उच्च एवं राग-रागिनियों में बद्ध संगीत ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। यदि इसके स्थान पर उर्दू शैली का संगीत हो तो नाटक में प्रस्तुत वातावरण का निर्माण नहीं हो सकता। दरबार में नृत्य की आयोजना, इन्द्रलोक में अप्सरा-गान की योजना आदि युग-चित्रण को ही सफलीभूत बनाते हैं। इस प्रकार देश-काल और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध है तथा संगीत के माध्यम से देश-काल का चित्रण निम्न रूप से हो सकता है—

१—युग-चित्रण

२—काल-चित्रण—प्रकृति, प्रातः, रात्रि, संध्या आदि का चित्रण।

३—देश-चित्रण —नगर, वन-उपवन, प्रासाद आदि का वर्णन।

१—देखिए तृतीय अध्याय।

२—स्कन्दगुप्त, तृ० अंक, पृ० ८८।

प्रसाद : देश-काल और संगीत :

'कामना' के अतिरिक्त प्रसाद के सभी नाटकों में भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों को अंकित किया गया है। प्रत्येक नाटक में भारत के अतीत गौरव की कथा है। अतएव ऐसे ऐतिहासिक नाटकों में संगीत भी इस प्रकार का होना चाहिए जो कि तत्कालीन वातावरण अथवा पृष्ठभूमि के अनुकूल हो। प्रसाद के नाटकों के संगीत में देश-काल की दृष्टि से हमें यह वैशिष्ट्य उपलब्ध नहीं होता। उनके ऐतिहासिक नाटकों में तत्कालीन परम्परा के अनुसार न तो वैतालिक गान हैं, न राजा की स्तुति में गीत हैं और न दरबारों में गायकों अथवा वादकों की व्यवस्था है जैसी कि भारतेन्दु के 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में उपलब्ध होती है। प्रसाद ने केवल नर्तकियों की व्यवस्था का संकेत दिया है क्योंकि नृत्य और नृत्यगीतों का प्रयोग उन्होंने किया है।[१] किन्तु इन नृत्यों तथा नृत्यगीतों से तत्कालीन वातावरण के चित्र सम्मुख नहीं आते। इनसे यह तो संकेत मिल जाता है कि राजदरबारों अथवा राजमंदिरों में नृत्य की परम्परा थी, किन्तु नृत्य किस प्रकार के होते थे ? ऐसी किसी संगीत-शैली का अथवा नृत्य की प्रचलित परिपाटी का अनुमान नहीं हो पाता। जहां तक वाद्यों का सम्बन्ध है, तो उनका प्रयोग अवश्य नाटक में उपस्थित देश-काल के अनुरूप है। उदाहरणार्थ वीणा वाद्य का प्रयोग तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सर्वथा उपयुक्त है। इसका विवेचन वाद्य-प्रसंग में हो चुका है।[२]

गीतों में प्रसाद के केवल राष्ट्रीय गीत ऐसे हैं जिनके द्वारा तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का संकेत मिलता है। मातृगुप्त के 'हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार'[३] गीत में भारतवर्ष के धार्मिक दृष्टिकोण, उसके सत्य, कर्म, शान्ति सम्बन्धी सिद्धांत एवं क्षत्रियों के गौरव का संगीत है। यह गीत गुप्त-काल में भारतीय संस्कृति के उत्थान तथा सिद्धान्तों की मान्यता के अनुकूल है तथा उस काल में वीरों के आदर्श का चित्र उपस्थित करता है। अलका[४] और मनसा[५] के गीत भी तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का चित्रांकन हैं।

काल की दृष्टि से केवल प्रकृतिपरक गीत प्रसाद-नाटकों में मिलते हैं, यह भी बहुत कम। नगर, प्रान्त, प्रासाद आदि का अंकन संगीत द्वारा नहीं किया गया है। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से केवल 'ध्रुवस्वामिनी' का गीत महत्वपूर्ण है जिसमें 'अस्ताचल पर युवती संध्या' के मुग्धकारी रूप का चित्रण किया गया है। यह गीत मानवीकरण तथा प्रकृति की चेतनता से पूर्ण है। कुछ पंक्तियां दर्शनीय हैं—

१—देखिये अध्याय तृतीय।
२—देखिए तृतीय अध्याय।
३—स्कन्दगुप्त, पं० अंक, पृ० १६२-६३।
४—चन्द्रगुप्त, च० अंक, पृ० १९४।
५—जनमेजय का नागयज्ञ, तृ० अंक, पृ० ८३।

भर ली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है।
× × ×
भर उठीं प्यालियां सुमनों ने सौरभ मकरन्द मिलाया है
कामिनियों ने अनुराग-भरे अधरों से उन्हें लगाली है।[1]

प्रकृति-परक अन्य गीतों का विवेचन इससे पूर्व किया जा चुका है।[2] ऊषा की एक झलक कार्नेलिया के गीत में उपलब्ध हो जाती है जो निम्नलिखित है—

हेम कुम्भ ने उषा सवेरे, भरती ढुलकाती सुख मेरे
मदिर ऊँघते रहते जब, जग कर रजनी भर तारा।[3]

इसी प्रकार गोधूलि बेला की किंचित् झलक मात्र श्यामा के 'निर्जन गोधूली प्रान्तर में' गीत द्वारा मिल जाती है। अन्यथा इस प्रकार के विशुद्ध चित्रण प्रसाद के नाटक गीतों में नहीं हुए हैं।

उद्देश्य और संगीत का सम्बन्ध—

नाटक का अन्तिम आवश्यक तत्व उद्देश्य है। प्रत्येक नाटक की रचना में नाटककार का कोई मुख्य उद्देश्य है जिसे वह उस नाटक के द्वारा प्रस्तुत करता है। उद्देश्य के प्रतिपादन के लिए संगीत एक प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हो सकता है। चाहे नाटक का उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या को प्रस्तुत करना हो अथवा किसी चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व को, चाहे उसका उद्देश्य राष्ट्रीय जागरण तथा सांस्कृतिक चेतना को व्यक्त करना हो अथवा धार्मिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को व्यंजित करना, संगीत इन सभी उद्देश्यों को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। नाटककार की कुशल और सूक्ष्म दृष्टि संगीत और उद्देश्य के पारस्परिक सम्बन्ध को घनिष्टतापूर्वक स्थापित कर सकती है। नाटकीय तत्व की दृष्टि से संगीत और उद्देश्य का यही सम्बन्ध हो सकता है।

प्रसाद : उद्देश्य और संगीत—

उद्देश्य की दृष्टि से प्रसाद ने प्रत्येक नाटक के उद्देश्य को सामने रखकर संगीत का प्रयोग नहीं किया है। कथावस्तु तथा पात्रों की दृष्टि से जहां कहीं उन्हें संगीत की आवश्यकता का अनुभव हुआ है वहां उन्होंने उसका प्रयोग किया है। सामूहिक रूप में देखा जाय तो उनके सभी नाटक सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय जागरण और भारतीय इतिहास का आदर्श सामने रखना चाहते हैं। इस दृष्टि से उनके अधिकतर

१—ध्रुवस्वामिनी, द्वि० अंक, पृ० ३८-३९।
२—देखिए तृतीय अध्याय।
३—चन्द्रगुप्त, द्वि० अंक, पृ० १००।

नाटकों में चेतना-उद्‌बोधक, राष्ट्र-प्रेम के प्रतीक और सन्देश-वाही गीत हैं। उनके गीतों में मुख्य रस वीर और शृंगार रहे हैं। यही दो मुख्य रस उनके नाटकों में गुम्फित हैं। तात्पर्य यह कि प्रसाद के नाटकों का मुख्य उद्देश्य कहीं भारतीय इतिहास के गौरव और आदर्श को उपस्थित करना रहा है और कहीं प्रेमी हृदयों की कोमल भावनाओं तथा अन्तर्द्वन्द्व एवं बलिदान को प्रस्तुत करना रहा है। इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति गीतों तथा नृत्य-गीतों द्वारा हो जाती है। इसका विवेचन कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण के प्रसंग में किया जा चुका है।[1]

भाषा-शैली और संगीत–

भाषा शैली नाटक का आवश्यक तत्व है। नाटक किस युग का है? उसकी भाषा कैसी है? वह अभिनय के उपयुक्त सरल प्रवाहमयी है अथवा नहीं? इत्यादि दृष्टि से नाटकीय भाषा-शैली की परीक्षा की जाती है। किन्तु भाषा के इस विवेचन से यहां कोई तात्पर्य नहीं है। संगीत की दृष्टि से भाषा का विवेचन केवल इसी रूप में किया जा सकता है कि गीत की भाषा संगीत के निकट, आरोहावरोहमयी, लयात्मक तथा मधुर है अथवा नहीं? इस दृष्टि से भाषा और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन आगे किया जायगा। यहां केवल एक दृष्टि से ही विचार हो सकता है, वह यह कि गीतों की भाषा पात्रों के व्यक्तित्व, सभ्यता-संस्कृति तथा उनकी प्रकृति के अनुरूप है अथवा नहीं? क्योंकि नाटकों में जिस प्रकार पात्रों के पारस्परिक संवादों में पात्रों के व्यक्तित्व, स्थिति एवं मर्यादा को ध्यान में रखकर भाषा का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार उनके गीतों की भाषा के विषय में भी होना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि राम-सीता, राजा दुष्यन्त, श्रवणकुमार, प्रह्लाद, सम्राट् अशोक, नारद, श्रीकृष्ण, विष्णु आदि जैसे श्रद्धापात्र नाटक के अन्तर्गत उर्दू, पंजाबी या अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी में गीत गाने लगें तो अत्यधिक हास्यास्पद, कर्णकटु, अप्रिय एवं अस्वाभाविक प्रतीत होगा क्योंकि इन सभी पात्रों की, राजा के रूप में, भगवान के रूप में भक्त तथा मुनि के रूप में हमारे प्राचीन इतिहास तथा पुराणों में विशेष मर्यादा और मान है। आज भी भारतीय जनता इन्हें उतनी ही श्रद्धा-भक्ति से देखती है। अतएव इन पात्रों के मुख से संयत, परिमार्जित शुद्ध भाषा के गीत ही मधुर लगेंगे जो कि भारतीय संस्कृति एवं आदर्श को उपस्थित करते हों। भारतीय संस्कृति और मर्यादा की दृष्टि से प्रसाद ने संस्कृत-निष्ठ खड़ी बोली के परिष्कृत एवं सुमधुर रूप का प्रयोग किया है। गीतों की भाषा के अटपटे स्वरूप से उनके नाटकों की मर्यादा बाधित नहीं हुई है। भाषा के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

संगीत और भाषा–

काव्य को माधुर्य और सार्वभौमिक गुण से अलंकृत करने के लिए जिस

१—देखिए तृतीय अध्याय।

प्रकार संगीत अनिवार्य है उसी प्रकार संगीतात्मकता लाने के लिए संगीतोपयुक्त भाषा का प्रयोग आवश्यक है। 'भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। वह विश्व की हृतन्त्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।'[1] कवि के हृदयस्थित भाव भाषा के माध्यम से ही कविता का स्वरूप धारण करते हैं। किन्तु भावाभिव्यक्ति अथवा कविता में सौन्दर्य तथा माधुर्य प्रमुख तत्व हैं। डा० ऊषा गुप्ता के शब्दों में 'सौन्दर्य तथा माधुर्यमय रूप प्राप्त करने के लिए कविता की भाषा को संगीत का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।——कविता की भाषा में संगीत तत्व का समावेश अनिवार्य है।'[2] श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने भी भाषा में संगीत की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए लिखा है—'कविता जो उभयचर है, चित्र के भीतर फिरती और गान के भीतर उड़ती है क्योंकि कविता का उपकरण है भाषा में एक ओर अर्थ और दूसरी ओर स्वर। अर्थ की शक्ति से गठित होती है छवि और स्वर के योग से होता है गान।'[3] अतएव यह स्पष्ट है कि कविता विशेषत: गीत के लिए भाषा में संगीतात्मकता अवश्य होनी चाहिए।

प्रश्न यह उठता है कि गीत की भाषा संगीत के निकट कैसे हो ? भाषा की संगीतमयता के लिये कुछ विशेष बातों का ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ संगीतमयी भाषा में निम्न विशेषतायें होनी चाहिए—

१—लोचयुक्त शब्दों का प्रयोग—भाषा में संगीत की दृष्टि से कोमलता लचीलेपन से आती है। इसके लिए कवि को भाषा के शब्दों के स्वीकृत रूपों में विकार उत्पन्न करना पड़ता है। यह विकार शब्दों के उच्चारण में अभीप्सित वैशिष्ट्य उपस्थित कर देता है। 'गायक कवि को अपने पदों को विशेष राग के विशिष्ट स्वरों से मंडित करके उन्हें ताल में बांधना होता है—तालबद्ध रूप प्रदान करना पड़ता है। अत: संगीत के कलात्मक पक्ष (टेक्निक) के आग्रह के कारण शब्दों में लोच लाना तथा परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है।'[4] यद्यपि कुछ काव्य शास्त्रज्ञ शब्दों का विकार भाषा का दोष मानते हैं किन्तु डा० ऊषा गुप्ता का स्वतन्त्र मत है कि 'शब्द परिवर्तन, शब्दों के लोचयुक्त प्रयोग तथा ह्रस्व स्वर को दीर्घ और दीर्घ स्वर को ह्रस्व बनाने की इस प्रवृत्ति के मूल में भी संगीत ही निहित

१—गद्य-पद्य : सुमित्रानन्दन पंत : प्रवेश, पृ० १४।

२—हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत: लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, सं० २०१६ वि०, प्र० सं०, पृ० ९८।

३—माधुरी, ज्येष्ठ १९३२, 'ललित कला क्या है', नलिनी मोहन सान्याल, पृ० ६०९।

४—संगीत : अप्रैल १९५०, सम्पादकीय : 'अखिल भारतीय रेडियो की भजननीति' पृ० २४५।

है। तुक, मात्राओं की पूर्ति, शब्द-समूह की गति तथा लय के प्रवाह द्वारा काव्य और संगीत के सम्बन्ध को पुष्ट करने के लिए ही प्रायः शब्दरूपों में विकार किए जाते हैं——संगीत के माध्यम से काव्य-साधना करने वाले गायक कवियों के लिए इतनी स्वतन्त्रता अनिवार्य है।'[1] रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने भी अपने निबन्ध 'प्रसाद का गीतिकाव्य' में इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—'शब्द-विधान कौशल, लय-माधुर्य आदि से गीत सुहृद, स्निग्ध, चमकीले रेशमी तारों से बुने हुए सिल्क-सा उतरता है।'[2]

२—श्रुति-मधुर शब्द-विन्यास—शब्दों का मधुर एवं कोमल विन्यास काव्य में नाद-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है और नाद-सौन्दर्य संगीत का आवश्यक तत्व है। इस लक्ष्य-पूर्ति के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग कम से कम होना चाहिए जो कर्णकटु एवं कठोर हों, जैसे—ट, ठ, ड, ढ, ण, ड़ इत्यादि।

इसके अतिरिक्त कोमल शब्द-विन्यास के लिए यह भी अपेक्षित है कि द्वित्व तथा संयुक्त वर्णों का प्रयोग न किया जाय। ऐसे द्वित्व तथा संयुक्त वर्ण त्र, श्र इत्यादि कोमलता में बाधक होते हैं अतएव या तो उनका न्यून प्रयोग करना चाहिए अथवा उन संयुक्त वर्णों को स्वरागम द्वारा अमीलित कर देना चाहिए। क्योंकि 'कर्कश तथा कर्णकटु अक्षरों का न्यूनतम प्रयोग और द्वित्व तथा संयुक्त वर्णों का यथाशक्ति बहिष्कार संगीत के उपादान हैं।'[1] ब्रजभाषा में ऐसे श्रुति-मधुर कोमल तथा लचीले शब्दों का आधिक्य है। खड़ी बोली में इनका अपेक्षाकृत अभाव ही है। फिर भी संगीत के लिए खड़ी बोली में भी यथाशक्ति कोमलता तथा माधुर्य का ध्यान रखना चाहिए।

३—संगीतात्मक शब्दों का प्रयोग—कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं जिनके प्रयोग से गीत में संगीतात्मकता आ जाती है, उदाहरणार्थ री, एरी, अरे, जो, अरी, हो, इत्यादि। ये शब्द गीत में संगीत-माधुर्य तथा नाद-सौन्दर्य की वृद्धि कर देते हैं। गीत में लोक प्रचलित गान जैसी स्वाभाविकता आ जाती है। ये शब्द भाषा को सुकुमार ही नहीं बनाते वरन् ताल और लय की भी सृष्टि करके कवि के संगीत-ज्ञान पर प्रकाश डालते हैं। ये शब्द चाहे गीत के प्रारम्भ में हों, चाहे मध्य में और चाहे अंत में, इनकी प्रत्येक स्थिति लय को उत्पन्न करती है तथा आरोह-अवरोह में सहायता देती है।

के मिलने से काव्य में एक अपूर्ण संगीत ध्वनि उत्पन्न होती है ।"[1] शब्दों में इस ध्वनि-शक्ति के लिए भाषा में भावात्मकता तथा शब्दालंकारों का सामंजस्य अपेक्षित है। गीत की भाषा भाषानुकूल कोमल तथा परुष होनी चाहिए। ओजपूर्ण कविता में कोमल शब्दों का प्रयोग घातक होगा अत: वीर रस की ओजपूर्ण कविता में तदनुकूल वर्णों का उपयोग होना चाहिए। उसी प्रकार श्रृंगार प्रधान कोमल सरस गीत का सौन्दर्य तदनुकूल शब्द-ध्वनि द्वारा ही दुगुना हो सकता है। तात्पर्य यह कि शब्द के ध्वनि-विन्यास द्वारा ही कविता के भाव तथा रस की अनुभूति हो जानी चाहिए। तभी संगीत की दृष्टि से भी वह कविता या गीत प्रभावशाली हो सकेगा। इस प्रकार संगीत की दृष्टि से काव्य-भाषा में उपर्युक्त सभी गुणों का होना आवश्यक है। श्री रामेश्वरलाल खंडेलवाल ने भी इस विषय में अपने विचार इस रूप में प्रकट किए हैं—'गीत की भाषा में ऐसी स्निग्ध, सुचिक्कण, प्रवाहपूर्ण, कोमलकान्त पदावली अपेक्षित होती है, जो कर्ण-कटु वर्णों, द्वित्व वर्णों, लम्बे समासों आदि से रहित हो और छन्द-प्रवाह में बिना खड़खड़ किए चलने वाली हो।"[2]

५—शब्दों की पुनरुक्ति—भाषा में गति, नाद-सौन्दर्य तथा संगीत-माधुर्य लाने में शब्दों की पुनरुक्ति भी सहायक होती है। 'रह-रह', 'जागो-जागो' आदि पुनरुक्ति प्रयोग द्वारा भाषा में लय का संचार होता है। अतएव इसके द्वारा भी भाषा की संगीतात्मकता में वृद्धि होती है।

६—अलंकरण-विधान—भाषा की संगीतात्मकता में अलंकरण-विधान का भी अत्यधिक महत्व है। उपयुक्त अलंकारों का उपयुक्त स्थलों पर प्रयोग जहां भाषा में गेय तत्व की सृष्टि कर सकता है वहां अलंकारों का बहु-प्रयोग भाषा को बोझिल बना सकता है। संगीतात्मक भाषा में शब्द-संगीत का अधिक महत्व है अतएव शब्दालंकार का प्रयोग भाषा के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकता है। शब्दालंकारों में भी अनुप्रास अलंकार संगीत के अधिक निकट है। भाषा में जिस नाद-सौन्दर्य की अपेक्षा है, वह अनुप्रास के संयोग से सहज रूप में उत्पन्न हो सकती है क्योंकि 'अनुप्रास शब्द साम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्ययत्'[3] अर्थात् स्वर की विषमता चाहे हो किन्तु यदि शब्द-साम्य हो वहां अनुप्रासालंकार होता है। अप्रयास रूप में आगत अनुप्रास अलंकार ही कविता को माधुर्य, कोमलकान्त रूप एवं गति प्रदान करता है। इसी प्रकार अर्थालंकारों में उपमा का अत्यधिक महत्व है। उपमा अलंकार द्वारा भी भाषा में सहज सौन्दर्य की वृद्धि होती है। वस्तुत: संगीत की दृष्टि से केवल इतना

१—प्रदीप, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, पृ० २३४, प्रेमा पुस्तक माला, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, जबलपुर, १९३३ ई०।

२—'प्रसाद का गीतिकाव्य' : प्रसाद का जीवन दर्शन, कला और कृतित्व, पृ० ३८६।

३—साहित्य-दर्पण : विश्वनाथ (हिन्दी व्याख्या) शालिग्राम शास्त्री, सं० १९७८ वि०, पृ० ८०।

ही आवश्यक है कि अलंकार सहज स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हों, उनका अत्यधिक, अनावश्यक और अस्वाभाविक प्रयोग काव्य-सौन्दर्य का घातक है, विशेषकर नाद-सौन्दर्य का, क्योंकि उसके कारण भाषा की श्रुति-मधुरता एवं माधुर्य-व्यंजकता दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

७—भावानुकूल छन्द-विधान :—गीत में संगीतात्मकता लाने के लिए भावानुकुल छन्द-योजना अत्यावश्यक है क्योंकि छन्द और संगीत का घनिष्ट सम्बन्ध है। छन्द-माधुरी संगीत का प्राण है। 'संगीतशास्त्र में गाने की दो विधियाँ हैं, एक लयात्मक, दूसरी स्वरात्मक। पहले वर्ग में तालें आती हैं और दूसरे में राग। तालों का आधार लयात्मकता है अत: इनका छन्दों से सीधा सम्बन्ध है। राग में स्वर-समूह का आयोजन होता है जिसका आधार लय है।.........छन्द की लय और संगीत की ताल का सीधा सम्बन्ध है।'[1] अतएव छन्द में लय का विशेष स्थान है। कवि छन्द की इस, लय का ही समग्र एवं अखंड प्रयोग करता है। वाल्मीकीय रामायण में छन्द को 'तन्त्रीलयसमन्वित' कहा है। सुमित्रानन्दन पंत भी छन्द की लय तथा संगीत की दृष्टि से उसके महत्व को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—'कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है।...... छन्दबद्ध शब्द चुम्बक के पाश्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (magnetic field) तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है, उनमें राग की विद्युत-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।...... ......अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य और संयम आ जाता है।'[2] वस्तुत: यह लय, स्वरैक्य तथा संयम ही संगीत के लिये अपेक्षित हैं।

लय के अतिरिक्त छन्द में तुक या अन्त्यानुप्रास भी होनी चाहिए। सतुकान्त और छोटे छन्दों में बद्ध गीत संगीत के अधिक निकट होते हैं। पद्य के चरण के अन्त में जो अक्षर मैत्री होती है वह तुम या अन्त्यानुप्रास कहलाती है। तुकान्त छन्द में नाद-सौन्दर्य भी अधिक होता है और उससे छन्द की लय पर भी अधिक नियंत्रण रहता है। 'तुकान्त का प्रभाव भी कुछ ऐसा होता है कि वह चरण के मध्य की स्वरभिन्नता को दबाकर अन्त में स्वर को एक ताल पर बैठा देता है। हृदय की लयात्मक प्रवृत्ति से अन्त्यानुप्रास या तुकान्त का इतना सामंजस्य है कि पदोच्चारण के पहले ही विवक्षित पदान्त की कल्पना से सम पर मस्तक झुक जाता है।'[3] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी

१—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना : डा० पुत्तूलाल शुक्ल, प्रकाशक लखनऊ विश्वविद्यालय, प्र० सं० १९५८ ई०, पृ० ४९० ।

२—पल्लव: प्रवेश, पृ० २१, इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग, द्वि० सं०, १९३१ ई० ।

३—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त : लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जनवाणी प्रकाशन कलकत्ता, द्वि० सं०, १९४१ ई०, ।

वादीः—जिस स्वर का राग में विशेष महत्व हो, जिसकी आवृत्ति बार-बार होती हो, जो बार-बार स्पष्टता से लगता हो तथा राग के स्वरूप का उद्बोधक हो उसे वादी स्वर कहते हैं। राग का नाम, राग को गाने का समय तथा राग का लक्षण जानने में यह स्वर सहायक होता है। राग में वादी स्वर राजा माना जाता है।[1]

सम्वादीः—जिस स्वर का प्रयोग राग में वादी स्वर से कम किन्तु अन्य स्वरों से अधिक हो वह सम्वादी कहलाता है। संवादी स्वर को मंत्री की उपमा से विभूषित किया जाता है।[2]

अनुवादीः—वादी एवं संवादी स्वरों के अतिरिक्त राग के शेष स्वरों को अनुवादी कहते हैं। ये सेवक माने जाते हैं।[3]

विवादीः—जिस स्वर से राग की हानि होने की संभावना है उसे विवादी कहते हैं इसलिये इसे शत्रु-तुल्य माना जाता है। इसे वर्जित स्वर भी कहते हैं क्योंकि यह राग की रंजकता एवं रस के लिये बाधक होता है। कुशल गायक कभी-कभी राग का सौंदर्य बढ़ाने के लिये इस स्वर का हल्का सा पुट दे देते हैं।

ग्रामः—स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं। अर्थात् जिसमें श्रुतियां व्यवस्थित हों और जो मूर्च्छना, तान, वर्ग, क्रम, अलंकार आदि की आश्रय हो उसे ग्राम कहते हैं—

समूहवाचिनी ग्रामो स्वरश्रुत्यादिसंयुती।
यथा कुटुम्बिनरसर्वे एकीभूत्वा वसन्ति हि ॥[4]

महाराज कुम्भ ने भी ग्राम के इस व्यवस्थित रूप की सुन्दर परिभाषा दी है—

व्यवस्थितश्रुतियुता यत्र संवादिनः स्वराः।
मूर्च्छनाद्याश्रयो नाम स ग्राम इति संज्ञितः ॥[5]

ग्राम तीन प्रकार के होते हैं— षड्ज, मध्यम, गान्धार—

षड्जमध्यमगान्धार संज्ञाभिस्ते समन्विताः ॥८०॥[6]

नारद के अनुसार गान्धार ग्राम केवल स्वर में ही प्रयुक्त होता है—

१—बहुलस्वर : प्रयोगेभवातीहि राजा च सर्वेषाम् ॥६९॥ संगीत दर्पण : दामोदर, पृ० २८।

२—तस्यामात्यस्तु संवादीवादिनो राजसंज्ञिनः ॥८३॥ संगीत पारिजात : अहोबल, पृ० २१।

३—भृत्य तूल्या अनुवादी : संगीत पारिजात, अहोबल, पृ० २४।

४—मतङ्ग : भरतकोश, पृ० ८३०।

५—कुम्भ : भरतकोश, पृ० १८९।

६—संगीत पारिजात : अहोबल, पृ० २८।

नाद-सौन्दर्य-वृद्धि के लिये तुक आवश्यक मानते हुये कहा है—'श्रुतिकटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्त विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य साधन के लिये ही है।'[1] इन गुणों से युक्त होने पर ही छन्द संगीतमय हो सकता है क्योंकि 'संगीत-प्रधानता के कारण तुक की आवृत्ति तो आवश्यक है ही, एक गति से भाव को प्रेषित करने के लिये और एक ही गति से नायक द्वारा श्रोता को ध्वनि की दोला पर झुलाने के लिये समान चरणों का होना भी आवश्यक है।'[2] इस प्रकार लय तथा तुक के योग से छन्द और संगीत का प्रत्यक्षत: सम्बन्ध है। वस्तुत: संगीत के लिये मात्रिक छन्दों का अधिक महत्व है क्योंकि संगीत में जहाँ ताल का मुख्य स्थान है वहां मात्रिक छन्दों में मात्राओं का और ताल एवं मात्रा एक दूसरे से घनिष्टत: सम्बन्धित हैं। संगीत में ताल के द्वारा, मात्रिक छन्द में मात्रा के द्वारा विशिष्ट लय और सन्तुलन का संचार होता है। अतएव मात्रिक छन्द ही संगीत के निकट हैं। डा० रसाल का भी मत है कि 'मात्रिक छन्दों की रचना में लय के विचार की एक प्रकार से अनिवार्यता रहती है और विशेष रूप से मात्रिक छन्द तो लय पर ही चलते हुये उसी पर सर्वथा आधारित भी रहते हैं।'[3]

प्रसाद के नाट्य-गीतों की भाषा और संगीत:

जयशंकर प्रसाद ने अपने नाट्य-गीतों की खड़ी बोली को यथाशक्ति संगीत के निकट लाने का प्रयास किया है। अधिकतर उनके गीतों की भाषा मधुर, कोमल एवं भावानुकूल है। फिर भी कहीं-कहीं कुछ कोमलकाय गीतों में भी संयुक्ताक्षरों तथा विशालकाय शब्दों का प्रयोग हुआ है जो संगीतात्मकता में बाधक है। कुछ गीतों में भावानुकूलता के कारण वही संयुक्ताक्षर संगीतोपयुक्त हैं। निम्नलिखित विवरण के द्वारा प्रसाद के नाटक-गीतों की भाषा की संगीतात्मकता सिद्ध की जा सकती है, यद्यपि उच्च कोटि का कवि होने के कारण प्रसाद के नाट्य-गीत अधिकांशत: सुगेय हैं।

श्रुति-मधुर शब्द-विन्यास :

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसाद के अधिकतर गीत प्रेम और सौंदर्य सम्बन्धी हैं अतएव स्वाभावत: ही उनके गीतों में ऐसे मधुर, सरस, कोमल, शब्दों का चयन हुआ है जिनसे गीतों की भाषा श्रुति मधुर हो उठी है। उनके गीतों में वसन्ती बहार, मघा की फुहार, अलि, रंगरली, कुंजगली, मधुराका, प्याली, माधवी-कुंज, मदिरा, चांदनी, मधुमय, मलय-समीर, मंगल कुंकुम, रजनी-गंधा, बेला, तरल, मृदु हिलोर, मधुकरी, प्रेम फुहार, मीठी पीर, पपीहा, छलिया, छली, वल्लरी, दुलर

१—चिंतामणि : प्रथम भाग : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, पृ० १७९।

२—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना : डा० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ४७२।

३—छन्दशास्त्र : सं० उमाशंकर शुक्ल, प्र० संस्करण, पृ० १८९।

भरीं मधु लहर अंगड़ाई, बरजोरी, मकरन्द, कामिनी, झुरमुट आदि माधुर्यमय शब्द भरे पड़े हैं जिन्होंने खड़ी बोली की शुष्कता को दूर कर दिया है तथा उसे नवीन सौन्दर्य एवं कोमलता का आवरण पहना दिया है।

लोच युक्त शब्दों का प्रयोग :

प्रसाद ने अपने गीतों में ऐसे शब्दों का प्रयोग भी किया है जिनमें लोच है तथा जिन्हें संयुक्ताक्षरों के भीम-रूप से दूर रखने का प्रयास किया गया है, उदाहरणार्थ-

१—अमूल्य अमोल, २—किरण किरन, ३—निर्जन विजन, ४—भिक्षा भीख, ५—आलस्य अलस, ६—निर्मल अमल ७--आंचल अंचल, ८—लज्जा लाज, ९—हृदय हिय, १०—प्राण प्रान, ११—पीड़ा पीर, इत्यादि।

इन शब्दों में ण के स्थान पर न तथा अ अक्षर के बाहुल्य द्वारा शब्दों में लोच और माधुर्य लाने की सफल चेष्टा है साथ ही सरल शब्दों के प्रयोग से भाषा को संगीत के अनुकूल बनाया गया है क्योंकि गायन में संयुक्ताक्षरों से बाधा ही होती है।

शब्दों की पुनरुक्ति :

शब्दों की पुनरुक्ति प्रसाद के गीतों में अधिक मात्रा में नहीं हुई है फिर भी जहाँ भी पुनरुक्ति है वहां उसके द्वारा गीत में लय एवं नाद की सृष्टि ही हुई है। उदाहरणार्थ—

कौन **मर-मर** कर जियेगा इस तरह—[1]
मचल-मचल उठता है चंचल।
× × ×
सिसक-सिसक उठता है मन में।[2]
उठती है लहर **हरी-हरी**।[3]
कमलों में **कुछ-कुछ** लाली थी।[4]
छेड़-छेड़ कर मक तंत्र को।[5]
शत-शत झरने बेमेल चले।[6]

संगीत-प्रधान शब्दों का प्रयोग :

प्रसाद के निम्न गीतों में कहीं-कहीं संगीतात्मक शब्दों—री, अरी, रे, अरे, हो इत्यादि का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार के संगीत-प्रधान शब्दों के द्वारा भाषा

१—स्कन्दगुप्त : च० अंक, पृ० १२०।
२—राज्य श्री : द्वि० अंक, पृ० ४२-४३।
३—विशाख : प्र० अंक, पृ० १८।
४—वही, प्र० अंक, पृ० ३९।
५—अजातशत्रु : प्र० अंक, पृ० ५८।
६—ध्रुवस्वामिनी : प्र० अंक, पृ० ३३।

लय और ताल के साथ-साथ चलने लगती है। प्रसाद ने खड़ी बोली में इनका प्रयोग करके इस भाषा को संगीतमयी बनाने की अपूर्व चेष्टा की है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं। यथा—

मांझी ! साहस है खे लोगे ।[1]
नयन जल-धारा रे प्रतिकूल ।[2]
यह कसक अरे आंसू सह जा ।[3]
निर्दय उंगली ! अरे ठहर जा ।[4]
आओ हिये में अहो प्राण प्यारे ।[5]
अरे कंटीले कूल इसी में फूलना रे ।[6]
सखे ! वह प्रेममयी रजनी ।[7]
ओ मेरी जीवन की स्मृति ।[8]
हें लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बनें रहते हो क्यों ?[9]

— — —

ओ वे पीर पार ! हूं हारी
जाने दे हूं मैं अधमारी,
सिसक रही घायल दुलिया री—
गांठ मूल जीवन-धन की रे ![10]
सखी री ! सुख किसको हैं कहते ?[11]

भावानुकूल भाषा का प्रयोग :

भावानुकूल भाषा गीत का आवश्यक गुण है। इसके लिए प्रसाद ने प्रेम, सौन्दर्य वेदना, भक्ति और देश-प्रेम तथा जागरण सम्बन्धी गीतों के अनुकूल शब्दों का चयन किया है प्रेम, रूप-सज्जा और यौवन गंध सम्बन्धी गीतों में ऐसे शब्दों का संग्रह है जो उस भाव को मूर्त कर वातावरण को उतना ही मादक, उष्ण और सुन्दर बना देते हैं। ऐसे गीतों में उन्होंने सुरभि, मदिर, मदिरा, मधुमय, मधुकरी, माधवी, उर्मिल

१—स्कन्दगुप्त, तृ० अंक, पृ० १०४। २—वही, पृ० ८८।
३—ध्रुवस्वामिनी, प्र० अंक, पृ० १९।
४—अजातशत्रु, प्र० अंक' पृ० ५८।
५—वही, प्र० अंक, पृ० ४५। ६—वही, पृ० ४३।
७—चन्द्रगुप्त, च० अंक, पृ० २०७।
८—वही, पृ० १८६। ९—वही, प्र० अंक, पृ० ६३।
१०—राज्य श्री, प्र० अंक, पृ० १९।
११—विशाख, प्र० अंक, पृ० १३।

मधुप, सौरभ, सुहाग, कोकिल, रंगरली, कुंजगली, परिरम्भ-मुकुल, यौवन, चंचल, प्याला, मद जैसे उन्मादक और मोहक शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। 'चन्द्रगुप्त' की सुवासिनी का निम्नलिखित गीत इस प्रकार की भावानुकूल भाषा का उदाहरण देने के लिए पर्याप्त होगा—

आज इस यौवन के माधवी-कुंज में कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा!
विकल रही है चांदनी छवि-मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात।
कौन मधु मदिरा घोल रहा।[1]

उपर्युक्त शब्द ही नहीं पूरा वाक्य जैसे उसी ऊष्मता की कथा कहने में समर्थ है। 'कामना' का निम्नलिखित गीत इसी प्रकार की रूप-सज्जा एवं यौवनोन्माद से पूर्ण है—

छिपाओगी कैसे—
आखें कहेंगी!
बिथुरी अलक पकड़ लेती हैं,
प्रेम की आंख चुराओगी कैसे—
आखें कहेंगी.........।[2]

दूसरी ओर जिन गीतों में प्रेम की तरलता है, उनकी भाषा भी अत्यन्त स्निग्ध, लयात्मक और सुकुमार है। सुवासिनी के गीत में भाषा के माध्यम से राक्षस के प्रति उसके प्रेम की स्निग्धता अधिक सजीव हो उठी है—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर रहते हो क्यों?

× × ×

हे लाज भरे सौन्दर्य! बता दो
मौन बने रहते हो क्यों?[3]

मालविका के निम्न गीत के शब्द उसके हृदय के अनुराग को व्यक्त करने में समर्थ हैं—

ओ मेरी जीवन की स्मृति! ओ अन्तर के आतुर अनुराग।[4]
बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर राग?

इस गीत में 'अ' अक्षर की प्रधानता, लोचयुक्त शब्द, हे, अहो, ओ, आह जैसे संगीत प्रधान प्रयोग तथा राग, तान, मींड़ जैसे संगीतात्मक शब्दों के द्वारा गीत प्रेम की कोमल भावना के अनुरूप बन गया है।

१—चन्द्रगुप्त, तृ० अंक, पृ० १५५। २—कामना : द्वि० अंक, पृ० ६४।
३—चन्द्रगुप्त : प्र० अंक, पृ० ६३। ४—वही, च० अंक, पृ० १८६।

इसी प्रकार जहाँ गीत पात्र के अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं तथा उनके हृदय-स्थित पीड़ा, वेदना के परिणाम हैं वहां उनकी भाषा जहाँ श्रुतिमधुर है, वहां पाठक व दर्शक के मर्म को छूने की शक्ति भी उनमें विद्यमान है। उदाहरणार्थ मन्दाकिनी और देवसेना के गीतों की भाषा दर्शनीय है—

आह ! वेदना मिली विदाई।

× × ×

छलछल थे संध्या के श्रमकण।
आंसू से गिरते थे प्रतिक्षण।

× × ×

मेरी आशा आह ! बावली
तूने खो दी सकल कमाई।

× × ×

लौटा लो यह पहनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती।[1]

× × ×

इस गीत में देवसेना की निराशा, वेदना, पीड़ा और अन्तर्द्वन्द्व 'आह' तथा 'हा-हा' शब्दों में सजीव होकर पाठक अथवा दर्शक को विचलित कर देती है। गीत में कहीं शब्दों का आडम्बर नहीं है फिर भी देवसेना की वेदना उसमें मूर्त है। इसी प्रकार मन्दाकिनी के गीत[2] में 'कसक', 'आंसू', 'छलक', 'नीरव गाथा' जैसे शब्द उसकी मानसिक पीड़ा और चारों ओर फैली नीरवता को स्पष्ट कर देते हैं। हृदय के तूफान को अभिव्यंजित करने वाले गीतों में भाषा की दृष्टि से श्यामा का गीत अत्यन्त भावपूर्ण है—

बहुत छिपाया उफन पड़ा अब
संभालने का समय नहीं है।

× × ×

चपल निकल कर कहां चले अब
इसे कुचल दो मृदुल चरण से
कि आह निकले दबे हृदय से
भला कहो यह विजय नहीं है।[3]

गीत की भाषा निश्चय ही अत्यन्त सरल, सीधी-सादी है फिर भी 'उफन पड़ना',

---

१—स्कन्दगुप्त, पं० अंक, पृ० १६५-१६६।
२—ध्रुवस्वामिनी, प्र० अंक, पृ० १९।
३—अजातशत्रु द्वि० अंक, पृ० ७१-७२।

'कुचलना', 'दवे हृदय से आह निकलना' जैसे प्रयोग गीत को और भी भावात्मक बना देते हैं।

इस प्रकार एक ओर उनके गीतों में भावानुकूल शब्दों द्वारा जहां मधु मदिरा छलकती है, चांदनी बिछलती है, कम्पनमय तान उठती है और हृदय की भावनायें उफन पड़ती हैं, वहां दूसरी ओर उनके राष्ट्रीय तथा देश-प्रेम विषयक गीतों में तद-नुरूप गम्भीर, ओज-पूर्ण, टंकार करने वाले शब्दों का प्राचुर्य है। हिमाद्रि, शृंग, प्रबुद्ध-शुद्ध, प्रशस्त, विकीर्ण, प्रचन्ड, प्रलय आदि शब्द गीत में अदम्य उत्साह और तरंग उत्पन्न कर देते हैं। ऐसे गीतों की भाषा वैयक्तिक गान की भाषा से भिन्न है। इन गीतों में सोष्म वर्ण, संयुक्ताक्षर, व्यंजन, अनुसार आदि का प्रयोग किया गया है। जिनके द्वारा गीतों में राष्ट्रीय उत्साह मूर्त हो उठता है। ऐसे गीत तीन-चार हैं—

(क) पैरों के नीचे जलधर हों, विजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने वेमेल चले।
× × ×
खिलते हों क्षत के फूल वहां, बन व्यथा तिमिस्रा के तारे
पद-पद पर तांडव नर्तन हो, स्वर सप्तक होवें लय सारे।
भैरव-रव से हो व्याप्त दिशा, हो कांप रही भय-चकित निशा
× × ×
क्रंदन कंपन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो।[1]

(ख) जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फिर फैला आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
× × ×
जातियों का उत्थान-पतन, आंधियां, झड़ी, प्रचंड समीर।[2]
खड़े देखा झेला हंसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।

(ग) हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती......... ।[3]

इन गीतों में संयुक्ताक्षरों, अनुस्वार, ट, ठ, ण, ड़, ज, क्ष, ञ, और ज्ञ आदि व्यंजनों के कारण प्रयाण-गीत तथा राष्ट्र-प्रेम का सौष्ठव चमक उठता है। तथा तदनुकूल संगीतमयता स्वतः आ गयी है। स्पष्ट है कि जागरण के इन गीतों की भाषा, शब्द-

१—ध्रुवस्वामिनी : प्र० अंक, पृ० ३३।
२—स्कन्दगुप्त : पं० अंक, पृ० १६२।
३—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० १९४।

चयन, उनका विन्यास, प्रेम, सौन्दर्य और वेदना की सुकोमल, लचीली, माधुर्यपूर्ण भाषा के बिल्कुल विपरीत है। 'हिमाद्रि तुंग——'गीत तो संगीत की दृष्टि से अत्यन्त सफल गीत है। यह गान 'वन्देमातरम्' गायन के समान ही राष्ट्रीय जीवन प्रदायक बन गया है।

संयुक्ताक्षरों का अन्यत्र प्रयोग :

संयुक्ताक्षर, व्यंजन तथा भारी-भरकम शब्द प्रसाद के कोमलकाय गीतों में भी आए हैं। यह उनकी संस्कृत-निष्ठ भाषा का प्रभाव है, उदाहरणार्थ-विनम्र, अस्तित्व, छिद्र, मय, वृन्द, प्रकृति (ध्रुवस्वामिनी), क्षमा-सदृश, मरुस्थल (अजातशत्रु), विपञ्ची, कर्णिका, हनेषा (जनमेजय), तारा-मद्यप-मण्डली (कामना) तथा निभृत, निस्तब्ध, करुणाप्लुत, त्रयस्त्रिंश, सन्तरण (विशाख) इत्यादि शब्द संगीत की दृष्टि से गेयत्व, संगीत-प्रवाह एवं लय-माधुर्य में घातक हैं। ऐसे विशालकाय शब्दों को न सरलतापूर्वक गाया ही जा सकता है और न उनमें संगीतात्मकता ही रहती है। ये दोष प्रसाद के नाटक-गीतों में अधिक नहीं है। प्रमुखतः प्रारम्भिक नाटकों में ही ऐसे शब्द अधिक मिल जाते हैं। 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' के गीतों में विशालकाय शब्दों का अभाव है। यदि हैं भी तो ओजपूर्ण गीतों में।

इस प्रकार उपर्युक्त कुछ दोष होते हुए भी प्रसाद ने संस्कृत निष्ठ खड़ी बोली का प्रयोग अपने गीतों में करके उसे ब्रजभाषा जैसा माधुर्य और सरसता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। उनके शब्दों का संघटन कुछ इस प्रकार होता है कि मन पर जादू सा कर जाता है। उसमें श्रुति-माधुर्य भी है और नाद-सौन्दर्य भी। इन सब गुणों के साथ भाषा की भावानुकूलता ने गीतों में संगीत और काव्य का सामंजस्य उत्पन्न कर दिया है। खड़ी बोली के गीतों को इस नवीन साज-सज्जा, मधुरिमा और परिमार्जित गेय रूप से सुसज्जित करने का श्रेय निश्चय ही प्रसाद को है।

प्रसाद के नाट्य-गीतों में अलङ्कार :

छायावादी कवि के होने के कारण प्रसाद के अलंकरण-विधान में अन्य उनके पूर्व तथा समकालीन नाटककारों के समान स्थूलता नहीं है, वरन् उनका यह विधान अनोखा ही है जिसके द्वारा नाटक-गीतों में एक नया पृष्ठ खुलता है। गीतों में भाव-सौन्दर्य की वृद्धि के लिए प्रसाद ने अलंकारों का आश्रय स्थान-स्थान पर लिया है, उनके समय तक नाटक-गीतों में जहां अनुप्रास, उपमा और रूपक ही प्रधानतम रहते थे, वहां प्रसाद ने इस रूढ़ि का किंचित् पालन करते हुए भी उसमें नवीनता का समावेश किया है। अनुप्रास अलंकार उनके गीतों में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। प्रमुखतः उनका अलंकरण-विधान निम्न रूप में है—
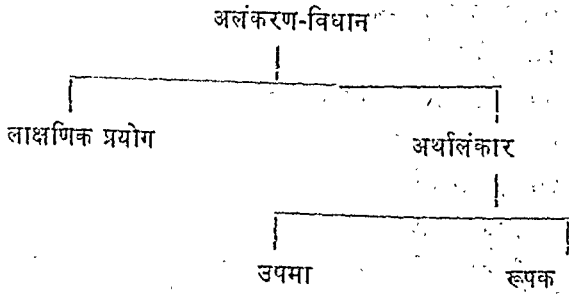
प्रसाद के गीतों की उत्कृष्टता और नवीनता लाक्षणिक प्रयोगों तथा व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति के ही कारण है। पात्र के किसी गम्भीर आशय को प्रसाद सीधे-सीधे अभिधा में ही नहीं कहते वरन् वहां लक्षणा का अवलम्बन लेते हैं। 'चन्द्रगुप्त' की कार्नेलिया भारतवर्ष के प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध है, यहां की 'हरियाली', 'शीतल मलय समीर', 'मनोहर तरुशिखा', 'उड़ते हुए खग' और उनके 'प्यारे-प्यारे नीड़' उसे कल्पना लोक में ले जाते हैं। यही नहीं वह भारत के अध्यात्मवाद के प्रति और भी अधिक आकर्षित है। यहां का जीवन उसे अत्यन्त करुणार्द्र और अनन्त लगता है। कार्नेलिया की इन पुनीत भावनाओं को प्रसाद ने उसके गीत में लाक्षणिक प्रयोग के द्वारा प्रकट किया है—

बरसाती आंखों के बादल बनते जहां भरते करुणाजल
लहरें टकराती अनन्त की पाकर जहां किनारा। --[1]

यहां लक्षणा के द्वारा 'बरसाती आंखों' से अर्थ हृदय का करुणा से भीग जाना तथा 'अनन्त की लहरों का किनारा पाने' का अर्थ व्यष्टि और समष्टि का अभेद ग्रहण किया जाना है।

प्रसाद के सौन्दर्य और प्रेम सम्बन्धी गीतों में भी इस प्रकार के प्रयोग अधिक हुए हैं क्योंकि सौन्दर्य के प्रति उनका दृष्टिकोण प्राचीन परम्परा से उन्मुक्त है। वे सौन्दर्य के स्थूल रूप अथवा बाह्य-सौन्दर्य पर ही मुग्ध न होकर उसके अन्तर की गहराई तक जाते हैं। अतएव अन्त:सौन्दर्य को साकार रूप देने के लिए उन्हें प्रतीकों का आलम्बन लेना पड़ता है। इस शैली का सर्वोत्तम गीत 'तुम कनक-किरण के अन्तराल में'[2] है। इस गीत में लक्षणा के द्वारा 'लाज-भरे सौन्दर्य' का वर्णन किया गया है।

अन्त:सौन्दर्य की खोज में प्रसाद सूक्ष्मतम मानवीय भावों—तिरस्कार, अनुनय, दीनता, पीड़ा, निराशा, निष्ठुरता आदि—का चित्रण करते हैं। इसके लिए वे कहीं अमूर्त की तुलना मूर्त से करते हैं, कहीं मानवीय भावों को प्रकृति के माध्यम से

१—चन्द्रगुप्त : द्वि० अंक : पृ० १००।
२—चन्द्रगुप्त : प्र० अंक, पृ० ६३।

व्यक्त करते हैं और कहीं उनका मानवीकरण करते हैं। इस प्रकार की छायावादी शैली के गीत उनके प्रारम्भिक नाटक—'राज्यश्री', 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'विशाख' में अधिक नहीं है वरन् इनमें तो प्रचलित परम्परा के सीधी-सादी भाषा के गीत हैं। उदाहरणार्थ 'राज्यश्री' में सुरमा का गीत—

जब प्रीति नहीं मन में कुछ भी
तब क्यों फिर बात बनाने लगे।[1]

विशाख के अधिकतर गीत इसी प्रकार के हैं। एक-दो गीतों में ही छायावादी-शैली का क्षीण आभास मिलता है, जैसे—

मधुप क्यों मंजु मुकुल से मिला ?
आज मधु पी ले यौवन वसन्त खिला।[2]

इस गीत में वसन्त के द्वारा यौवन का तथा मधुप और मुकुल के मिलन से लक्षणा के द्वारा युवक-युवती के मिलन का संकेत किया गया है। इस प्रकार छायावाद का प्रभाव मुख्यत: 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकों में ही अधिक पाया जाता है। 'स्कन्दगुप्त' में जब नर्तकियां गाती हैं—

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन-तार कोकिल।—[3]

तब यह गीत साधारणत: केवल नृत्य-गीत ही नहीं है वरन् उसमें कवि प्रसाद नर्तकियों के माध्यम से लक्षणा के द्वारा तत्कालीन स्थिति की सांकेतिक अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। प्राकृतिक व्यापारों के माध्यम से मगध के विगत ऐश्वर्य की अतीत स्मृति का चित्रण करना ही कवि का, नाटककार का लक्ष्य है। अब न 'आनन्द-भैरवी' है, न 'निशा-माधवी', न 'वसन्ती बहार' है और न वह 'मघा की फुहार' है! सब 'खिले फूल गिर' गए हैं। 'हृदय धूल में' मिल गया है जिसको देखकर हृदय तड़प उठता है। सम्राट कुमारगुप्त की विलासिता तथा छोटी रानी के संकेतों पर उनके चलने के कारण आन्तरिक षड्यन्त्रों और कुचक्रों की वृद्धि हो गयी है। वर्तमान का यही चित्रण इसमें किया गया है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में मालविका द्वारा गाया गया 'मधुप कब एक कली का है' गीत में मधुप के माध्यम से पुरुष के विलासी और निर्मोही स्वभाव की ओर संकेत किया गया है। कल्याणी का 'सुधा-सीकर से नहला दो' गीत एक ओर जहां उसके सती हृदय के पुनीत प्रेम की पुकार तथा अभिलाषा को प्रकट करता है, दूसरी ओर उसमें मानव-प्रेम-साधना का अमर सन्देश है। 'लहरें डूब रही हों रस में' तथा 'अन्धकार उजला हो जाए' आदि पंक्तियों में इसी सन्देश की अभिव्यक्ति है।

१—राज्यश्री : तृ० अंक, पृ० ६०।
२—विशाख : प्र० अंक, पृ० २६।
३—स्कन्दगुप्त : प्र० अंक, पृ० १५।

इन नवीन प्रयोगों के अतिरिक्त प्रसाद ने अर्थालंकारों का प्रयोग भी गीतों में किया है, जिसमें उपमा और रूपक अलंकार प्रमुख हैं। उदाहरणार्थ 'मधु-मंदिर सा यह विश्व बना,'[१] 'लघु सुर धनु से पंख,'[२] 'यवनिका सी पलकें,'[३] यह मूर्छित मूर्च्छना आह सी',[४] 'मधु-सरिता सी यह हंसी'[५] आदि में उपमा का प्रयोग दर्शनीय है। उपमा अलंकार की अपेक्षा रूपक का प्रयोग बहुलतापूर्वक किया गया है। प्रत्येक गीत जैसे रूपकालंकार से सजा हुआ है। 'किरन-अनी',[६] 'समय-विहाग' और 'रूप-निशा',[७] 'यौवन मदिरा', 'दृग-जल' और 'रूप-रत्नाकर',[८] 'हेम-कुम्भ',[९] 'यौवन के धन', 'अधरों के मधुर कगार' और 'रजनीगन्धा की कली',[१०] 'विरह-निशीथ',[११] 'श्रद्धा-सरिता', 'जीवन-बेल' और प्रेम-तरु'[१२] 'आनन्द-भैरवी' और निशा-माधवी',[१३] करुणा-सरोवर',[१४] 'आंसू-हार',[१५] 'हृदय-कुटी',[१६] 'दया-जल' और हृदय-मरुस्थल'[१७] इत्यादि प्रयोग रूपक अलंकार की बहुलता को ही स्पष्ट करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात और स्पष्ट होती है कि प्रसाद ने अलंकरण-विधान में प्रकृति का अत्यधिक उपयोग किया है। रजनी, उषा, मधुप, कली, किरण, सुमन, पपीहा, कोकिल, लहर, चन्द्र, बिजली आदि का प्रयोग गीतों में बहुतायत से हुआ है। इस प्रकार प्रसाद का अलंकरण-विधान प्रौढ़ है, छिछला है। उसमें रसात्मकता है और कलात्मकता भी। प्रश्न यह उठता है कि उनका यह विधान संगीत में बाधक तो नहीं है? सामान्यत: उपमा और रूपक के अधिक प्रयोगों के कारण प्रसाद के नाट्य-गीत संगीत की सुरक्षा कर सके हैं किन्तु जहां कहीं लाक्षणिक प्रयोगों तथा रहस्यवादी भावना का बाहुल्य है तथा भाव-माधुर्य गौण हो गया है वहां उनके गीत संगीत की दृष्टि से उतने उपयुक्त नहीं हैं। 'निकल मत बाहर दुर्बल आह'[१८] गीत इसी प्रकार का है। लाक्षणिक प्रयोगों के कारण जो दुरूहता उनके गीतों में आ गयी है, संगीत-सौन्दर्य में वही बाधक है क्योंकि गीत की सर्वसुलभता तथा सारल्य संगीत

१—चन्द्रगुप्त : च० अंक, पृ० २०८।
२—चन्द्रगुप्त : द्वि० अंक, पृ० १००।
३—अजातशत्रु : द्वि० अंक, पृ० ९५।
४—अजातशत्रु : प्र० अंक, पृ० ५८
५—चन्द्रगुप्त : प्र० अंक, पृ० ६३।
६—वही, च० अंक, पृ० २०७।
७—वही, द्वि० अंक, पृ० १२९।
८—वही, पृ० १२३।
९—वही, द्वि० अंक, पृ० १००।
१०—वही, प्र० अंक, पृ० ६३।
११—वही, पृ० ६५।
१२—स्कन्दगुप्त : द्वि० अंक, पृ० ५४।
१३—वही, प्र० अंक, पृ० १५।
१४—राज्यश्री, तृ० अंक, पृ० ५५।
१५—अजातशत्रु, द्वि० अंक, पृ० ९६।
१६—वही, पृ० ७२।
१७—वही, प्र० अंक, पृ० ४२।
१८—चन्द्रगुप्त : प्र० अंक, पृ० ६४-६५।

गान्धारग्रामस्य केवलं स्वर्गे प्रयुक्तत्वं नारदेनाभिहितम् ॥[१]

मूर्च्छना:—एक स्वर से सप्तम स्वर तक आरोह और उसी मार्ग से अवरोह करना मूर्च्छना कहलाता है। मूर्च्छना ग्राम के आश्रित होती है—

आरोहश्चावरोहश्च स्वराणां जायते यदा ।
ता मूर्च्छनां तदा लोके वाहुर्ग्रामाश्रयं बुधाः ॥[२]
क्रमयुक्तः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिता ।[३]
मूर्च्छते येन रागो हि मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिता ।
आरोहणवरोहणक्रमेण स्वरसप्तकम् ।
मूर्च्छनाशब्दवाच्यं हि विज्ञेय तद्विचक्षणैः ॥[४]
आरोहेणावरोहेण क्रमेण स्वरसप्तकम् ।
रागादो मूर्च्छनादत्र मूर्च्छना परिकीर्तिताः ॥[५]

तात्पर्य यह कि मूर्च्छना रागच्छाया का आधार है क्योंकि राग का स्वरूप वर्णन करते समय प्राचीन ग्रंथों में कहा गया है कि श्रुति से स्वर, स्वर से ग्राम, ग्राम से मूर्च्छना, मूर्च्छना से जाति और जाति से राग का जन्म होता है।

जातिः—वे विशिष्ट स्वर जो रंजनात्मक होते हैं, जब किसी विशेष रूप में सन्निविष्ट हो जाते हैं तो जाति कहलाते हैं। जाति से ही रस उत्पन्न होता है और उसी के कारण राग का जन्म होता है। इसी सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की परिभाषा श्रेष्ठ है—

तत्र केयं जातिर्नाम। उच्यते--स्वरा एव विशिष्टाः सन्निवेशमानेरक्तिम दृष्टाभ्युदयं च जनयन्तो जातिरित्युक्ताः ।[६]

अभिनवगुप्त की इस परिभाषा के अनुसार "जाति" में दो मुख्य बातें होती हैं—
१—स्वरों का विशेष रूप से सन्निवेश, २—उस विन्यास में रंजकता का होना।

थाटः—स्वरों का एक समूह थाट कहलाता है। इसी से राग उत्पन्न होते हैं—

मेलः स्वरसमूहः स्याद्रागव्यंजन शक्तिमान् ।[७]

अर्थात् मेल अथवा थाट स्वरों की एक विशिष्ट रचना होती है जिससे राग उत्पन्न हो सकते हैं।

१—भरतकोश : पृ० ५४२।
२—संगीत पारिजात : अहोवल, पृ० ३३।
३—नाट्य शास्त्र : भरतमुनि : १९२९ ई०, अध्याय २८, पृ० ४३५।
४—मतङ्ग : भरत कोश, पृ० ५०१।
५—कुम्भ, भरतकोश, पृ० ५०१।
६—भरतकोश, पृ० २२७।
७—संगीत पारिजात : अहोवल पृ० ८९।

का अनिवार्य अंग है। ऐसे गीतों के लिए हम यही कह सकते हैं कि वे विशिष्ट जन-समूह के लिए तो उपयुक्त हैं, सर्व-सामान्य के लिए नहीं।

प्रसाद के नाट्य-गीतों में छन्द-योजना :

छायावादी कवि होने के कारण प्रसाद की छन्द-योजना के विषय में उत्सुकता जागृत होती है। हम यह कल्पना कर लेते हैं कि निश्चय ही उनके छन्द प्राचीन परम्परा-मुक्त होंगे। सत्य यह है कि अपने पूर्व तथा समकालीन नाटककारों के समान प्रसाद ने भी नाटक-गीतों में 'पद' का प्रयोग सर्वाधिक किया है। पद के अतिरिक्त अन्य छन्दों का प्रयोग भी उन्होंने यथावसर किया है। मुख्यत: उनके नाटक-गीतों में निम्नलिखित छन्द प्रयुक्त हैं—

१—पद
२—टेक और दोहे का मिश्रित रूप
३—आधुनिक छन्द।

चूँकि प्रसाद ने छन्द एवं संगीत का सम्वन्ध वनाए रखने का सदैव प्रयत्न किया है अत: उनके सभी गीत मात्रिक छन्दों में वद्ध हैं। मात्रिक छन्दों की मात्राओं का बन्धन रहने के कारण गति, ताल, लय, आरोह-अवरोह आदि का संचार स्वाभावत: रहता है। अत: ये छन्द स्वत: ही संगीत के वहुत अधिक निकट होते हैं। 'पद' संगीत के लिए सर्वोत्तम छन्द है क्योंकि इसमें स्थायी-अन्तरा का उतार-चढ़ाव होता है और सम पर आने का विशेष सौन्दर्य होता है। उदाहरणार्थ—

स्थायी--अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहां पहुंच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

अन्तरा--सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन-हरियाली पर, मंगल-कुंकुम सारा।
अरुण यह मधुमय देश हमारा।[१]

इसी प्रकार प्रत्येक अन्तरे के वाद स्थायी की यह पुनरावृत्ति गीत-माधुर्य को संगीतात्मक वना देती है। इस प्रकार के अनेक गीत प्रसाद के नाटकों में हैं। 'वज रही वंशी आठों याम की',[२] 'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला',[३] 'सखी री सुख किसको है कहते',[४] 'अव भी चेत ले तू नीच',[५] 'अनिल भी रहा लगाए घात',[६] 'यौवन तेरी

१—चन्द्रगुप्त : द्वि० अंक, पृ० १००। २—वही, च० अंक, पृ० १८५।
३—वही, पृ० १७९।
४—विशाख : प्र० अंक, पृ० १३।
५—राज्यश्री : तृ० अंक, पृ० ५५।
६—जनमेजय का नागयज्ञ : प्र० अंक, पृ० २०

चंचल छाया',[1] 'स्वर्ग है नहीं दूसरा और',[2] 'कुंज में वंशी बजती है,'[3] इत्यादि गीत 'पद' छन्द में ही बद्ध है। इस छन्द का सर्वाधिक प्रयोग विशाख' में हुआ है। 'अजातशत्रु' के 'अली ने क्यों भला अवहेला की'[4] तथा 'आओ हिये में अहो प्राण प्यारे'[5] भी इसी प्रकार के है। इन सभी गीतों में एक निश्चित अन्तर के पश्चात् बार-बार टेक की आवृत्ति होने से संगीत की विशिष्ट झंकार एवं नाद-सौन्दर्य की सृष्टि होती है। इस माधुर्य के कारण ही अधिकतर तो शृंगारमयी भावनाओं से युक्त गीतों के लिए तथा कहीं-कहीं अन्य माधुर्य गुण सम्पन्न गीतों में ही यह छन्द प्रयुक्त हुआ है। ओज गुण से युक्त गीतों में यह 'पद' कहीं भी नहीं है अत: प्रसाद ने छन्द के स्वभाव और भावानुकूलता का सर्वत्र ध्यान रखा है।

कहीं-कही पद अथवा टेक के बीच-बीच में दोहा छन्द का मिश्रण करके भी प्रसाद ने गीत लिखे हैं। *यथा 'चन्द्रगुप्त' नाटक में मालविका का यह गीत—*

मधुप कब एक कली का है।
दोहा—**पाया जिससे प्रेम रस सौरभ और सुहाग,**
बेसुध हो उस कली से मिलता भर अनुराग,
विहारी कुंजगली का है।[6]

'विशाख' में सखियों का निम्न गीत भी इसी प्रकार का है—

नदी नीर से भरी। (टेक)
दोहा—**संचित जल ले शैल का हुई नदी में बाढ़।**
मानस में एकत्र था इधर प्रणय भी गाढ़।
नदी नीर से भरी।[7]

कुछ विद्वानों ने इस मिश्रित छन्द को प्रसाद की नयी सूझ-बूझ का प्रतीक माना है। किशोरीलाल गुप्त का कथन है कि 'बीच-बीच में दोहे रखकर प्रसाद ने एक नयी गीत पद्धति का आविष्कार किया। इस गीत-पद्धति में प्रसाद बेजोड़ है।[8] किन्तु हम भारतेन्दु-काल में ही इस प्रकार के प्रयोग देख चुके है तथा रंगमंचीय नाटक-गीतों में भी मिश्रित छन्द चल रहे थे।[9] अत: इसे प्रसाद का नवीन छन्द स्वीकार नहीं किया जा

१—ध्रुवस्वामिनी : द्वि० अंक, पृ० ३५।
२—अजातशत्रु : तृ० अंक, पृ० ११९।
३—विशाख : प्र० अंक, पृ० २६।
४—अजातशत्रु : प्र० अंक, पृ० ४२। ५—वही, पृ० ४५।
६—चन्द्रगुप्त, च० अंक, पृ० १८५।
७—विशाख, तृ० अंक, पृ० ६९।
८—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन : किशोरीलाल गुप्त, पृ० ७६।
९—देखिए अध्याय सात,

सकता। इस प्रकार के चित्रण का एक अन्य उदाहरण 'चन्द्रगुप्त' में सुवासिनी का 'आज इस यौवन के······'गीत भी हैं। इसी प्रकार देवसेना के 'घने प्रेम-तरु तले'[1] गीत में भी टेक और दोहा का चित्रण किया गया है।

इन छन्दों के अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों में अधिकतर छन्द आधुनिक हैं। ये छन्द उनके 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में ही उपलब्ध होते हैं। 'तुम कनक-किरण की अन्तराल में'[2] 'निकल मत बाहर दुर्बल आह,'[3] 'आह वेदना मिली विदाई,,'[4] 'न छेड़ना उस अतीत स्मृति से'[5] आदि गीत इसी प्रकार के हैं। नाटकों में आधुनिक गीतों का यह प्रवेश प्रसाद का पृथक, नवीन और साहसिक प्रयास है।

संगीत की दृष्टि से विशेषता यही है कि प्रसाद ने सभी छन्दों में तुक या अन्त्यानुप्रास का सदैव पालन किया है। इसी कारण उनके सभी गीतों में लय तथा गति है और संगीत के अनुरूप उतार-चढ़ाव हैं। तुक का निर्माण उन्होंने विविध प्रकार से किया है जो निम्नांकित है—

(१) वे गीत जिनके स्थायी-अन्तरा दोनों में अन्त तक तुक की समानता है। यथा—

यौवन तेरी चंचल छाया !
इसमें बैठ घूंट भर पी लूं जो रस है तू लाया।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया।
जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया।
पल भर रुकने वाले ! कह तू पथिक ! कहां से आया ?[1]

बज उठी वंशी आठों याम की।
अब तक गूंज रही है बोली प्यारे मुख अभिराम की।
हुए चपल मृग-नैन मोह वश बजी विपंची काम की।
रूप-सुधा के दो दृग प्यालों ने ही मति बेकाम की।[2]

(२) वे गीत जिनके सम से सम और विषम से विषम पद के अंत्याक्षर मिलें। यथा—

ओ मेरी जीवन की स्मृति ! ओ अन्तर के आतुर **अनुराग** ।
बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर **राग** ?
चेतन सागर उर्मिल होता यह कैसी कम्पनमय **तान** ।
यों अधीरता से न मीड़ लो अभी हुये है पुलकित **प्रान** ।[१]
स्वर्ग है नहीं दूसरा और ।
सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर ।
सुधा-सलिल से मानस जिसका पूरित-प्रेम-विभोर ।
नित्य कुसुममय कल्पद्रुम की छाया है इस ओर ॥[२]

(३) वे गीत जिनके स्थायी चरणों के अन्त्याक्षर मिलते हैं किन्तु अन्तरा उनसे भिन्न होता है—

१—प्यारे-निर्मोही होकर मत हमको **भूलना** रे
बरसो सदा दया जल शीतल
सिंचे हमारा हृदय मरुस्थल
अरे कंटीले भूल इसी में **फूलना** रे ।[३]

२—भरा नैनों में मन में **रूप**
किसी छलिया का अमल **अनूप**
जल-थल मारुत, व्योम में, जो छाया है सब ओर
खोज-खोज कर खो गयी मैं, पागल प्रेम-विभोर
मांग से भरा हुआ यह **कूप** ।[४]

इस प्रकार प्रसाद ने छन्द में संगीत को पहचाना है और सदैव लय तथा तुक का निर्वाह किया है । उनके सभी आधुनिक छन्दों में तुक का ध्यान रखा गया है । अन्तरे की पंक्तियां चाहे एक-दूसरे से भिन्न हों किन्तु अन्तरे के उपरान्त स्थायी पर आनेवाली पंक्ति का अन्त अवश्य स्थायी के समान ही होता है जिसके कारण गीत की लय, ताल, सम आदि का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है । उदाहरणार्थ—

आह ! वेदना मिली विदाई ।

— — —

छल-छल थे सन्ध्या के **श्रमकण**
आंसू से गिरते थे **प्रतिक्षण**

४—
-चन्द्रगुप्त, च० अंक, प
६—चन्द्र अजातशत्रु, तृ
७—विशाख, ० अंक, पृ०
८—प्रसाद का वि
प० अंक, पृ० ४२
९—देखिए अध्याय सा

मेरी यात्रा पर लेती थी
नीरवता अनंत अंगड़ाई ।[1]

इस गीत में अन्तरे की दो पंक्तियों के अन्त्याक्षर समान हैं, तीसरी का अन्त भिन्न अक्षरों से है किन्तु उसके वाद स्थायी पर आने के लिये कवि ने तदनुरूप अन्त्याक्षरों में ही अन्तिम पंक्ति का अन्त किया हैं । इस प्रकार अन्तरे और स्थायी का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । छन्द की भावानुकूलता उनका अन्य गुण है जिस पर उन्होंने सर्वाधिक ध्यान दिया है । शृंगार सम्बन्वी गीतों के लिये पद तथा वीरता और वेदनामय गीतों के लिए आधुनिक छन्दों का प्रयोग भावानुरूप ही है । उनके 'हिमाद्रि तुंग शृंग' तथा 'पैरों के नीचे जलचर हो' को पड़ने तथा गाने से जो लय और ध्वनि निकलती है वह रोम-रोम में साहस, उत्साह, ओज और वीरत्व का संचार करती है । छन्द की लय पर कदम जैसे बढ़ने लगते हैं यही उस छन्द की भावानुकूलता है । उनके गीतों की संगीत-माधुरी के विषय में डा० नगेन्द्र का कथन दर्शनीय हैं । वह लिखते हैं—

'उनके गीत स्वर और लय पर नृत्य करते हैं । छन्द-रचना में एक विशेष प्रकार की संगीतमय विछलन होती है । उनके छंद वीरभावों के साथ अकड़कर चलते, विलास भावनाओं के साथ इंगितपूर्ण नृत्य करते और व्यथा तथा वेदना के साथ कराहते हैं ।'[2]

प्रसाद जी के इसी गुण के कारण डा० गुलाबराय ने प्रसाद को चित्रकार और गायक दोनों माना है क्योंकि उनके गीतों में लेखक को अनुभूति, कला, चित्रात्मकता और संगीतात्मकता का अभूतपूर्ण समन्वय दृष्टिगत होता है ।[3] तात्पर्य यह कि प्रसाद के नाटक-गीतों के छन्दों में संगीत सर्वत्र सुरक्षित है ।

निष्कर्ष रूप में जयशंकर प्रसाद का नाटक-संगीत एक ओर तत्कालीन परम्पराओं से प्रभावित है और दूसरी ओर उनके नवीन दृष्टिकोण एवं प्रयोग से भी । अत: उनका मुख्य श्रेय यही है कि उन्होंने नाटक-संगीत को पुरातन परिपाटी से मुक्त कर नया मोड़ देने का प्रयास किया । संगीत-पक्ष और काव्य-पक्ष दोनों दृष्टि से उन्होंने नाटक-गीतों को सुसंस्कृत और माधुर्यमय वनाया । उन्होंने अपने स्त्री-पात्रों की सूक्ष्मतम भावनाओं को गीतों के माध्यम से अभिव्यंजित किया । भारतीय राष्ट्र का गौरव उनके गीतों में गूंज उठा, रूप और विलास का उन्माद उनके गीतों में उभर आया और मूक वेदना जैसे साकार हो गयी । किन्तु इन सभी गुणों के साथ-साथ एक ओर जहाँ उनके परिस्थिति-सापेक्ष गीतों द्वारा नाटकीय वातावरण की सृष्टि हुयी, दूसरी ओर उनकी आवश्यकता से अभिनय वाधित भी हुआ जिसके कारण वे नाटक

१— चन्द्रगुप्त, पं० अंक, पृ० १६५ ।
२—प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन : किशोरीलाल गुप्त, पृ० १०१ ।
३—प्रसाद की कला : डा० गुलावराय : पृ० १९० ।

संगीत के श्रेष्ठतम प्रयोगकर्ता के रूप में सिद्ध न हो सके। इसके अतिरिक्त यद्यपि गीत-पक्ष को उन्होंने साहित्यिकता और सुसंस्कृतता प्रदान की तथा शास्त्रीय रागों की मर्यादा में उन्हें बांधा तथापि नृत्य और वाद्य की दृष्टि से वह हिन्दी-नाट्य-साहित्य को कोई नवीनता न दे सके।

४ | नाटकों में संगीत का क्रमिक विकास

१९१० से १९६० तक का क्रमिक विकास

पूर्व अध्याय में प्रसाद के नाटक-संगीत पर विचार किया गया है। प्रसाद के साथ-साथ ही हिन्दी नाटकों की वह धारा प्रवाहित होती है जिसका प्रारम्भ १९१० ई० से होता है। तब से लेकर आज के युग तक हिन्दी-नाटकों में संगीत के प्रयोग की स्थिति एवं उसके स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। संगीत के प्रति नाटककारों के दृष्टिकोण बदलते रहे हैं, उनके मानदंडों में परिवर्तन होता रहा है। अतएव १९१० से १९६० तक के हिन्दी-नाटकों में क्या संगीत की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रही है अथवा कहीं उसमें गतिरोध भी है तथा नाटककार पूर्व-प्रचलित परम्पराओं का भी पालन करते रहे हैं अथवा सूक्ष्मदर्शिता से नए प्रयोगों की ओर भी प्रयत्नशील रहे हैं ? इत्यादि दृष्टियों से निर्धारित काल के हिन्दी नाटक-संगीत पर इस अध्याय में विचार किया जायगा।

१९१० ई० से १९३५ ई० तक के नाटकों में संगीत की स्थिति :

भारतेन्दु-काल में नाटकों के अन्तर्गत संगीत की एक धारा बंधकर चलने लगी थी। यद्यपि उस समय भी पारसी थियेटर के उर्दू-प्रधान नाटकों की भरमार थी जिनमें साधारण फिल्मों की तरह वेश्या-नृत्य, गीत, सस्ते मनोरंजन एवं शेरो-शायरी की प्रधानता थी। इसी संगीत की प्रतिक्रिया में भारतेन्दु ने नाटकों में संगीत के शास्त्रीय पक्ष एवं जन-संगीत की ओर तथा साहित्यिकता की ओर जनता का ध्यान आकर्पित किया था जिनसे तत्कालीन नाटककारों को एक दिशा मिली किन्तु नाटककार पारसी नाटकों के संगीत से मुक्ति न पा सके। यहां तक कि प्रसाद-युग में आकर भी उसी प्रकार के संगीत से आपूर्ण नाटकों की मात्रा बढ़ती गयी। कारण यही है कि प्रसाद के समय तक रंगमंचीय नाटक इतनी प्रचुर मात्रा में लिखे व खेले गए कि स्वयं प्रसाद भी उस प्रभाव से पूर्णतया मुक्त न रह सके। यही स्थिति अन्य नाटककारों के साथ हुई। इस प्रकार संगीत की दृष्टि से इस काल के हिन्दी-नाटकों में दो धारायें मिलती हैं जिनके संगीत-पक्ष में समानता भी है और महत्वपूर्ण अन्तर भी। ये दो धारायें निम्नलिखित हैं—

१—साहित्यिक नाटकों का संगीत
२—रंगमंचीय नाटकों का संगीत।

चूंकि इस काल के साहित्यिक नाटक अधिकांश रूप में रंगमंचीय नाटक-संगीत से प्रभावित हैं अतएव पहले रंगमंचीय नाटक-संगीत का ही विवेचन उपयुक्त होगा।

रंगमंचीय नाटकों में संगीत की स्थिति :

यह स्पष्ट ही है कि इन नाटकों की रचना रंगमंच के लिए ही हुई। अतएव इनका मुख्य उद्देश्य तत्कालीन दर्शकगणों की रुचि के अनुकूल वातावरण की सृष्टि करना था जिसमें संगीत सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुआ है। इस कारण इन नाटकों के संगीत में वे सब प्रभाव लाने के प्रयत्न किए गए जो जनता को आकर्षित कर सकें। इस आकर्षण के हेतु तथा धनोपार्जन के हेतु संगीत में वे सब अस्वाभाविकतायें कलाहीनता एवं असाहित्यिकता प्राप्त होती है जो दर्शकों को चमत्कृत कर सके। इस प्रकार के संगीत को लेकर इन नाटकों में भी दो धारायें चलीं—व्यवसायी रंगमंचीय नाटक तथा अव्यवसायी रंगमंचीय नाटक। चूंकि दोनों के संगीत में कोई अन्तर नहीं है अतः उनका एक साथ ही विवेचन किया जायगा। रंगमंचीय नाटकों के संगीत में निम्न विशेषतायें हैं—

१—सभी नाटकों में संगीत का प्रयोग।

२—संगीत के तीन अंग—गीत, वाद्य, नृत्य—में से गीत की प्रधानता, नृत्य की अल्पता और वाद्य का अभाव।

३—शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा प्रचलित संगीत की प्रधानता तथा तुकबन्दी एवं थियेट्रिकल तर्ज का प्रचार।

४—संगीत पर उर्दू शैली का प्रभाव।

५—संस्कृत नाटकों के समान मंगलाचरण तथा भरत-वाक्य का प्रयोग।

६—सखियों के गीतों का बाहुल्य।

७—दरबारी नर्तकियों के नृत्य, अप्सरा-नृत्य, वेश्या-नृत्य एवं नृत्य-गीत का प्राधान्य।

८—विदूषक से लेकर ईश्वर तक सभी पात्रों द्वारा गायन।

९—समय-असमय गाने की प्रणाली।

१०—गीत-संख्या का आधिक्य।

११—गीतों में शृंगारिकता तथा अश्लीलता की प्रचुरता।

जन-मन-रंजन के लक्ष्य को लेकर कोई भी रंगमंचीय नाटक संगीत से अछूता नहीं है। चूंकि अभिनय तथा दर्शकों की दृष्टि से गीत ही सामान्य साधन हैं जिसमें प्रत्येक स्थिति में कोई भी बात किसी भी रूप में कही जा सकती है—दर्शकों को हंसाने के लिये भी और रुलाने के लिए भी; अतएव गीत सभी नाटकों में मिलते हैं। वाद्य-प्रयोग रंगमंचीय नाटकों में नाममात्र को हुआ है। नृत्य भी गीत की अपेक्षा अधिक गौण रहा है। नृत्य-परम्परा में दरबारी-नृत्य तथा वेश्या-नृत्यों के अतिरिक्त कोई नवीनता नहीं है। वाद्य तथा नृत्य के इस स्वरूप का विवरण पंचम अध्याय में दिया

जायगा।[1] गीत ही इन नाटकों के प्रमुख अंग हैं। अधिकतर नाटकों में गीतों की अधिक संख्या की परम्परा बनी रही है क्योंकि उससे नाटक का कलेवर भी बढ़ता है, इच्छानुसार विषयों की मनोनुकूल रचना भी हो सकती है। गीत-संख्या की दृष्टि से इन नाटकों में दो वर्ग मिलते हैं—

१—अधिक गीत वाले नाटक।

२—कम गीत वाले नाटक।

प्रथम वर्ग के नाटकों की ही संख्या अधिक हैं। उदाहरणार्थ 'विपद कसौटी' और 'महाभारत' में क्रमशः इक्कीस और उन्नीस गीत हैं। 'द्रौपदी स्वयंबर', 'श्रवणकुमार', 'रुक्मिणी-मंगल' और परमभक्त प्रह्लाद' में क्रमशः तेईस-चौबीस गीत हैं। इसी प्रकार 'पद्मिनी' (किशनचन्द जेबा), 'सत्यनारायण' (बलदेवप्रसाद खरे), 'दोधारी तलवार' (दुर्गाप्रसाद गुप्त), मोरध्वज (जमुनादास मेहरा), 'अजामिल उद्धार' (आरजू), 'जनक नन्दिनी' (तुलसीदत्त शैदा), 'विश्वामित्र' और 'जवानी की भूल' (जमुनादास मेहरा), 'श्रीकृष्णावतार' (राधेश्याम कथावाचक) इत्यादि नाटकों में लगभग बीस-इक्कीस गीत है। 'बिल्वमंगल' (बलदेवप्रसाद खरे) में तो उन्तीस गीत हैं।

इन्हीं के साथ-साथ अपेक्षाकृत कम गीतों से युक्त नाटक भी लिखे एवं खेले जा रहे थे। ऐसे नाटकों में दस या बारह गीत भी हैं और उनसे कम भी। दो-चार नाटकों में तो चार-पांच गीतों से ही संतोष कर लिया गया है। उदाहरणार्थ 'बनवीर नाटक', 'हिन्द महिला' और 'न्यू लाइट' में केवल चार-पांच गीत हैं। दूसरी ओर 'जवानी की भूल' (शिवरामदास गुप्त), 'चण्डीदास' (आगाहश्र), 'हिन्दू कन्या' (जमुनादास मेहरा), 'गरीब किसान' (दुर्गाप्रसाद गुप्त), 'कलियुग' (आनन्द प्रसाद खत्री) आदि नाटकों में दस-बारह गीत उपलब्ध होते हैं। यह अवश्य है कि इस संख्या वाले नाटक-वर्ग की अपेक्षा प्रथम वर्ग के रंगमंचीय नाटक ही इस काल में अधिक संख्या में प्राप्त होते है। अतएव सामान्य रूप में गीत-बाहुल्य इन नाटकों का वैशिष्ट्य माना जा सकता है जिसकी नींव वर्षों तक हिन्दी नाटकों में अत्यन्त दृढ़ रही है।

चलता-फिरता तथा हल्का-फुल्का संगीत इन गीतों की विशेषता है जो किसी न किसी तर्ज पर बैठा दिये जाते थे। इसे थियेट्रिकल तर्ज का नाम दे दिया गया। यह तर्ज इतनी प्रगति से चल पड़ी कि अनेक नाटकों में इसी के आधार पर गीतों की रचना होने लगी। इस प्रकार के गीतों में तुकबन्दी ही प्रधान होती थी। मुख्य रूप से तुकबन्दी तथा 'थियेट्रिकल तर्ज' ही इन नाटकों के गीतों की सर्वप्रमुख विशेपता एवं नवीनता है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

मनमोहन सजनवां मैं जाऊं तुम पर वारी।
तुम कुआं हो मैं डोरी तुम भोजन मैं थारी।

१—देखिए पंचम अध्याय।

करेंगे खटपट मिलेंगे चटपट तुम स्वामी मैं नारी ॥
पाकिट तुम हो नोट मैं हूं तुम रुपया मैं रेजकारी ।
रहूंगी जीवन की छाया बन तुम प्रेमी मैं प्यारी ।[1]
उड़ गयी चिड़िया लुढ़कता रह गया यह धड़ कहीं ।
हैं जनक रोते कहीं और प्रेमिका रोती कहीं ।
जिस समय यह भाप का इंजिन भड़कता गर्व से
देखते थे भी नहीं कि मृत्यु आवे न कहीं ।[2]

शास्त्रीय रागों में इस काल के बहुत कम गीत बांधे गए हैं । यह विशेषता केवल हरिदास माणिक कृत 'पांडव प्रताप' और 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटकों में पायी जाती है जिसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा । अन्य नाटक शास्त्रीय संगीत से वंचित हैं ।

इन नाटकों का संगीत उर्दू शैली से अत्यधिक प्रभावित है । उर्दू संगीत का प्रभाव ग़ज़ल और शेरो-शायरी के रूप में पड़ा है । चूंकि इस प्रकार की रचनायें साधारण जनता की बुद्धि और रुचि के अनुकूल होती हैं और शृंगार रस गज़ल और शायरी का प्रधान अंग होता है अत: इसी प्रकार के प्रयोग अधिक किए गए हैं, यथा—

पीलो हमारे हाथ से जामे शराब को
गैरत दो माहताब से तुम आफताब को ।[3]
अगर किस्मत से लैला के गले का हार हो जाता
जमाने भर की नजरों में खटकता खार हो जाता ।
लड़कपन में इस शोख का दीदार हो जाता
इलाजे दर्द दिल करना मुझे दुश्वार हो जाता ।[4]

उर्दू का वह प्रभाव इन नाटकों में गीतों की भाषा पर भी पड़ा है और संगीत पर भी । विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा ।

इन सभी विशेषताओं के अतिरिक्त रंगमंचीय नाटक संस्कृत नाटकों से भी प्रभावित हैं क्योंकि इनमें भी अधिकतर नाटकों का आरम्भ मंगलाचरण, प्रार्थना या स्तुति से होता है तथा कहीं-कहीं नाटकान्त भी भरत-वाक्य अथवा उसके समान किसी मंगल गीत द्वारा होता है । राधेश्याम कथावाचक ने सभी नाटकों का प्रारम्भ कहीं मंगलाचरण से तथा कहीं नट-नटी अथवा बालिकाओं के गीत से कराया है । प्रस्तावना के अन्त में नट-नटी या बालिकाओं के गीत द्वारा नाटक के कथानक का परिचय दे दिया गया है । इनके 'द्रोपदी स्वयम्वर', 'श्रवणकुमार', 'परमभक्त प्रह्लाद 'श्रीकृष्णावतार' आदि नाटकों में यही क्रम है । अन्य नाटककारों के पौराणिक,

१—न्यूलाइट : शिवरामदास गुप्त : प्र० अंक, पृ० ४ ।
२—कलियुग : आनन्द प्रसाद खत्री : द्वि० अंक, पृ० ४२ ।
३—हिन्दू स्त्री : आरज़ू : प्र० अंक, पृ० ३५ ।
४—जवानी की भूल : शिवरामदास गुप्त : प्र० अंक : पृ० १५ ।

रागः—राग की उत्पत्ति थाट से होती है। एक थाट से कई राग उत्पन्न हो सकते हैं। वस्तुतः राग शब्द का सम्बन्ध "रंजनात्मकता" से है। ग्रन्थकारों ने राग की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की है—

इत्थेयं रागशब्दस्य व्युत्पत्तिरभिधीयते।
रञ्जनाज्जायते रागो व्युत्पत्तिः समुदाहृता ॥[१]
योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविशेषितः।
रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥[२]
स्वरवर्णविशेषेण ध्वनिभेदेन वा पुनः।
रंज्यते येन यः कश्चित् स रागः सम्मतः सताम् ॥[३]
येस्तु चेतांसि रज्यन्ते जगत्त्रितयवर्तिनाम्।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः ॥[४]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वर और वर्ण के सौंदर्य से विभूषित ध्वनि की वह विशिष्ट रचना जो जन-मन-रंजन करने में समर्थ हो, उसे "राग" कहा जाता है। अहोवल पंडित का भी कथन है कि—

रंजकः स्वरसन्दर्भो राग इत्ययभिधीयते।[५]

अर्थात स्वरों का एक रंजक संदर्भ (सुसंगठित समूह) राग कहलाता है। इसी "रंजन" के कारण उसे "राग" की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार क्रमशः श्रुति से स्वर, स्वर से ग्राम, ग्राम से मूर्च्छना, मूर्च्छना से जाति और जाति से राग की उत्पत्ति होती है।[६]

वर्णः—प्रत्येक राग में वर्ण का होना आवश्यक है। वर्ण गायन की प्रत्यक्ष क्रिया को कहते हैं—

"गानक्रियोच्यते वर्णः"[७]

वर्ण चार प्रकार के होते हैं—(१) स्थाई (२) आरोही (३) अवरोही (४) संचारी। एक ही स्वर को वार-वार कहना स्थाई वर्ण कहलाता है, षड्ज से निषाद तथा स्वरों के गाने को आरोही वर्ण और निषाद से षड्ज तक जाने को अवरोही वर्ण कहते हैं और जिसमें आरोह-अवरोह दोनों का सम्मिश्रण हो उसे संचारी वर्ण कहते।[८]

१—मतंग : भरत कोश, पृ० ९२३।
२—संगीतरत्नाकर : शार्ङ्गदेव (द्वितीय भाग), पृ० २।
३—भरत कोश, पृ० ९२१।
४—शुमड् कर : भरतकोश, पृ० ९२२।
५—संगीत पारिजात : अहोवल, पृ० ९१।
६—संगीत शास्त्र : पं० वासुदेव शास्त्री, पृ० ३८।
७—संगीत दर्पण : दामोदर, पृ० ६७।
८—क्रमिक पुस्तक माला (दूसरी पुस्तक) : भातखंडे, पृ० १३।

सामाजिक, ऐतिहासिक सभी प्रकार के नाटकों में यह क्रम चलता है। उदाहरणार्थ, सामाजिक नाटक 'दूज का चाँद' का आरम्भ शिव-स्तुति से होता है—

पाहि माम् जय महेश ।।
पीड़ित है सकल देश ।
काटो प्रभु जन-कलेश ।।[1]

'हिन्दू कन्या' के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में अप्सरायें स्तुति करती हैं।[2] 'दौलत की दुनियां' का प्रारम्भ भारत-माता की स्तुति से किया गया है।[3] 'कलियुग' नाटकारम्भ में सूत्रधार शिव-वन्दना करता है।[4] यह परम्परा इतनी प्रचलित थी कि उर्दू नाटककारों ने भी हिन्दी तथा उर्दू नाटकों में इसको अपनाया है। तुलसीदत्त शैदा के 'जनक-नन्दिनी' और 'भक्त-सूरदास', आरजू के 'अजामिल उद्धार' किशन जेबा के 'पद्मिनी' नाटकों में तो मंगलाचरण है ही; यहां तक कि 'जख्मी हिन्दू'[5] 'शहीद सन्यासी',[6] 'औरत का दिल'[7] जैसे उर्दू नाटकों का आरम्भ मंगलाचरण अथवा प्रार्थना से हुआ है। भरतवाक्य का प्रयोग कुछ नाटकों में हुआ है। ऐसे नाटकों का अन्त या तो मंगल-गीत से हुआ है या स्तुति से। पं० राधेश्याम और हरिदास माणिक के नाटकों में इसका विशेषतया पालन हुआ है। माणिक के दोनों नाटक 'पांडव-प्रताप' और 'संयोगिता स्वयम्वर' का अन्त आशीर्वाद से हुआ है। इस दृष्टि से जमुनादास मेहरा कृत 'विश्वामित्र', 'देवयानी', 'मोरध्वज', 'विपद-कसौटी' नाटकों का नाम अग्रगण्य है।

रंगमंचीय नाटकों के संगीत की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है सखियों के गीतों की प्रचलित परम्परा। अधिकतर नाटकों में प्रायः स्थलों पर सखियां अवश्य गाती हैं, कभी अपनी सखी-प्रधान नायिका-के मनोरंजनार्थ, कभी उसके प्रणय की छेड़-छाड़ के लिए, कभी मंगलगान के लिए, कभी दुःख में सान्त्वना देने के लिए कभी शुभ-कामना प्रदान करने के हेतु। ये सखियां शायद ही किसी नाटक में न हों। कभी-कभी तो ये अपने ही आठ-दस गीतों से दर्शकों को मुग्ध करने का प्रयास करती हैं। 'देवयानी' (जमुनादास मेहरा) के सोलह गीतों में से आठ गीत केवल सखियों के ही हैं। 'नल-दमयन्ती' (दुर्गाप्रसाद गुप्त) में भी सखियां पांच गीत गाती हैं।

१—दूज का चाँद : शिवरामदास गुप्त : प्र० अंक : पृ० ३।

२—हिन्दू कन्या : जमुनादास मेहरा : प्र० अंक : पृ० १।

३—दौलत की दुनियां : शिवरामदास गुप्त : पृ० १।

४—कलियुग : आनन्द प्रसाद खत्री : पृ० १।

५—जख्मी हिन्दू : किशनचन्द जेबा : पृ० १।

६—शहीद सन्यासी : वही, पृ० १।

७—औरत का दिल ; आगा हश्र : पृ० १।

'पहिली भूल' में नायिका लक्ष्मी के साथ सखियां ऋतु-गीत गाती हैं।[1] पुन: अन्य-स्थलों पर कभी लक्ष्मी को फूलों से सजाती हुई गाती हैं[2] और कभी लक्ष्मी के विवाह के सम्बन्ध में छेड़छाड़ करती हुई गाती हैं।[3] 'जवानी की भूल' में नायिका रमा को मिलन-रात्रि की बधाई देती हुई सखियों का गायन है[4], आगे पुन: पति के दुराचार से पीड़ित रमा का मन बहलाने के लिए सखियों को गाना पड़ता है।[5] इसी प्रकार 'द्रौपदी स्वयम्वर' में पहले द्रुपद सभा में सहेलियों का गायन हैं,[6] उसके बाद अस्त्र-विद्या परीक्षा के पूर्व नदी-तट पर वे गाती हैं,[7] पुन: रूठी हुई द्रौपदी के लिए उन्हें कई गीत गाने पड़ते हैं।[8] 'उपा अनिरुद्ध' (आरजू), 'कृष्ण सुदामा' (जमुनादास मेहरा), 'सत्यनारायण' (बलदेवप्रसाद खरे), 'देवयानी' आदि नाटकों में यह परम्परा देखी जा सकती है। ये सखियां विविध रूप में गाती हैं। कभी सामूहिक रूप में, कभी एकाकी और कभी अन्य प्रणाली का आश्रय लेती हैं जो रंगमंचीय नाटकों में बहुत प्रचलित थी; विशेषकर पारसी रंगमंचीय नाटकों में। उदाहरणार्थ—

पहली सहेली- संकुचाओ ना लजाओ प्यारी बातें तो बताओ।
दमयन्ती- मोरे जलते हृदय को अधिक न जलाओ।
२ री सखी- संकुची सखियां कहत हैं सखि तो मन की बात।
३ री सखी- यह है मन्दिर प्रेम का पियत नशा चढ़ि जात॥
सब सखी- चित की बतियां करके घतियां काहे को छिपाओ।
दमयन्ती- जाव मन को मोरे तानों के बानों से घायल नाहिं बनाओ॥[9]

सखी-गीतों के अतिरिक्त अन्य प्रचलित परम्परा है—दरबार-नर्तकी के नृत्य-गीत, गायक व गायिकाओं के गीत, अप्सराओं के नृत्य-गीत तथा वेश्याओं के नृत्यगीत। ये परम्परा हमें भारतेन्दु से प्रसादोत्तर-युग तक में प्राप्त होती है। यह अवश्य है कि इस प्रकार के गीत एवं नृत्य-गीत पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में ही प्राप्य हैं क्योंकि दरबारी व्यवस्था वहीं सम्भव होती है। इस प्रकार के नृत्य-गीतों व अन्य गीतों को ऐसे नाटकों में भरसक स्थान दिया गया है। इन्हीं के साथ-साथ अप्सराओं के गीत तथा नृत्य-गीत भी दिए गये हैं। इन सभी गीतों की योजना का उद्देश्य रंगमंच की शोभा बढ़ाना तथा दरबार का दृश्य स्वाभाविक बनाना होता है। मुख्यत:

१—पहिली भूल : शिवरामदास गुप्त : प्र० अंक : पृ० २०।
२—वही, पृ० २२। ३—वही, पृ० २३।
४—जवानी की भूल : जमुनादास मेहरा : प्र० अंक : पृ० ८।
५—वही, पृ० ३९।
६—द्रौपदी स्वयम्वर : ज्वालाराम नागर : प्र० अंक : पृ० ६।
७—वही, पृ० ४६।
८—वही तृ० अंक, पृ० ९५, ९६ और १०८।
९—नल-दमयन्ती : दुर्गा प्रसाद गुप्त : प्र० अंक : दृश्य ३ : पृ० १८।

या तो राजा की इच्छा का पालन करना, उसके दरबार की शोभा बढ़ाना, मंगल गीत गाना, बधाई देना तथा यश-गान करना इनका लक्ष्य होता है। अप्सराओं के गीत व नृत्य उन्हीं नाटकों में हैं जहां कथानक के साथ उनकी उपयुक्तता है। यथा—'पांडव-प्रताप', 'हिन्दू-कन्या', 'विश्वामित्र', 'राजा शिवि', 'सत्याग्रही प्रह्लाद', 'श्रीकृष्णार्जुन युद्ध', आदि नाटकों में अप्सराओं के गान प्रयुक्त किए गए हैं। 'पांडव-प्रताप' में तो ऐसे पांच गीत हैं। 'विश्वामित्र' में उनके तप को भंग करने के लिए मेनका तथा दो अप्सरायें नृत्य करती व गाती हैं।[1] 'कृष्णार्जुन युद्ध' में इन्द्रसभा में किन्नर-किन्नरियां नृत्य करती हैं और गाती हैं।[2] 'राजा शिवि' में भी इन्द्रलोक का दृश्य अप्सराओं के नृत्य-गान के साथ प्रस्तुत किया है।[3] पुनः शिवि के दरबार में भी अप्सराओं का नृत्य-गान है—

नाचो सहेलियां, गाओ सोहनियां,
खेलो अठखेलियां, प्यारियां हां।[4]

'सत्याग्रही प्रहलाद' में भी इन्द्रलोक में अप्सराओं का नृत्य-गान है।[5] तात्पर्य यह कि इनकी योजना कथानक के अनुसार हुई है।

इसी प्रकार इन नाटकों में दरबारी गायकों अथवा गायिकाओं की योजना की गयी है। ये गीत भी पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में है। 'महाभारत' में पांडवों को आधा राज्य देने के विचार के उपरान्त गायक गण आकर गाते हैं—

तेरो निस दिन राज्य अटल रहे।[6]

'राजा शिवि के दरबार में गवैयों का गान-वाद्य होता है—

गावत गुनियन गन समाज
चहुं ओर बाजन बाजती, शोभा सजी अति साजती।[7]

'संयोगिता हरण' में पृथ्वीराज के दरबार में गायिकायें गाती हैं—

जुग जुग यह राज फलै तेरा।[8]

श्री कृष्णावतार के प्रथम अंक के छठे दृश्य में कंस के दरबार में गायिकाओं की

१—विश्वामित्र : जमुनादास मेहरा : द्वि० अंक, पृ० ३९।

२—कृष्णार्जुन युद्ध : माखनलाल चतुर्वेदी : द्वि० अंक, पृ० ३५।

३—राजा शिवि : बल्देव प्रसाद खरे : प्र० अंक, पृ० १३।

४—वही, तृ० अंक : पृ० ९७।

५—सत्याग्रही प्रहलाद : बलदेव प्रसाद खरे : प्र० अंक, पृ० ७।

६—महाभारत : पं० माधव शुक्ल, पृ० अंक, पृ० ५२।

७—राजाशिवि : बल्देव प्रसाद खरे : द्वि० अंक, पृ० ९०।

८—संयोगिता हरण : हरिदास माणिक : प्र० अंक, पृ० ४६।

गायन-योजना है।[1] 'द्रौपदी स्वयम्वर' में लाक्षागृह में पांडवों की उपस्थिति के समय गायिकायें गाती हैं।[2] जिस प्रकार पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में गायिकाओं तथा गायकों की व्यवस्था है, उसी प्रकार सामाजिक नाटकों में वेश्या-गीतों की। वे सभी नाटक जिनमें, मदिरा, दुराचार, वेश्या-वृत्ति, धन इत्यादि की समस्याओं को लिया गया है, वेश्या-नृत्य-गीतों के स्वच्छन्द प्रयोग से पूर्ण हैं। 'दूज का चाँद',[3] 'पाप-परिणाम',[4] 'जवानी की भूल',[5] 'विपद कसौटी'[6] आदि नाटकों में वेश्यागीतों पर इच्छानुसार प्रयोग किया गया है। ये सभी गीत वेश्याओं की प्रवृत्ति, हाव-भाव तथा शृंगारिकता में वृद्धि करने वाले हैं। इन गीतों पर उर्दू का विशेषतया प्रभाव है। इस प्रकार यह एक बहुत ही प्रचलित परम्परा थी जो सस्ते मनोरंज-नार्थ अधिक से अधिक प्रयुक्त होती जा रही थी और जिसका पूर्णतया बहिष्कार भारतेन्दु ने अपने नाटकों में किया था ताकि जन-रुचि में सुधार हो सके। किन्तु, प्रसाद-युग तक रंगमंचीय नाटकों में इनका प्रचार चलता रहा।

इन रंगमंचीय नाटकों की एक अन्य विशेषता है प्रत्येक पात्र का गायक होना। यहां इस बात का प्रयत्न नहीं कि स्त्री पात्र ही गायन के मुख्य अधिकारी हों अथवा कुछ प्रधान पात्र ही, वरन् पुरुष पात्र भी उतनी ही संख्या में गाते हैं तथा सभी गाते हैं। विदूषक, नौकर, लुहार, बढ़ई, राजगीर, यमदूत, राक्षस-राक्षसियां सभी संगीतज्ञ हैं तथा नारद विशेष रूप से वीणा तथा भजन-कीर्तन के वादक एवं गायक रहे हैं। 'श्रीकृष्णावतार' में केवल नारद के सात गीत हैं। अन्य पौराणिक नाटकों में भी नारद का आगमन तथा प्रस्थान संगीत द्वारा ही कराया गया है। यह प्रणाली भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटकों में भी थी तथा प्रसाद-युग में भी पायी जाती है। इसी प्रकार यमदूत और पिशाच पात्रों का गायन भारतेन्दु ने भी कराया है।[7] इनके अतिरिक्त भीम, युधिष्ठर, दुर्योधन, अर्जुन, अलाउद्दीन, सैनिक, इत्यादि प्रायः गाते हैं। स्त्रियों में भी मुख्य नायिका के अतिरिक्त अन्य दासी, सखी, वेश्या, अप्सरा, गायिका, रानी आदि गाती हैं। सबसे अधिक अस्वाभाविक तो तब लगता है जब रंगमंच पर आकर विष्णु, शंकर और कृष्ण भगवान भी गाने लगते हैं, उदाहरणार्थ 'परम भक्त प्रहलाद' में विष्णु भगवान गाते हैं—

१—श्रीकृष्णावतार : राधेश्याम कथावाचक : प्र० अंक, पृ० ४५।

२—द्रौपदी स्वयम्वर : वही, पृ० ६५।

३—दूज का चांद : शिवरामदास गुप्त : प्र० अंक, पृ० ३३-३४।

४—पाप-परिणाम : जमुनादास मेहरा : पृ० १३ ५०, ९०।

५—जवानी की भूल : शिवराम दास गुप्त : प्र० अंक, पृ० ११।

६—विपद कसौटी : जमुनादास मेहरा : दृश्य ६, पृ० ९४-९५।

७—देखिए द्वितीय अध्याय।

भाव के भूखे हैं भगवान।
भाव न ही सच्चा यदि मन में तो सब व्यर्थ विधान।[1]

'कृष्ण-सुदामा' में भी भगवान का गायन है।[2] वस्तुत: नाटककार के मस्तिष्क में दर्शकों को चमत्कृत करने तथा मुग्ध करने की प्रवृत्ति रहती थी और तत्कालीन जनता को रंगमंच पर उनके प्रिय भगवान को गाते हुए दिखाकर वे अपने उद्देश्य में सफल होते होंगे, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार का कोई नियम नहीं था कि कुछ विशिष्ट पात्र ही गायें। न स्त्री पात्रों के गायन की ही प्रमुखता थी।

नाटक में पात्रों द्वारा समय-असमय गाने की प्रणाली इन्हीं नाटकों की देन है। प्रत्येक पात्र, प्रत्येक अवसर पर तथा हर प्रकार के भाव की स्थिति में गाने में कुशल एवं समर्थ है। क्रोध, प्रतिहिंसा, ईर्ष्या, शोक आदि से उन्मत होकर जब पात्र सस्वर गाने लगते हैं तो संगीत अवश्य हास्यास्पद एवं अप्रिय लगने लगता है। 'संसार स्वप्न' नाटक में गुलाब वेश्या नायिका सुशीला के प्रति ईर्ष्या-दग्ध होकर गाती है—

जा जा जा मतवाली, मैं हूं नागिन डसने वाली, मेरी बाते हैं सब बेढ़ब
तेरी काल हुं मैं विष हूं सांप भी नहीं इतना
मिटा दूंगी, जला दूंगी, कर दूं मैं सब गड़बड़।[3]

'कलियुग' में नरसिंह पात्र प्रतिहिंसा से पागल होकर गाने लगता है—

ओ वीरेन्द्र-वीरेन्द्र ओ दुष्ट भ्रात करूंगा मैं तेरा नाश।
करूँगा मैं तेरा नाश और रहे सदा तू उदास।
इस चाल से तुझे गिराऊं कुल सम्पति वश में लाऊं।
और मूर्ख पिता को रुलाऊं, तब आनंद-आनंद गाऊं।[4]

'महाभारत नाटक' में शकुनि पांसा घुमाते हुए 'दादरा' गाते हैं। अपने पांसे की चाल में मग्न होकर वह गीत गा जाते हैं।[5] इसी प्रकार 'दोधारी तलवार' में मुनुवां और सहदेव को जूते से मारा जा रहा है, पिटते हुए भी दोनों गाते हैं—

मीठी-मीठी जूतियों की चक्खो बहार।[6]

अतएव नाटकों में संगीत के अवसर और परिस्थिति की अनुकूलता को भुलाकर खिलवाड़ किया गया है जो अत्यन्त हास्यास्पद, अस्वाभाविक और कलाहीन प्रतीत होता है।

१—परमभक्त प्रहलाद : राधेश्याम कथावाचक : तृ० अंक, पृ० १५६।
२—कृष्ण-सुदामा : जमुनादास मेहरा : द्वि० अंक : पृ० ७०।
३—संसार-स्वप्न : आनन्द प्रसाद खत्री : प्र० अंक, पृ० ६।
४—कलियुग : वही, पृ० १४।
५—महाभारत नाटक : माधव शुक्ल : तृ० अंक, पृ० ७५-७६।
६—दोधारी तलवार : दुर्गाप्रसाद गुप्त : पृ० ५२-५३।

इन दोषों का एक अन्य नमूना है शृंगारिक तथा अश्लील वातावरण उत्पन्न करने में संगीत का प्रयोग। इस प्रकार के सस्ते गीतों का इन नाटकों में अभाव नहीं है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

मद भरके नैना पिलादे जिलादे मोरे मोहना।
गोरा गात उमर मोरी वारी यौवन के रस की मतवारी।
जालम के विरहा की मारी।[1]
मेरी फूलती-फलती जोबन की डाल।
इसे रखूंगी कैसे संभाल के।[2]
मोरे अंगना में आये आली।
मैं जाऊँ तुम पर वारी-हां हां-अंगना
जब आंचल हमरा पकड़े हम हंस-हंस उनसे झगड़े
चोली पै नजरिया आये, चुंदरी खिसक मोरी आये।[3]

यह अवश्य है कि इस प्रकार की शृंगारिकता और अश्लीलता केवल वेश्याओं, अप्सराओं तथा कहीं-कही दरबारी नर्तकियों के गीतों में ही अधिक है, अन्यथा इस प्रकार के गीत नाटकों में नहीं पाये जाते हैं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंचीय नाटक-संगीत की क्या विशेषतायें थीं तथा संगीत के प्रति इन नाटककारों का क्या दृष्टिकोण था? निश्चय ही इस प्रकार के संगीत ने भारतेन्दु से लेकर प्रसाद-युग तक के हिन्दी-नाटकों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। यहां तक कि प्रसादोत्तर नाटकों में भी कहीं-कहीं इस संगीत के लक्षण उपलब्ध हो जाते हैं अत: हिन्दी-नाटक-संगीत की दृष्टि से इन नाटकों का बहुत महत्व है। अनेक दोष और अस्वाभाविकतायें होते हुए भी वर्षों तक हिन्दी नाटक इस प्रभाव को अपनाते चले गये। यह अवश्य आश्चर्य का विषय है। हिन्दी रंगमंच की दृष्टि से इन नाटकों का भले ही कुछ महत्व हो क्योंकि इन्हीं में से आगा हश्र, राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद बेताब, हरिकृष्ण जौहर, आदि नाटककारों की प्रतिभा सम्मुख आयी, किन्तु संगीत की दृष्टि से इन रंगमंचीय नाटकों ने वातावरण को दूषित ही अधिक किया। हां, केवल राधेश्याम कथावाचक ऐसे हैं जिन्होंने पौराणिक कथाओं को लेकर उनके संगीत को भी भजन, कीर्तन तथा भारतीय मर्यादा तक सीमित रखने का प्रयत्न किया। इनके गीतों में उर्दू का उतना अधिक प्रभाव नहीं है, न शृंगारिकता है और न उतने अटपटे गीत हैं। उनकी संगीत संबंधी कुछ विशेषताओं का वर्णन अगले अध्यायों में यथास्थान किया जायगा। इस प्रकार

१—दूज का चांद : शिवरामदास गुप्त, प्र० अंक, पृ० १८।
२—यहूदी की लड़की : आगा हश्र, द्वि० अंक, पृ० २७।
३—धरती माता : शिवराम दास गुप्त : द्वि० अंक, पृ० ५१-५२।

संगीत-क्षेत्र में इन रंगमंचीय नाटकों का इतना ही महत्व स्वीकार किया जा सकता है कि इनके अक्षुण्ण प्रभाव के कारण हिन्दी नाटकों में संगीत की प्रतिष्ठा बनी रही तथा सरलतापूर्वक नाटक से संगीत का पूर्णत: बहिष्कार संभव न हो सका।

साहित्यिक नाटकों में संगीत की स्थिति :

नाटक-संगीत की दृष्टि से यह काल विविध प्रभावों से पूर्ण है। इस काल के साहित्यिक नाटक संगीत की किसी एक परम्परा अथवा प्रणाली के द्योतक नहीं हैं वरन् उनके संगीत में तत्कालीन प्रभावों के फलस्वरूप अनेक धारायें मिलती हैं। यह ऐसा युग था जब नाटकों की रंगमंचीय कला विकसित हो रही थी, भारतेन्दु मार्ग-निर्देशन कर चुके थे और प्रसाद अपनी नवीन कला का प्रयोग कर रहे थे तथा कुछ बाह्य प्रभाव भी—पाश्चात्य बंगला नाटकों का प्रभाव-हिन्दी नाटकों की दिशा में परिवर्तन कर रहे थे। यही कारण है कि नाटकों में संगीत की किसी एक प्रणाली का निर्धारण सम्भव न हो सका। नाटक अधिक मात्रा में लिखे गये और अधिकांश रूप में संगीत को अवश्य नाटक का आधार बनाया गया। किन्तु कुछ रंगमंचीय नाटकों के संगीत से प्रभावित रहे और कुछ भारतेन्दु तथा प्रसाद से। इस दृष्टि से इस काल के साहित्यिक नाटकों के संगीत को कई वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—

१—संस्कृत-नाटकों से प्रभावित नाटक-संगीत

२—रंगमंचीय नाटकों से प्रभावित नाटक-संगीत

३—भारतेन्दु तथा प्रसाद से प्रभावित नाटक-संगीत

४—नवीन प्रयोगों से युक्त नाटक-संगीत।

उपयुक्त दो वर्ग ऐसे हैं जो पूर्व भारतेन्दु-युग से इस काल तक हिन्दी नाटकों के आवश्यक वर्ग बने हुए हैं। ऐसे बहुत से नाटक हैं जिनकी संगीत प्रणाली में संस्कृत-नाटकों का प्रभाव लक्षित होता है। यह प्रभाव मंगलाचरण, तथा सूत्रधार और नटी के गीत के रूप में उपलब्ध होता है। इस युग के 'चन्द्रगुप्त नाटक' (बद्रीनाथ भट्ट), 'रामाभिषेक' नाटक (गंगाप्रसाद गुप्त), 'अत्याचार का परिणाम' और 'भीष्म' (विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक), 'सम्राट अशोक' और 'सिद्धार्थ कुमार' (चन्द्रराज भंडारी), 'आदर्श हिन्दू विवाह' और 'भीम प्रतिज्ञा' (जीवानन्द शर्मा), 'समय नाटक '(काशीनाथ वर्मा) 'महाराजा भर्तृहरि' (श्यामसुन्दर लाल दीक्षित), 'छात्र दुर्दशा' और 'प्रेम प्रशंसा' (लोचन प्रसाद पान्डेय), 'कृष्णापमान' (गणेशदत्त शर्मा), 'चन्द्र-हास' (मैथिलीशरण गुप्त), 'राजा दिलीप नाटक' (गोपाल दामोदर तामस्कर), 'मधुर मिलन' (जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी), 'राजतिलक' (जगन्नारायण देव शर्मा), 'देवी देवयानी' और 'पूरण भक्त' (पं० रामस्वरूप चतुर्वेदी), 'क्रूर वेण' (हरिद्वार प्रसाद जालान) आदि नाटकों का प्रारम्भ मंगलाचरण या ईश वन्दना से हुआ है। कहीं-कहीं मंगलाचरण के उपरान्त नट-नटी द्वारा नाटक की प्रस्तावना के रूप में भी गीत गवाए गये हैं। उदाहरण के लिए 'महाराजा भर्तृहरि' में प्रारम्भ में सब ईश्वर

प्रार्थना करते हैं। पुन: नटी रंगमंच पर आकर नाटक के विषय से सम्बन्धित गीत गाती है—

आवो आवो ए मेरे योगी। कहो ज्ञान का ढंग।
भारत आरत हो टेरत है सुन लो करुण पुकार।
मदिरा और मोहिनी का है छाया गहरा रंग॥[1]

इसी प्रकार 'मधुर-मिलन' के प्रारम्भ में पहले नटी और सूत्रधार वन्दना करते हैं[2] तदुपरान्त नटी और सखियां एक गीत प्रस्तावना के रूप में गाती हैं।[3] 'अज्ञातवास' में मंगलाचरण के उपरान्त सूत्रधार राग देश में एक गीत गाता है[4] पुन: नटी दादरा और गजल गाती है।[5] 'रामाभिषेक' नाटक का आरम्भ राग यमन में गाये गये ध्रुपद के रूप में नान्दी पाठ से होता है।[6] तदुपरान्त नट-नटी को बुलाते हुए गाता है—

प्यारी! सुघर सलौनी आओ
कोमल मधुर सुरीली तानें
राग ललित लय सहित सुनाओ।[7]

यह सुनकर नटी गाते हुए प्रवेश करती है[8] और फिर दोनों मिलकर गाते हैं।[9] इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी यह क्रम दृष्टिगत होता है। गोविन्दवल्लभ पंत की 'वरमाला', मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास', तथा जयशंकर भट्ट कृत 'विक्रमादित्य' में भी इसी प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव है।

द्वितीय वर्ग का नाटक-संगीत पारसी-नाटक संगीत से अत्यधिक प्रभावित है। विशेषता यही है कि भारतेन्दु युग में भी यह प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं था जितना कि इस युग में है। जितने ही नाटक इसी प्रणाली के संगीत को लेकर चले हैं; उन सब में संगीत सम्बन्धी वही विशेषतायें प्राप्त होती है जो रंगमंचीय नाटक-संगीत के सम्बन्ध में बताई जा चुकी हैं जिसमें सबसे प्रथम विशेषता गीत-बाहुल्य की है। नाटक मुख्यत: जैसे गीतमय है, कथानक उनमें गौण हैं। किसी भी नाटक में १९-२० गीत होना साधारण बात है। 'सभ्य स्वयंवर' (हरिहर प्रसाद जिजल) में २७ गीत हैं, 'मतवाली मीरा' (तुलसीदास शर्मा दिनेश) में लगभग ४० गीत हैं। 'भीम-प्रतिज्ञा' (जीवानन्द शर्मा) में २३ गीत हैं। इन्हीं के 'आदर्श हिन्दू विवाह' में लगभग ४८ गीत हैं। गीत-बाहुल्य की पराकाष्ठा तो तब दीखती है जब हम जगन्नाथ देव शर्मा कृत 'राजतिलक' में गीत-संख्या ६६ तक पाते हैं। गीतों का इतना आधिक्य

१—महाराजा भर्तृहरि : श्यामसुन्दर लाल दीक्षित, प्र० अंक, पृ० ९।
२—मधुर-मिलन : जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पृ० १। ३—वही, पृ० ३-४।
४—अज्ञातवास : द्वारका प्रसाद गुप्त, पृ० २-३। ५—वही, पृ० ४-६।
६—रामाभिषेक नाटक : गंगाप्रसाद गुप्त : पृ० १।
७—रामाभिषेक नाटक : गंगाप्रसाद गुप्त, पृ० २।
८—वही, पृ० ३। ९—वही, पृ० ७।

नाटकीयता का विनाश तो करता ही है, संगीत को भी अप्रिय बना देता है। प्रसाद युग के अधिकांश नाटक इसी संगीत-प्रणाली से आपूर्ण हैं। जिस प्रकार पारसी थियेटरों द्वारा खेले जाने वाले नाटकों के विषय में यह कहा जाता है कि 'इन नाटकों में आजकल के आम फिल्मों की तरह जगह-जगह गाने और नाच भी होते थे। आजकल ही के फिल्मों की तरह वहां रोया भी जाता था तो सुर और ताल के साथ।'[1] यह कथन उस वर्ग के नाटकों पर भी लागू होता है। बल्कि इस कार्य में ये नाटक रङ्गमंचीय नाटकों से भी आगे बढ़ गये हैं।

यहां भी अधिकतर नाटकों में पात्र समय तथा स्थिति के अनुसार नहीं गाते बल्कि समय-समय गाने का उन्हें रोग है। प्रत्येक भाव तथा स्थिति में गाने की क्षमता वह भी राग और ताल के साथ, उनमें विद्यमान रहती है। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। नाटक 'पूरन भक्त' में प्रतिशोध से पागल लूना कटार उठाकर गाने लगती है –

अजब रंग है यह जमाने का बदला
लिया मैंने यह जी जलाने का बदला।
न देना मुझे दोष निर्दोष हूं मैं
कि मैं ले रही हुं सताने का बदला।[2]

इसी नाटक के अन्त में सुन्दरा चिता में जलने के लिए लकड़ी चुनती हुई गाती है।[3] 'वैन चरित्र' में गोली लगने पर भी घायल शूद्र पूर्णोत्साह से गाते हैं—

मार, मार, मार जालिम मार मार मार।
जो खून के हमारे कतरे हैं तूने डाले,
बनकर डसेंगे तुझको वे नाग काले-काले।[4]

इसी प्रकार 'रामाभिषेक नाटक' में दशरथ की मृत्यु पर विलाप करती हुई रानियां राग और ताल के साथ गाती हैं—

हा हा! क्यों स्वर्ग सिधारे![5]

यह अस्वाभाविकता गीतों के प्रति विशेष मोह का ही परिणाम है कि घायल भी गा सकते हैं तथा रोना और गाना एक साथ हो सकता है। अबोध, अपढ़ और अज्ञान जनता को यह संगीत क्षण भर के लिए रोमांचित चाहे कर दे किन्तु हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने में पूर्णतः असमर्थ है। नाटक-संगीत की इसी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए सेठ गोविन्ददास का कथन है कि 'हमारे यहां नाटकों में पद्य, कविताओं

१—नाटककार अश्क : सं० कौशल्या अश्क : पृ० ४०८।
२—पूरन भक्त : पं० रामस्वरूप चतुर्वेदी, दृश्य ७, पृ० ६७।
३—वही, पृ० ६७।
४—वैन चरित्र : बद्रीनाथ भट्ट : द्वि० अंक, पृ० १३१।
५—रामाभिषेक नाटक : गंगाप्रसाद गुप्त : पं० अंक, पृ० ११८।

और नृत्य की भरमार रहती है। गानों की तो इतनी भरमार रहती है कि युद्ध में जाने वाला वीर खड्ग निकालकर इसे घुमाता हुआ गाता है, कोई बीमार मर रहा है तो उसके सिरहाने गाना होता है, कोई मर जाता है तो उसके शव पर गाया जाता है, यहां तक कि मरने वाला पात्र स्वयं गाता-गाता मरता है। हमारे यहां के नाटकों का एक पात्र गाता हो तो कहा जाय, राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी, मन्त्री, सेनापति, विदूषक और साधारण नागरिक सभी गाते हैं और सब अवसरों पर।"[1]

संगीत की इस अस्वाभाविकता का एक अन्य कारण यह भी है कि अधिकतर पात्रों से एक साथ कई गीत गवाए गए हैं। चार-पाँच गीत गाकर ही वे विश्राम करते हैं। 'प्रेम-प्रशंसा' के द्वितीय अंक में चार गीत एक के बाद एक करके गाए जाते हैं। पहले एक वैष्णव गाता है,[2] उसी के बाद एक फकीर गाता है,[3] तुरन्त बाद चार-पांच बाबू लोग गाते बजाते आते हैं[4] और पुनः एक साधू का गीत है।[5] 'कृष्णापमान' में चीर-हरण के समय द्रौपदी जोर से रोती हुई तीन गीत गाती है वह भी राग और ताल के साथ।[6] 'मतवाली मीरा' में तो गीतों का सागर भरा है। उन्मत्तावस्था में मीरा कई पद गा जाती है।' 'चन्द्रगुप्त' में द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में ही चार गीत एक साथ हैं। राक्षस की बैठक के द्वार पर कोई भिखारी तीन गीत गाता है, पुनः अन्दर आकर राक्षस को समझाते हुए एक गीत और गाता है।[7] इसी नाटक के पंचम अंक के चौथे दृश्य का अन्त एक गीत के साथ होता है, पांचवें दृश्य का आरम्भ पुनः गीत से होता है, उसके बाद दो गीत और होते हैं, इस प्रकार दो पृष्ठों में पांच गीतों की सामग्री है।[8] 'राजतिलक' में भी अप्सरायें एक साथ कई गीत गाती जाती हैं।[9] उद्यान में यदि सखियों का गाने का मन करता है तो वे ८४ से ८८ पृष्ठ तक पांच गीत एक ही दृश्य में एक साथ गा देती हैं। 'अज्ञातवास' नाटक के तृतीय अंक के तीसरे गर्भांक में उत्तरा पर चंवर डुलाती हुई सखियां गाती हैं, इसी के बाद उत्तरा एक गजल गाती है और दो चार संवादों के पश्चात् पुनः एक और गीत गुड़ियों का गाया जाता है।[10] 'सभ्य स्वयंवर' के तृतीय अंक के प्रथम दृश्य में गायकी चार गीत गाती है।[11] 'आदर्श

१—नाट्य-कला मीमांसा : गोविन्ददास : पृ० २१।

२—प्रेम-प्रशंसा : लोचन प्रसाद पाण्डेय, द्वि० अंक, पृ० ४४।

३—वही, पृ० ४४-४५। ४—वही, पृ० ४५।

५—वही, पृ० ४६।

६—कृष्णापमान : गणेशदत्त शर्मा : च० अंक, पृ० १०३-१०४।

७—चन्द्रगुप्त : बद्रीनाथ भट्ट : पृ० २०-२२।

८—चन्द्रगुप्त : बद्रीनाथ भट्ट, पृ० ८१-८२।

९—राजतिलक : जगन्नारायण देव शर्मा : द्वि० अंक, पृ० ७५।

१०—अज्ञातवास : द्वारकाप्रसाद गुप्त, तृ० अंक, पृ० १२८, १३०।

११—सभ्य-स्वयंवर : हरिहर प्रसाद जिजल : पृ० २४-२७।

अलंकार :—

कुछ नियमित वर्ण-समुदाय को अलंकार कहते है।

"विशिष्टवर्णसंदर्भमलंकारं प्रचक्षते।"[1]

विशिष्ट स्वर समूह ही अलंकार बन जाते है। अलंकारों के लिये किसी नियमित स्वर-संख्या का नियम नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से अलंकार संगीत कला के मुख्य अंग है व जिनके बिना प्रारम्भ में छात्र को स्वर-ज्ञान करना कठिन हो जाता है।[2]

गमकः—एक स्वर में रंजन के साथ कम्पन देने को "गमक" कहते हैं। इसका कार्य स्वर-सौदर्य में वृद्धि करना है। यह एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाने का एक तरीका भी कहा जा सकता है जो अत्यन्त रंजक होता है।[3]

पकड़ः—स्वर का वह छोटा-सा समूह जिससे किसी राग का बोध होता हो, पकड़ कहलाता है। उदाहरणार्थ राग भैरवी की पकड़ यह है—

म, ग॒, सा रे॒ सा, ध॒ नि॒ सा।

तानः—इस शब्द की उत्पत्ति "तन्" (तानना) धातु से हुई है। अतएव राग के गायन में तान का मुख्य प्रयोजन राग को विस्तृत करना, फैलाना अर्थात् उस राग के गायन का वैचित्र्य अधिकाधिक बढ़ाना है।[4]

लयः—दो क्रियाओं के बीच में रहने वाले अवकाश का नाम लय है। साधारणतया कहें तो लय ही ताल और गीत का वेग है।[5] गायन में काल की गति को "लय" कहते है। लय तीन प्रकार की होती है—विलम्बित लय, मध्य लय तथा द्रुत लय। भारतीय संगीत में लय का विशेष महत्व है।

तालः—ताल शब्द "तल" धातु से उत्पन्न हुआ है। काल और नाप दोनों को मिलाने से ताल उत्पन्न होता है। ताल का संगीत में वही महत्व है जो छन्द का

१—संगीत दर्पण : दामोदर पृ० ६९।

२—'Alankaras' are supposed to be the fundamental principles of the practical art of music without which it is almost impossible for a beginner to acquire this art which is known as the most difficult of all arts'—The Music of India, Shripada Bandopadhyaya, Page 54.

३—'It is a graceful guttural jirk on a note......It is a also a way of sliding from a note to another. 'The story of Indian Music —O. Gosvami, Page 150,

४—क्रमिक पुस्तक माला (चौथी पुस्तक) : भातखंडे, द्वि० सं०, पृ० ४१।

५—संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० ३२१।

हिन्दू विवाह' नाटक के प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में एक साथ तीन गीत हैं,[1] इसी प्रकार द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में वासन्ती अपनी छोटी पुत्री माधवी के विवाह पर चिन्तित गाती है, पुन: माधवी गाती है और उसी के बाद नेपथ्य गान होता है।[2] इसी नाटक के तृतीय अंक के तृतीय दृश्य में भौदूलाल की बैठक में वेश्याओं के तीन नृत्य गान एक साथ है और तुरन्त उनके बाद एक शराबी दुखी होकर शास्त्रीय राग में गाता है।[3] काशीनाथ वर्मा के 'समय नाटक' में पृ० १२ से २२ तक प्राय: गीत ही गीत है, संवाद कम। तात्पर्य यह कि इन नाटकों में संगीत इतना प्रधान परिमाण में अधिक, कुरुचिपूर्ण, सस्ता, कोरा मनोरंजक तथा असाहित्यिक हो उठा है कि संगीतात्मकता की दृष्टि से कुछ ही अंश उपयुक्त एवं सुन्दर कहे जा सकते है।

रंगमंचीय नाटक-संगीत का अन्य प्रभाव उर्दू शैली तथा शृंगारिकता के रूप में लक्षित होता है। चलताऊ संगीत प्रणाली, गजल, शेरो-शायरी, तुकबन्दी, थियेट्रिकल तर्ज व धुन इत्यादि इस काल के भी अधिकतर नाटकों में पायी जाती है। निम्न लिखित कुछ उद्धरणों द्वारा इस प्रणाली का स्पष्टीकरण हो सकता है—

(क) अर्जुन—उसने जाल है रचा
भीम —मूरख अन्धा है चचा
सहदेव—हमको इससे मतलब क्या
नकुल—होगा ब्रह्मा जो रचा।[4]

(ख) हमेशा हमें यों ही तरसाइयेगा
कि आकर कभी ही को हुलसाइयेगा।
छिपे फिरते हो तुम और मैं ढूंढ़ती हूं
भला इस रिसाने से क्या पाइएगा।[5]

(ग) भारत का रूप मेरी आंखों में छा रहा है
प्राचीन झोंपड़ी में गौरव छिपा रहा है।
वह वेद का उच्चारन गंगा की धार कारन
ऋषियों का ब्रह्मचारन भारत दिखा रहा है।[6]

(घ आओ सेजरिया हमारी हमारी
जोरू छोड़ो हमें हाथ जोड़ो, एको बार सुनलो कजरिया हमारी।[7]

१—आदर्श हिन्दू विवाह : पं० जीवानन्द शर्मा, पृ० २१-२२।
२—वही, पृ० ३३-३५।   ३—वही, पृ० ६८-७०।
४—कृष्णागमन : गणेशदत्त शर्मा गौड़, तृ० अंक, पृ० ५२।
५—भीम-प्रतिज्ञा : जीवानन्द शर्मा, द्वि० अंक, पृ० ७४।
६—आदर्श हिन्दू विवाह : वही, पृ० ४।
७—आदर्श हिन्दू विवाह : पृ० ७७।

(ङ) सखि आओ देखलाओ, समुझाओ, समझाओ।
बांकी अदा, नैन लगा, दिल अरुका, हिय वश ना, अब समझी
अब होत निदय समझाओ।
लै भागा री, दिल मांगा, करि दगा, हाय फिर त्यागा
दै मारा यह जिय लागा।
कैसे करूं, धीर धरूं, आहें भरूं, तरसि मरूं, जतन करूं,
तबौ न मिलत मिलाओ।[1]

इस प्रकार की शैली के चलताऊ गीत अनेक नाटकों में हैं। अतएव इस युग के नाटक-संगीत पर पारसी नाटक-संगीत का मुखर प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। यहां तक कि गोविन्द वल्लभ पन्त और उदयशंकर भट्ट जैसे आधुनिक नाटककार भी अपने प्रारम्भिक नाटकों में इसी प्रकार की संगीत-शैली को प्रयोग में लाए हैं। गीत-संख्या, समय-असमय तथा उत्तेजनापूर्ण स्थिति में अस्वाभाविक गीत गाना पन्त के 'राजमुकुट' में दृष्टिगत होता है। राजमुकुट नाटक में बारह गीत हैं। गीतों की यह मात्रा पारसी-शैली की ही देन है। इसके अतिरिक्त समय-कुसमय, उसी प्रकार की शैली में भी कुछ गीत गाए हैं। उदाहरणार्थ प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में शीतलसेनी गाती है—

अपमान की आग
मेरे मन में जाग री जाग।
हो भस्म उसमें रिपुशक्ति सारी,
दें भाव भय के, भाग रे भाग!
जाग रे जाग![2]

इसी प्रकार द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में बाल खोले बेसुध पन्ना पुत्र का शव लिए हुए गाती है शास्त्रीय राग और ताल के साथ।[3] पुनः द्वितीय दृश्य में विजयगर्विता शीतल-सेनी गाते हुए प्रवेश करती है—

तू नाच मधुर मति से
प्रतिहिंसे! हे रक्त-रंगिनी
चपले! चंचल पग से, यति से।[4]

'विक्रमादित्य' में भी समय-असमय गीतों के गायन की व्यवस्था है। अधिकतर गीत अनावश्यक हैं।

तीसरा प्रभाव इस युग के नाटक-संगीत पर भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र का है। यद्यपि यह प्रभाव उतना दृढ़, स्पष्ट और मुखर नहीं है जितना कि पारसी संगीत का रहा है। फिर भी कहीं कहीं, कुछ स्थलों पर भारतेन्दु युगीन नाटक-संगीत की छाप

१—भीम प्रतिज्ञा : जीवानन्द शर्मा : द्वि० अंक, पृ० ७३।
२—राजमुकुट : गोविन्दवल्लभ पन्त : प्र० अंक, पृ० २२।
३—वही, पृ० ६३।   ४—वही, पृ० ६८।

दीख पड़ती है। संगीत पर यह प्रभाव पद-गीत, भजन, लावनी तथा व्रजभाषा में विरचित गीतों के रूप में है ही; किन्तु उससे भी अधिक प्रभाव विविध शास्त्रीय रागों एवं तालों के रूप में लक्षित होता है। गीतों में शास्त्रीय-संगीत की मर्यादा स्थापित करने का श्रेय भारतेन्दु को ही है। 'अंजना' (सुदर्शन) और 'सिद्धार्थ कुमार' (चन्द्रराज भंडारी) नाटकों में व्रजभाषा तथा अवधी में विरचित सुन्दर पद हैं जिनकी साहित्यिकता और संगीतात्मकता सर्वमान्य है, उदाहरणार्थ निम्नपद दृष्टव्य है—

प्रकृति ने सज्यो मनोहर साज।
नव दुलहिन लौं बनी ठनी है, स्वागत-हित रितुराज।
वन-वीथिन में बगर रही है, सुन्दरता मधु-व्याज।
विरहिन-हिय-वेधन जनु आयो, रितुपति सहित समाज।[1]

इस गीत में जहां एक ओर व्रजभाषा का साहित्यिक सौन्दर्य है, वहाँ दूसरी ओर 'दुलहिन', 'लौं', 'बगर', 'हिय', 'बिगरी', 'बादर', 'सिगरे' जैसे शब्दों के कारण माधुर्य की सृष्टि हुई है जिससे गीत में संगीत की लय और ध्वनि स्वतः आविष्ट हो गई है।

उपर्युक्त नाटकों में इसी प्रकार के गीत हैं जो शास्त्रीय रागों में बद्ध हैं। भारतेन्दु के प्रभावस्वरूप ही अनेक नाटकों में शास्त्रीय संगीत की परम्परा मिलती है। रागों में भैरवी, आसावरी, कलिंगड़ा, भैरव, यमन, खमाच, सारंग, बिहाग, देश, प्रातः श्री, भीमपलासी, पूर्वी, बागीश्वरी, काफी, सोहनी आदि विविध रागों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार तालों में तीनताल, दादरा, कहरवा, रूपक, धमार इत्यादि के प्रयोग हुए हैं। लोकगीत तथा गीतों के अन्य प्रकार-भजन, कीर्तन दादरा, गज़ल, ठुमरी इत्यादि के प्रयोग भी कहीं-कहीं हुए हैं। राग, ताल तथा गीत के इन प्रकारों का विस्तृत विवेचन हम पंचम अध्याय में करेंगे।[2]

भारतेन्दु के समान प्रसाद ने भी हिन्दी नाटकों में शास्त्रीय-संगीत की मर्यादा तथा रागों की विविधता स्थापित की, साथ ही संगीत की साहित्यिकता का उत्कृष्टतम रूप छायावादी शैली एवं खड़ी बोली के प्रांजल तथा मधुरतम स्वरूप द्वारा नाटककारों के सम्मुख उपस्थित किया। अतएव तत्कालीन नाटकों पर प्रसाद का प्रभाव दोनों रूपों में पड़ा—शास्त्रीय संगीत और खड़ी बोली के सुन्दर, मधुर गीतों के रूप में। आश्चर्य यही है कि प्रसाद के संगीत के इस आदर्श रूप का प्रभाव उनके युग में व्यापक रूप में न पड़ सका। हिन्दी के कुछ ही नाटकों में हमें उनके संगीत की मर्यादित छाप मिलती है। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रसाद का संगीत

१—अंजना : सुदर्शन : पृ० १।

२—देखिए पंचम अध्याय।

प्रशस्त रुचि, गम्भीर मनन-चिन्तन, परामर्श, गायन तथा अनुभवों का परिणाम था। उसको अपनाने के लिए भी उतने ही गम्भीर चिन्तन, अनुभव तथा परिश्रम एवं बुद्धि-ज्ञान की अपेक्षा थी जो उनके युग के कुछ ही नाटककारों में दृष्टिगत होती है। 'प्रताप-प्रतिज्ञा'[1] 'भारत-विजय', 'विक्रमादित्य', 'रक्षाबन्धन', 'हर्ष' आदि नाटकों में हमें खड़ी बोली के गीतों की साहित्यिक परम्परा भी मिलती है तथा शास्त्रीय राग-रागिनियों की मर्यादा भी। उदाहरणार्थ 'प्रताप-प्रतिज्ञा' के सभी गीत 'बिहाग-तीनताल', 'इमन भूपाली त्रिताल', 'मालकोस-तीनताल', 'शंकरा-तीनताल', 'बागेश्वरी-तीनताल', और 'रामकली त्रिताल' में बद्ध हैं। अन्य नाटक-गीतों में खड़ी बोली के गीत हैं किन्तु उनके गीत प्रसाद के गीतों की कोटि में नहीं आते। उदाहरणार्थ उदयशंकर भट्ट कृत विक्रमादित्य' के गीत खड़ी बोली की प्रांजलता से पूर्ण हैं किन्तु उनमें संगीत का वह उतार-चढ़ाव, माधुर्य और लय नहीं है, यथा—

> बनो मायावी कपटी संग
> अन्यथा अविजय है प्रत्यंग
> अग्निनाश को जल होना, जल को वह्नि प्रचण्ड।
> दुष्ट शत्रु को कूटनीतियों का, धारण कर दण्ड।[1]

दूसरी ओर 'प्रेमी' के रक्षाबन्धन में प्रसाद की अपेक्षा गीत अधिक सरल, तथा स्वाभाविक हैं क्योंकि उनमें प्रसाद की सी भावुकता तथा छायावाद के प्रयोगों का आधिक्य नहीं है। उदाहरणार्थ—

> सजनि मरण को वरण करो री!
> पुलकित अम्बर और अवनि है
> आती आमंत्रण की ध्वनि है
> यह सुहाग की रात सजनि,
> चिता सेज पर शयन करो री।[2]

इस नाटक के सभी गीत इसी भाषा-सारल्य से युक्त हैं। तात्पर्य यह कि प्रसाद-युग में ही प्रसाद के संगीत का प्रभाव नगण्य रूप में प्राप्त होता है। यह प्रभाव हम केवल उस अर्थ में स्वीकार कर सकते हैं कि प्रसाद ने ही आगे आने वाले नाटककारों को नाटक-संगीत के विषय में नयी दिशा की ओर सोचने तथा नए प्रयोग करने की प्रेरणा प्रदान की। तथा यह सिद्ध किया कि खड़ी बोली में भी मधुरतम गीतों की रचना हो सकती है। निश्चय ही यह प्रभाव अपने आप अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रसाद-युग के साहित्यिक नाटकों का अन्तिम वर्ग उस युग की जागरूकता, नवीन प्रभावों तथा प्रयोगों का परिचय देता है। इस वर्ग में हमें प्रचलित परम्परा

१—विक्रमादित्य : उदयशंकर भट्ट : पृ० ३६।
२—रक्षाबन्धन : हरिकृष्ण प्रेमी : पृ० ९७।

का विरोध, रूढ़ियों से मुक्ति, तथा नवीनता की ओर आकर्षण एवं अथक प्रयास के लक्षणों का दर्शन होता है। नाटक-संगीत में नया मोड़ लाने वाले जागरूक कलाकारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र अग्रगण्य हैं। उनके अतिरिक्त सेठ गोविन्ददास, रामनरेश त्रिपाठी और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, ने समय-समय पर नाटक-संगीत के विषय में अपने विचार अभिव्यक्त करके तथा संगीत-प्रयोग-सम्बन्धित नए दृष्टिकोण का परिचय देकर अपनी विचारशीलता का नमूना सामने रखा। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने तो संगीत की दृष्टि से नाटक में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। उन्होंने प्रसाद की काव्य-रंगीनी, भावुकता, कल्पना की उड़ान तथा गीतिमयता का नाटक के अन्तर्गत विरोध किया। वे संगीत को नाटक में आवश्यक स्थान नहीं देते जैसी कि प्रचलित परम्परा रही है। इस विषय में स्वयं उनका कथन पर्याप्त होगा। वह कहते हैं कि—

'मेरी राय में नाटक में गीत रखना कोई बहुत जरूरी नहीं है। कभी-कभी तो गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठते हैं।........नाटक में गीत का पक्ष-पाती मैं वहीं तक हूं जहाँ तक इसे जीवन में देख पाता हूं।'[1]

यह कथन मिश्र जी की विचारधारा का द्योतक है। प्राय: मिश्र जी की गणना संगीत के सर्वथा बहिष्कार करने वाले नाटककार के रूप में भी की जाती है किन्तु उन्हीं के कथन से यह संकेत मिलता है कि वह संगीत के कटु आलोचक या विरोधी नहीं वरन् वे उसका उपयोग वहीं तक स्वीकार करते हैं जहां तक नाटक में उसकी आवश्यकता है तथा जीवन से उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। यही कारण है कि उनके इस काल के नाटक 'सन्यासी' में संगीत है किन्तु 'मुक्ति का रहस्य' और 'राक्षस का मन्दिर' में नहीं। इन नाटकों के विषय में पाठकों की समस्याओं का उन्होंने स्वयं उतर देते हुए कहा है—

'जिस किसी चरित्र का स्वाभाविक झुकाव मैं संगीत की ओर देखूँगा, उसके द्वारा दो-चार गीत गवा देना मैं मुनासिब समझूँगा। 'सन्यासी' में किरणमयी की अभिरुचि संगीत की ओर है। वह अपनी आन्तरिक विभीषिका को संगीत के पर्दे में ढककर रखना चाहती है। इसलिए उसे कभी-कभी मौके बे मौके गाने का जैसे रोग हो जाता है, लेकिन 'राक्षस का मन्दिर' और 'मुक्ति रहस्य' में मुझे कोई ऐसा चरित्र नहीं मिला जो गाना चाहता हो—इस कारण इन दोनों नाटकों में एक भी गीत नहीं आ सका।'[2]

मिश्र जी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि 'सन्यासी' में उन्होंने संगीत क्यों प्रयुक्त किया है और अन्य नाटकों में क्यों नहीं। 'राक्षस का मन्दिर' में यद्यपि

१—मुक्ति का रहस्य : भूमिका : पृ० २५।

२—मुक्ति का रहस्य—भूमिका : पृ० २५।

संगीत नहीं है किन्तु अश्करी एक कविता गाते हुए पढ़ती है।[1] अपने उपर्युक्त कथन में वे यह भी मानते हैं कि चूँकि उनके नाटक समस्या प्रधान हैं अत: गीत समस्याओं के प्रकाशन में बाधक हो उठता है। यह बात किंचित् अर्थों में अमान्य हो सकती है। गीतों का आधिक्य, भावुकता, काव्य-रंगीनी तथा अनावश्यक स्थल पर अनुचित प्रयोग तो अवश्य समस्या-नाटक को बाधित कर सकता है किन्तु यदि अत्यन्त उपयुक्त स्थल पर तरल, मधुर और संगीतपूर्ण गीत एक-दो संख्या में रख दिये जायें तो यह भी हो सकता है कि समस्या के प्रदर्शन में उनसे सहायता ही मिले और नाटक का सौन्दर्य बढ़ जाए। इसके अतिरिक्त संगीत से तात्पर्य केवल गीत से ही नहीं है—वाद्य और नृत्य से भी है। वाद्य का प्रयोग तो इस प्रकार के नाटकों में अनूठा वातावरण प्रस्तुत कर सकता है—कहीं पात्र के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करके और कहीं परिस्थिति अनुकूल वातावरण की सृष्टि करके। मिश्र जी के 'सिन्दूर की होली' में कहीं-कहीं बांसुरी की धुन का प्रयोग है जो पात्र की मानसिक स्थिति की व्यंजना तथा अभिनय के लिए उपयोगी है।[2] इस प्रकार मिश्र जी संगीत को नाटक का अनिवार्य अंग नहीं मानते। आवश्यकतानुसार उसके प्रयोग को स्वीकार करते हैं तथा हिन्दी नाटकों में प्रचलित संगीत की अविरल धारा का विरोध करते हुए कहते हैं कि 'इस युग में नाटक का उद्देश्य मनोरंजन की वेहूदी धारणा से आगे बढ़ गया है।........रंगमंच के ऊपर कृष्ण भी गा रहे हैं, शिव भी गा रहे हैं, दुर्गा भी गा रही हैं, गणेश भी गा रहे हैं—यह अच्छा नहीं।'[3] निश्चय ही इस प्रकार का संगीत बड़ा अशोभनीय लगता है।

सेठ गोविन्ददास ने भी संगीत के इसी अशोभन स्वरूप के विरुद्ध आवाज उठाई। वस्तुतः ये नाटककार पाश्चात्य नाटकों से अधिक प्रभावित हुए। जैसा कि सेठ जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए जो दूसरी बात इब्सन ने की है वह है नाटकों से पद्य, कविता और नृत्य का बहिष्कार।'[4] किन्तु सेठ जी इब्सन के इस निर्णय को पूर्णत: स्वीकार नहीं करते हैं। उनका अपना मत है कि 'योरोप के नाटककारों के सदृश गायन, नृत्य और कविता का नाटक से सर्वथा बहिष्कार करने की भी मेरे मत से आवश्यकता नहीं है।'[5] इस प्रकार मिश्र जी की अपेक्षा सेठ जी संगीत के विषय में कुछ उदार हैं। वे न संगीत को समस्या-प्रदर्शन में बाधक मानते हैं, न संगीत का बहिष्कार मानते हैं और न प्रत्येक नाटक में संगीत की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि 'जहां यह

१—राक्षस का मन्दिर : लक्ष्मीनारायण मिश्र : प्र० अंक, पृ० ६३।
२—सिन्दूर की होली : वही, पृ० ६०।
३—मुक्ति का रहस्य : भूमिका : पृ० २५।
४—नाट्यकला मीमांसा : : गोविन्ददास : पृ० २१।
५—वही, पृ० २२।

आवश्यक नहीं कि गायन, कविता और नृत्य का पूर्ण वहिष्कार किया जाय, वहाँ यह भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक नाटक में गायन, कविता और नृत्य रखे ही जायें।"[1] स्वयं लेखकों के मतों से यह ज्ञात होता है कि विचार-प्रदर्शन में ये दोनों समान हैं किन्तु प्रयोग की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। मिश्र जी के सामने संगीत-प्रयोग के लिए वन्धन है किन्तु सेठ जी निर्विघ्न रूप से संगीत का प्रयोग करते हैं। उनके 'हर्ष' और 'कर्तव्य' नाटक इसका प्रमाण हैं।

उपर्युक्त विचार इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि नाटक में संगीत हो अथवा नहीं? यदि हां, तो नाटक के अन्तर्गत उसकी स्थिति एवं आवश्यकता क्या हो? ये विचार यूं तो महत्वपूर्ण हैं ही, किन्तु उसके साथ ही इस युग में वाह्य प्रभावों एवं आधुनिक युगीन विचार-परिवर्तन के कारण नाट्य-संगीत की स्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं। यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी नाटककारों का ध्यान नाटक के अन्तर्गत चली आती हुई संगीत-परम्परा की ओर आकर्षित हो रहा था तथा उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की सचेष्टा जागरूकता बनी हुई थी किन्तु सम्भवतः भारतीय विचारधारा एवं रस-सृष्टि की नाटक में महत्ता होने के कारण यह परिवर्तन उतना सरल नहीं प्रतीत हो रहा था। एक ओर संगीत की ओर किंचित् विरोध की दृष्टि से देखा जा रहा था और दूसरी ओर नाटक में संगीत के महत्व के समर्थक तथा किंचित् सुधार के साथ संगीत को वनाए रखने के इच्छुक रचनाकार थे। समर्थकों की संख्या अधिक थी। यही कारण है कि इस युग के अतिरिक्त प्रसादोत्तर-कालीन नाटकों से भी संगीत का वैसा वहिष्कार नहीं हो पाया जिसकी पुकार इस युग में उठ चुकी थी।

फिर भी इन सव वाह्य प्रभावों, प्रयत्नों तथा चिन्तन के कारण अन्य नाटकों में संगीत के गीत पक्ष की ओर नाटककारों में विचारशीलता बढ़ती हुई दीखने लगी। रामनरेश त्रिपाठी, दशरथ ओझा तथा सियारामशरण गुप्त की प्रयत्नशीलता उनके नाटकों में विद्यमान है। इनके नाटकों में गीतों का वाहुल्य एव अस्वाभाविक प्रयोग नहीं है। 'प्रेमलोक' (रामनरेश त्रिपाठी) तथा 'पुण्य पर्व' (सियारामशरण गुप्त) जैसे विस्तृत नाटकों में केवल एक गीत ही है। 'सम्राट अशोक' और 'सिद्धार्थ कुमार' (चन्द्रराज भंडारी)' 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद) और 'जयन्त' (राम नरेश त्रिपाठी) नाटकों में चार-छः गीतों से अधिक संख्या नहीं है। प्रेमचन्द्र के 'संग्राम' तथा 'प्रेम की वेदी' में संगीत है ही नहीं। मिश्र जी के नाटकों में हम एक वैशिष्ट्य देख ही चुके हैं। यद्यपि ऐसे नाटक अधिक नही हैं, फिर भी तत्कालीन नाट्य-संगीत की स्थिति पर इन सम्पूर्ण परिवर्तनों से प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण रूप में इस काल के नाटकों में भी सदैव की तरह गीत पक्ष की प्रधानता रही। अधिकतर नाटकों में गीत-वाहुल्य की प्रचलित परम्परा चलती

१—नाट्यकला मीमांसा : गोविन्ददास : पृ० २२।

रही तथा कुछ आधुनिक नाटकों में दृष्टिकोण की नवीनता दृष्टिगत हुई जिसने नाटक संगीत को एक मोड़ दिया। इस युग का संगीत रङ्गमंचीय नाटक-संगीत से अधिक प्रभावित रहा, भारतेन्दु और प्रसाद से कम। भारतेन्दु-काल के नाटको में भी रंगमंचीय प्रभाव इतनी अधिक मात्रा में नहीं पड़ा था। इसी प्रभाव के कारण अधिकतर नाटकों का संगीत अनावश्यक और अस्वाभाविक है। शास्त्रीय राग-रागनियों एवं तालों का प्रयोग भी इस काल में भारतेन्दु-युग की अपेक्षा बहुत कम हुआ है।

नृत्य की वही पूर्व-प्रचलित परम्परा यहाँ भी मिलती है। उसमें कोई नवीनता नहीं है। वही अप्सरा नृत्य, दरबारी-नृत्य और वेश्या-नृत्य। फिर भी रंगमंचीय नाटकों की अपेक्षा इन नाटकों में नृत्य अधिक प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि उसमें कोई वैशिष्ट्य अथवा नवीनता नहीं है—एक-दो नये प्रयोग ही हुए हैं। वाद्य यन्त्रों के प्रयोग में साहित्यिक नाटक अवश्य अधिक प्रयत्नशील हैं। वाद्य, नृत्य, ताल तथा शास्त्रीय रागों से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन पंचम अध्याय में किया जायगा।[1]

गायन-पात्र :

भारतेन्दु-काल से लेकर इस युग तक के नाटकों में गायक-पात्रों की परम्परा में कोई अन्तर दृष्टिगत नहीं होता है। प्रचलित परम्परा के अनुसार इन साहित्यिक नाटकों में प्राय: सभी पात्र गायक हैं। नाटक में गायक-गायिका के विशेष चुनाव की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। नायक-नायिका के साथ-साथ नाटक के अन्य पात्र भी यथेच्छा गाने के अधिकारी हैं। 'भीष्म' नाटक में राजा शान्तनु भी गाते हैं, वशिष्ठ भी गाते हैं तथा उनके अतिरिक्त नाटक के अन्य पात्र अम्बा, गंगा, सत्यवती, सखियां, नर्तकियाँ आदि भी गाती हैं। 'राजतिलक' में युधिष्ठिर. अर्जुन, विदुर, गोपियां, अप्सरायें इत्यादि सभी गाते हैं। 'कुरुवन-दहन' नाटक में कौरवों का गुप्तचर बुद्धिप्रकाश भी गाता है और दुर्योधन, युधिष्ठिर एवं द्रौपदी भी। इसी प्रकार 'आदर्श हिन्दू विवाह', 'मधुर-मिलन', 'भीम-प्रतिज्ञा', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'छात्र-दुर्दशा', आदि नाटकों में गायक-पात्रों की कोई विशिष्टता दृष्टिगत नहीं होती। न तो यही योजना मिलती है कि कुछ चुने हुए पात्रों को ही गाने से रुचि हो तथा वे ही समयानुसार गायें। न इस बात पर ही ध्यान दिया गया है कि स्त्री पात्रों से अधिक गवाया जाय अथवा पुरुष पात्रों से, वरन् यहाँ स्त्री और पुरुष दोनों पात्र ही समान रूप से गायक हैं। पुरुष पात्रों में भी चाहे वह नायक हो अथवा खलनायक गाता हुआ दीखता है। 'विक्रमादित्य' में नायक विक्रम तथा 'भीष्म' में नायक भीष्म गायक हैं। तात्पर्य यह कि प्रसाद के समान यहां गायक-पात्रों के प्रति सूक्ष्म दृष्टिकोण का अभाव है। संभवत: इस विषय में विचार करने का प्रयत्न ही नहीं किया गया है वरन् बंधी हुई लकीर पर चलने का आग्रह मात्र प्रतीत होता है। केवल 'हर्ष' नाटक में सेठ गोविन्ददास

१—देखिए पंचम अध्याय।

ने तथा 'सन्यासी' में मिश्र जी ने इस प्रथा को तोड़ा है। इन दोनों नाटकों में मुख्य गायिका क्रमशः राज्यश्री और किरणमयी हैं। 'हर्ष' में अन्य पात्र भी गाते हैं किन्तु अधिक गीत राज्यश्री के ही हैं।

सम्पूर्ण रूप में विकास की दृष्टि से इस युग का संगीत भारतेन्दु युगीन नाट्य-संगीत से आगे नहीं बढ़ पाया है। जो कुछ नवीनता मिली है यह खड़ी बोली के मधुरतम गीतों के रूप में। जहां तक कहीं-कहीं गीतों की कम संख्या तथा गीतों के न होने का प्रश्न है तो यह परम्परा कुछ नाटकों में हमें भारतेन्दु-युग में भी मिलती है। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतेन्दु तथा प्रसाद जैसे उच्च कोटि के संगीतज्ञ तथा कलाकारों के प्रयत्नों, अनुभवों एवं प्रयोगों के फलस्वरूप भी यह युग नाट्य-संगीत को नयी दिशा की ओर ले जाने में असमर्थ रहा तथा संगीत का यह मर्यादित स्वरूप स्थिर न हो सका जितनी कि इस युग से आशा की जा सकती थी।

प्रसादोत्तर नाटकों में गीत की स्थिति :

संगीत की दृष्टि से नाटकों का यह काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इस युग में नाटक के प्रति लेखक और आलोचकों के दृष्टिकोणों व मूल्यों में जो परिवर्तन हो रहे थे उनका प्रभाव संगीत पर भी पड़ा। सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य पर तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक मान्यताओं, राजनीतिक परिस्थिति तथा पाश्चात्य एवं बंगला नाटक-साहित्य का अत्यधिक प्रभाव पड़ रहा था जिसके कारण हिन्दी नाटकों के विषयों में अनेकरूपता आयी, कथानक सूक्ष्म गंभीर और सोद्देश्य होने लगे, उसके शिल्प में अन्तर आने लगा, नाटक मानव-जीवन के अधिक निकट आ गये। उनमें कोरी धार्मिकता ओर पौराणिकता के स्थान पर विविध आधुनिक समस्याओं, राष्ट्रीय जागरण, ऐतिहासिक मर्यादा तथा यथार्थ जीवन को प्रमुखता दी जाने लगी जिसकी सुदृढ़ नींव प्रसाद तथा अन्य नाटककार स्थापित कर चुके थे। नाटक के पात्र अधिक सजीव, चेतना और मानवीय रूप में आने लगे। उनके अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक अनुभूतियों का प्रमुख स्थान हो गया। इन समस्त परिवर्तनों का प्रभाव नाट्य-संगीत पर पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि पूर्व-युगों से इस युग के नाटक-संगीत में पर्याप्त अन्तर है।

प्रसाद-युग के समान संगीत के विषय में विचारों का संघर्ष इस युग में भी चल रहा था। कुछ नाटककार नाटक में संगीत की उपस्थिति आवश्यक मानते थे, कुछ अनावश्यक और अस्वाभाविक। सीताराम चतुर्वेदी ने अपने नाटक 'विश्वास' की भूमिका में लिखा है—'इसमें अभिनय स्वाभाविक है और इसी लिए गीतों का अभाव है।'[1] इससे स्पष्ट है कि नाटकीयता तथा अभिनेयता की दृष्टि से संगीत के गीत पक्ष

१—विश्वास : सीताराम चतुर्वेदी : पृ० ५।

को लेखक अस्वाभाविक मानता है। दूसरी ओर विष्णुप्रभाकर और डा० रांगेय राघव संगीतकला को नाट्यकला का आवश्यक अंग स्वीकार करते हैं। इसी कारण विष्णु-प्रभाकर ने अपने 'समाधि' नाटक के गीत देवराज दिनेश से लिखाये हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है—'तरुण कवि देवराज दिनेश का लेखक बहुत ही आभारी है। यदि वे अपनी स्वाभाविक सहृदयता के कारण इस नाटक के गीत न लिख देते तो लेखक समझता है कि इसका रस सूख न जाता तो खंडित अवश्य हो जाता।'[1] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नाटक में रस-सृष्टि के लिए वह संगीत को परम सहा-यक मानते हैं। इसी प्रकार डा० रांगेय राघव ने अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि 'नाटक में गीत होना भारतीय परम्परा में अधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन नाटकों में गेय कथोपकथन होते थे, वे अब नहीं होते। पारसी थियेटर के युग तक हिन्दी में भी थे। अब गीत जहां व्यक्ति की अन्तः प्रवृत्तियों को प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वे उसके सामाजिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालते हैं।'[2] भारतीय परम्परा तथा रस-सृष्टि की दृष्टि से नाटक में संगीत की आवश्यकता पर हरिकृष्ण प्रेमी के भी विचार महत्वपूर्ण हैं। उनका कथन है कि 'इस युग के कलाकार चाहते हैं कि नाटकों में गीत न दिये जायें। यदि 'रंगमंच' या 'सवाक् चित्रपट' का ध्यान न हो तो नाटकों से गीतों को निर्वासित किया जा सकता है। रस-सृष्टि में संगीत बहुत सहायक होता है। आलोचक कहते हैं कि वास्तविक जीवन में गाने वाले पात्र नहीं मिलते, पात्रों से गीत गवाना अस्वाभाविक बात है। यह ठीक है कि नाटक का प्रत्येक पात्र गायक नहीं हो सकता, न प्रत्येक स्थान गीतों के लिये उपयुक्त हो सकता है। फिर भी नाटक में दो एक पात्र ऐसे रखे जा सकते हैं जिनका गाना कहानी की स्वाभाविकता को नष्ट न करता हो।[3] इसी मत का प्रतिपादन करते हुए सेठ गोविन्ददास ने भी कहा है कि 'संसार में गाने से कई व्यक्तियों को प्रेम होता है, अतः नाटक के भी कुछ पात्र गा सकते हैं।'[4] इस प्रकार नाटकों का यह युग विचार-विमर्श का है, कोरी भावुकता या भावावेश का नहीं। यही कारण है कि कुछ नाटकों में संगीत का पर्याप्त प्रयोग मिलता है जैसा कि प्रसाद-युग में था, कुछ में गीतों की संख्या कम करके उसमें नवी-नता, गंभीरता एवं सूक्ष्मता लाने का प्रयास किया गया है और कुछ में संगीत का पूर्णतः बहिष्कार मिलता है यद्यपि ऐसे नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। साधारणतः इस आधुनिक युग के नाटकों के विषय में यह सर्वसम्मत धारणा बनी हुयी है कि इसमें संगीत है ही नहीं, संगीत तो केवल भारतेन्दु या प्रसाद-युग में है। यह अवश्य है कि संगीत की उतनी अबाध धारा यहाँ नहीं है, न अक्षरशः उसी परम्परा पर चलते जाने का आग्रह है, वरन् समय के परिवर्तन के अनुसार नवीनता

१—समाधि : पृ० ५। २—रामानुज : दो शब्द : पृ० ५।
३—विषपान : भूमिका : पृ० १२।
४—नाट्य कला-मीमांसा : सेठ गोविन्ददास : पृ० २२।

कविता में।[1] वस्तुतः देखा जाय तो गीत और नृत्य दोनों ही ताल के द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं क्योंकि ताल ही आनन्द का वह रूप है जो वाद्य-वादन व गीत आदि सुनते समय हाथ, सिर या पैर हिलाने के लिये प्रेरित करता है—

तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्धत्रि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।
कालो लघ्वादिमितया क्रियया सम्मितो मितिम्॥[2]

अर्थात् प्रतिष्ठार्थक तल् धातु के पश्चात् अधिकरणार्थक धञ् प्रत्यय लाने से ताल शब्द बनता है क्योंकि गीत, वाद्य, नृत्य ताल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द एवं निःशब्द क्रिया द्वारा गीत, वाद्य, नृत्य को परिमित करने वाला ताल कहलाता है।

वाद्यः—वाद्य हमारे देश में वैदिक काल से चले आ रहे हैं। यज्ञ के समय वीणा-वादन के साथ सामगान होता था। नारदीय शिक्षा में वेणु वाद्य स्वरों की तुलना सामगायकों के स्वरों से की गयी है—

"यस्सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमस्वरः।"[3]

वस्तुतः वाद्य का प्रयोग प्राचीन काल में गीत और नृत्य के साधन के रूप में अधिक रहा है इसी कारण वाद्य के विषय में सोमेश्वर का कथन है—

"गीतेन सङ्गतम् यत्तु तद्गीतानुगमुच्यते।"[4]

नृत्य :—वाद्य इत्यादि से संयुक्त अंगों की मुद्राओं एवं संचालन को नृत्य कहते हैं। अतः लय और ताल के साथ अंग संचालन करते हुए हृदयगत भावनाओं को शरीर की चेष्टाओं द्वारा प्रकट करना[5] नृत्य कहलाता है। नृत्य दो प्रकार का होता है—१—तांडव नृत्य, २—लास्य नृत्य। तांडव नृत्य भीषण, विकराल और उत्कट होता है जब कि लास्य में माधुर्य, सुकुमारता और शृंगारमय भावों की प्रधानता होती है।

संगीत के लक्षण :—संगीत में गुण-दोष दोनों होते हैं। अच्छे संगीत के लिए विभिन्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है :—

सुस्वरं सरसं चैव सुरागं मधुराक्षरम्।
सालंकारप्रमाणं च षड्विधं गीतलक्षणम्॥[6]

१—Time—measure is to music that metre is to poetry.—The story of Indian Music—O. Gosvami, Page 160.

२—संगीत रत्नाकार : शार्ङ्ग देव, पृ० ३-४।

३—संगीतशास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० २५२।

४—भरतकोश, पृ० १७६।

५—नृत्यशाला, प्रथम भाग : संगीत कार्यालय हाथरस, अंक १, पृ० १९।

६—भरतकोश, पृ० ९५८।

की ओर प्रयत्नशीलता है जो भ्रम उत्पन्न कर देती है।

अन्य युगों के समान इस युग के नाटकों में भी गीत पक्ष की प्रधानता रही। गीत सभी नाटकों में समान मात्रा में नहीं हैं। अतएव गीत-संख्या की दृष्टि से इस काल के नाटकों के हम पांच वर्ग स्थापित कर सकते हैं, यथा—

१—० गीतवाले नाटक, २—१-५ गीतवाले नाटक, ३—६-१० गीतवाले नाटक, ४—११-१५ गीत वाले नाटक, ५—१६-२० गीत वाले नाटक।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत 'अफजल वध' और 'कसाई' (मोहनलाल महतो वियोगी), 'शिवाजी' (रामकुमार वर्मा), 'आषाढ़ का एक दिन' (मोहन राकेश), 'आधी रात' (जनार्दन राय), 'स्वर्ग की झलक', छठा बेटा' और 'कैद' (उपेन्द्रनाथ अश्क), 'सुजाता' (गोविन्दवल्लभ पन्त), 'देवता' (सीताराम चतुर्वेदी), 'अपराधी' 'दुविधा' और 'साध' (पृथ्वीनाथ शर्मा), 'न्याय की रात' (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार), 'वितास्ता की लहरें' (लक्ष्मीनारायण मिश्र), आदि नाटक आते हैं। इन नाटकों में गीत के अतिरिक्त वाद्य और नृत्य का भी प्रयोग नहीं हुआ है अतः ये संगीत से ही शून्य हैं। इनके अतिरिक्त 'सुन्दर रस' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'पार्वती' (उदयशंकर भट्ट), 'ज्वारभाटा' (राजकुमार), 'मृत्युंजय' (लक्ष्मीनारायण मिश्र), 'डाक्टर' (विष्णुप्रभाकर) आदि आधुनिकतम नाटक संगीत से सर्वथा शून्य हैं।

द्वितीय वर्ग के नाटक इस युग की नवीन प्रेरणा से युक्त हैं। 'सुबह के घंटे' (नरेश मेहता) में केवल तीन गीत हैं। 'अजन्ता' (सीताराम चतुर्वेदी), 'जय-पराजय' (अश्क) 'तुलसीदास' (श्रीराम शर्मा), 'मादा कैक्टस' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'नया समाज' (उदयशंकर भट्ट) आदि में केवल दो ही गीत हैं। 'केवट' (वृन्दावन लाल वर्मा) और 'कवि भारतेन्दु' (लक्ष्मीनारायण मिश्र) में एक ही गीत का प्रयोग हुआ है। 'उड़ान' (अश्क) में एक ही गीत की पुनरावृत्ति द्वारा लेखक ने पात्र-विशेष की मनःस्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। 'यशस्वी भोज' (देवराज दिनेश), 'मेहरारुन की दुरदशा' (राहुल सांकृत्यायन), 'विरूढ़क' (रांगेय राघव), तथा 'चक्रव्यूह' (लक्ष्मीनारायण मिश्र) में तीन गीत ही उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार 'मानव-प्रताप' (देवराज दिनेश) १२३ पृष्ठ का नाटक है किन्तु गीत उसमें केवल चार हैं। इस प्रकार इस वर्ग के अन्तर्गत 'समाधि' (विष्णु प्रभाकर), 'फूलों की बोली', 'झांसी की रानी' और 'मंगल सूत्र' (वृन्दावनलाल वर्मा), 'भग्नावशेष' (कुमार हृदय), 'पवनंजय' (ओंकार नाथ दिनकर), 'सत्य की खोज' (श्रीनिवास श्रीपति), 'शारदीया' (जगदीशचन्द्र माथुर), 'विजय पर्व' (रामकुमार वर्मा), 'ममता' (हरिकृष्ण प्रेमी), 'मास्टर जी' (आनन्द प्रकाश जैन), 'रेशमी गाठें' (जयदेव मिश्र), 'तिन्दुबुलभ' (लक्ष्मीकान्त वर्मा), 'गौतम नन्द' (जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'), 'धरती की महक' (रामावतार चेतन), 'नया रास्ता' (लक्ष्मीनारायण अग्रवाल) इत्यादि नाटक इस वर्ग के अनुरूप हैं।

तृतीय वर्ग के अन्तर्गत आने वाले नाटकों की संख्या भी कम नहीं है। उदाहरण के लिए 'छाया', 'प्रतिशोध', 'आहुति', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'बन्धन' 'शपथ', 'विषपान' और 'शिवासाधना' (हरिकृष्ण प्रेमी), 'अनारकली' और 'सेनापति पुष्पमित्र' (सीतराम चतुर्वेदी), 'नीलकण्ठ', 'राखी की लाज' और 'हंस-मयूर' (वृन्दावनलाल वर्मा), 'आवारा', और 'अन्नदाता माधव महाराज महान' (बेचन शर्मा उग्र) आदि अनेक अन्य नाटक आठ-दस गीतों से पूर्ण हैं।

चतुर्थ वर्ग के नाटक अवश्य संख्या में अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि गीत के अतिरेक के प्रति नाटककार सचेत होते जा रहे थे। इस वर्ग के नाटक 'प्रेमी' कृत 'स्वप्नभंग', गोविन्ददास कृत 'गरीबी या अमीरी', तुलसीराम शर्मा कृत 'बन्धु भरत' आदि ही उपलब्ध होते है।

अन्तिम वर्ग के नाटक केवल गणना के ही लिए है। गीतों का इतना बाहुल्य इस युग में नहीं मिलता। रांगेय राघव कृत 'रामानुज' तथा सेठ गोविन्ददास कृत 'अशोक' में अवश्य लगभग बीस गीत हैं। सेठ जी के 'शशिगुप्त' में भी सोलह गीत हैं। सेठ जी के ही 'भारतेन्दु', 'रहीम', 'कर्ण' आदि नाटक गीतमय से प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त वर्ग-विभाजन से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक तो पूर्व युगों की तुलना में इस युग के नाटकों में गीत-संख्या बहुत कम है जब कि पूर्व नाटकों में हम ५०-६० तक गीतों की संख्या देख चुके हैं। इस युग के अधिकतर नाटकों में गीत कम हैं। अतएव गीत-प्रयोग के प्रति नाटककारों की दृष्टिकोण बदल चुका था और वे गीतों की अनावश्यक भरमार को अस्वाभाविक समझने लगे थे तथा नाटक में अभिनेयत्व और कथातत्व की प्रधानता मानी जा रही थी। संगीत कथा-तत्व में तीव्रता लाने के सहायक के रूप में प्रयुक्त हो रहा था और संगीत के आवश्यक, स्वाभाविक एवं उचित प्रयोगों के प्रति उनके प्रयास जारी थे।

गीत के अतिरिक्त वाद्य और नृत्य का प्रयोग भी नाटकों में हुआ है। निःसंदेह इस क्षेत्र में यह युग अपने सभी पूर्व युगों से बहुत आगे है जिसे हम आधुनिकता का प्रभाव मान सकते है। इस युग के नाटकों में वाद्य तथा नृत्य के प्राचीन प्रचलित रूप ही नही मिलते वरन् नवीनता का आग्रह भी इनमें है। वे सीमित और रूढ़िवादी दायरे में नहीं बंधे हैं वरन् उन्मुक्त और सप्राण है। इन नवीनताओं का विस्तृत वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

गायक-पात्र :

गायक पात्रों की दृष्टि से इस युग में विविधता है। अधिकतर नाटकों में मजदूर, भिखारी, मालिन, बांदी, बालक-बालिकायें, चारण, बन्दीगण, सैनिक, नर्तकी, अप्सरायें, रानी, युवक-युवती सभी गाते हैं किन्तु पूर्व युगों से दो अन्तर विशेष रूप में प्राप्य है। एक तो इस युग के नाटकों में सखियों के गीतों का बाहुल्य

नहीं है जो भारतेन्दु से लेकर प्रसाद-युग तक प्राप्त होता है। दूसरे इस काल के नाटकों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्री पात्र अधिक गाते हैं। इसकी नींव यद्यपि प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा डाल दी थी किन्तु उनके युग पर यह प्रभाव नगण्य रहा था। इस युग के नाटककार इस विषय में सचेत हैं। भारतीय दृष्टि से रोना-गाना पुरुषों को शोभा नहीं देता, यह अधिकार स्त्रियों को ही है। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य इसका साक्षी है। सम्भवत: इसी कारण इस युग में नाटकों के स्त्री पात्रों को ही गायन-कार्य सौंपा गया है। उदाहरणार्थ 'मुक्तिदूत' (उदयशंकर भट्ट) में गोपा और सुकेशी, 'स्वप्नभंग' (प्रेमी) में वीणा, मालिन, जहांनारा, 'शपथ' में कचंनी, 'शिवासाधना' में ज़ेबुन्निसा, 'अनारकली' में नादिरा और हमीदा, 'रामानुज' में राजलक्ष्मी और वेदनायकी, 'अजीतसिंह' (चतुरसेन शास्त्री) में रजिया, 'सापों की सृष्टि' में कमला और देवल ही मुख्य गायिकायें हैं। इसी प्रकार 'कुलीनता' (सेठ गोविन्ददास) के नौ गीतों में से तीन की गायिका रेवासुन्दरी हैं, दो की गायिका विन्घ्यकला है तथा दो अन्य गीत नर्तकियों द्वारा गाए गए हैं। शेष दो गीत भी स्त्री-पुरुषों के समूह-गान के रूप में हैं। 'गरीबी या अमीरी' के तो ग्यारह गीतों में से दस गीतों की गायिका नायिका अचला है शेष एक गीत ही सखी विभावती द्वारा गाया गया है। 'रेवा' (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) के प्राय: गीत राजकुमारी रेवा हीं गाती है। इसी प्रकार 'शवरी' नाटक में शवरी ही मुख्यत: गाती है। 'विद्यापति' (शम्भूदयाल सक्सेना) के तीनों गीत देव और उसकी सखियों द्वारा गाए हैं। डा० रांगेय राघव के 'विरूढ़क' नाटक की प्रधान गायिका पूर्णिका है। वृन्दावन लाल वर्मा ने भी अपने अधिकतर नाटकों में स्त्रियों को ही संगीत-धारा में निमग्न दिखाया है। उनके नाटकों में स्त्रियों के समूह गीत अधिक हैं। 'राखी की लाज' में पांच गीतों में से चार गीत ऐसे ही हैं। 'फूलों की बोली' में कामिनी नामक स्त्री-पात्र मुख्य गायिका है। 'झांसी की रानी' में सभी गीत महिलायें गाती हैं, मुख्यत: जूही। इसी प्रकार 'हंस-मयूर' में स्त्री-पात्रों की संगीत-सृष्टि से प्रधानता है। तन्वी नृत्य-संगीत प्रेमी के रूप में सम्मुख आती हैं। 'पूर्व की ओर' में धारा नृत्य और संगीत में पारंगत है। विनोद रस्तोगी कृत 'आजादी के वाद' में नीला प्रमुख गायिका के रूप में सामने आती है।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि पुरुष पात्र गाते ही नहीं है। यह अवश्य है कि पुरुषों में अधिकतर मजदूर-मण्डल, छोटे वालक, युवकों की टोलियां, सैनिक-समूह, वैतालिक, भक्त, कवि, मल्लाह, भिखारी, इत्यादि तो गायक हैं। किन्तु कहीं-कहीं प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथा पौराणिक पुरुष पात्रों द्वारा भी गवाया गया है। उदाहरणार्थ 'अन्त:पुर का छिद्र' में राजा उदयन वीणा पर गाते हैं।[1] इसी प्रकार 'यशस्वी भोज' में राजा भोज का वीणा वाद,[2] तथा आहुति में राजा हम्मीर द्वारा

१—अन्त:पुर का छिद्र : गोविन्दवल्लभ पंत : द्वि अंक, पृ० २७।
२—यशस्वी भोज : देवराज दिनेश : द्वि० अंक, पृ० ७३।

युद्ध से पूर्व शिव-प्रतिमा के आगे गायन,[1] कराया गया है। 'शिवा-साधना' में भी शिवाजी भवानी-पूजा करते हैं।[2] 'बन्धु भरत' में नारद और भरत गीत गाते हुए दिखाए गए हैं। एक-दो सामाजिक नाटकों के गायक भी गाते दीखते हैं। 'वसन्त' का नायक निर्मल नाटक का मुख्य गायक है। आजादी के बाद' में नायक और उसका मित्र दोनों सुख-दुख में गाते हैं। इन पात्रों के अतिरिक्त 'रामानुज' के बीस गीतों में नायक रामानुज केवल एक गीत गाता है,[3] वह भी जनता में देव-वाणी का प्रसार करने के लिए। गोविन्ददास कृत 'अशोक' के अनेक गीतों में से अशोक पात्र का कोई गीत नहीं है वरन् उनकी मानसिक हलचल को प्रकट करने के लिए लेखक ने नेपथ्य गीत का प्रयोग किया है।[4] अतएव यह ज्ञात होता है कि पुरुष पात्रों के गायन के सम्बन्ध में अवश्य ही नाटककारों के मस्तिष्क में कुछ योजना रही होगी। चूंकि हमारे नाटकों के नायकों में आदर्श की प्रधानता रही है और भारतीय दृष्टि से आदर्श नायक रोते-गाते रंगमंच पर शोभनीय नहीं लगते अतः कुछ विशेष पात्र ही गायक हैं।

तात्पर्य यह कि इस युग के नाटकों में स्त्री-पात्रों को ही संगीत की दृष्टि से प्रथम स्थान दिया गया है और इस बात का प्रयत्न किया गया है कि सभी पात्रों को गाने का रोग न हो, कोई विशेष पात्र ही संगीत-प्रेमी के रूप में प्रस्तुत किया जाय। प्राचीन परम्परा से इस युग के नाटक अछूते हैं। यहाँ कृष्ण, विष्णु, अशोक, औरंगजेब सभी नहीं गाने लगते। उनके चयन में सूक्ष्म दृष्टि से कार्य लिया गया है। ऐतिहासिक नाटकों में सैनिक, वैतालिक, कवि, चारण आदि का गान, धार्मिक नाटक में भक्त के गीत, तथा सामाजिक नाटकों में मजदूर, भिखारी, मल्लाह, आदि का गायन नाटक में उपस्थित वातावरण के लिए ही होता है। नारद, उदयन तथा भोज जैसे पात्रों की संगीत-प्रियता इतिहास प्रसिद्ध ही है। सामाजिक नाटकों में नायक से गीत गवाना आधुनिक फिल्म संगीत का ही प्रभाव है। यद्यपि ऐसे प्रयोग एक-दो नाटकों में ही हैं। तात्पर्य यह कि इस युग के नाटकों के गायक पात्रों में परम्परा प्राप्त अस्वाभाविकतायें नहीं है वरन् 'प्रसाद' की प्रणाली को अपनाने का प्रयास तथा अपनी सूझ-बूझ का प्रयोग किया गया है।

इन सभी नवीनताओं और विशिष्टताओं के होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि यह युग संगीत के क्षेत्र में प्राचीन परम्पराओं से सर्वथा मुक्त है। यह युग कुछ प्राचीन तथा कुछ आधुनिक प्रभावों का युग है। इस दृष्टि से निम्न प्रभाव इस काल के नाट्य-संगीत पर लक्षित होते हैं—

१—आहुति : हरिकृष्ण प्रेमी : द्वि० अंक, पृ० ३८।

२—शिवासाधना : हरिकृष्ण प्रेमी : प्र० अंक, पृ० १६।

—रामानुज : डा० रांगेय राघव : च० अंक, पृ० ९७।

—अशोक : सेठ गोविन्ददास : द्वि० अंक : पृ० ३९।

१—रंगमंचीय नाट्य-संगीत का प्रभाव।
२—संस्कृत नाट्य-संगीत का प्रभाव।
३—आधुनिक फिल्म-संगीत का प्रभाव।

वस्तुत: इस काल में भी कुछ ऐसे नाटक हैं जिनके संगीत पर रंगमंचीय नाटक-संगीत की स्पष्ट छाप दृष्टिगत होती है। इस परम्परा में 'अंगूर की बेटी' (गोविन्द वल्लभ पन्त), 'चुम्बन', 'गंगा का बेटा', 'आवारा', और 'डिक्टेटर' (बेचनशर्मा उग्र) नाटक आते हैं क्योंकि इनमें उसी प्रकार का अस्वाभाविक, असाहित्यिक, उर्दू-शैली से प्रभावित चमत्कारी तथा मनोरञ्जक संगीत प्राप्त होता है। इन नाटकों में ग़ज़ल, पद्य गीत, और शृंगारिक गीतों के अतिरिक्त उर्दू-अंग्रेजी मिश्रित गीत भी हैं। उदाहरणार्थ—

ड्राअर में बुक रक्खो
पाकेट में फाउन्टेन
राहे मुहब्बत में नालेज है माउन्टेन।[1]

कहीं-कहीं संस्कृत की प्राचीन परम्परा का अनुगमन किया गया है। उदाहरणार्थ 'जय सोमनाथ' नाटक का प्रारम्भ और अंत संस्कृत नाटकों के मंगलाचरण तथा भरतवाक्य के अनुकरण पर शिव-स्तुति से हुआ है। 'सेनापति पुष्यमित्र' के अन्त में भरतवाक्य के समान ही गायन है।[2] 'चुम्बन' नाटक का आरम्भ मंगलाचरण से होता है। अन्त:पुर का छिद्र' का आरम्भ भी ईश-वन्दना से होता है। इसी प्रकार 'भरत-विजय' का अन्त विष्णु प्रार्थना से कराया गया है।

तीसरा प्रभाव फिल्म-संगीत का है। इस काल के कुछ नाटकों में आधुनिक फिल्म संगीत जैसे प्रयोग दृष्टव्य हैं; क्योंकि इनमें उसी प्रकार के स्थलों पर उसी रूप में संगीत दिया गया है। यद्यपि फिल्म-संगीत का मूल पारसी-नाटक-संगीत में ही है क्योंकि फिल्मों में भी उसी प्रकार के चलताऊ, मनोरंजन-प्रधान, अनावश्यक गीतों की भरमार रहती है। किन्तु इतना अवश्य है कि तुलना में फिल्म संगीत पारसी-नाटक संगीत से अधिक लयपूर्ण, मधुर और गेय है। अतएव फिल्म संगीत को हम पारसी नाट्य-संगीत का परिष्कृत एवं परिमार्जित स्वरूप स्वीकार कर सकते हैं। फिल्म टेकनीक का प्रभाव 'शतरंज के खिलाड़ी', 'स्वप्नभंग' और 'आजादी के बाद' नाटकों में दर्शनीय है। गीत के साथ-साथ लेखक यह निर्देश देता है कि अमुक पात्र घूम-घूम कर नाच नाचकर गाता है।[3] हमारी फिल्मों में गीत के साथ इस प्रकार का अभिनय अत्यन्त प्रचलित है। इसी प्रकार 'स्वप्नभंग' में जब नादिरा और दारा

१—आवारा, : उग्र : प्र० अंक, पृ० २५।
२—सेनापति पुष्यमित्र : सीताराम चतुर्वेदी : पृ० १०९।
३—शतरंज के खिलाड़ी : हरिकृष्ण प्रेमी : पृ० ९२।

हिन्दुस्तान की सीमा पार जाने के लिए पैदल यात्रा करते-करते थककर बैठ जाते हैं तभी उनके प्रोत्साहनार्थ नेपथ्य से गीत होता है—

नाविक नौका को खे चल ।[1]

गीत से प्रेरणा पाकर थके हुए यात्री पुन: चलने लगते हैं। फिल्मों में इस प्रकार के प्रेरणा-गीत प्राय: प्रयुक्त होते हैं। विनोद रस्तोगी कृत 'आजादी के बाद' नाटक में फिल्म का सर्वाधिक प्रभाव है। प्रथम अंक में ही सुरेश हृदय के उल्लास को समेटने में असमर्थ होने पर कुछ देर कमरे में टहलकर प्यानों बजाकर गाने लगता है—

आज क्यों उल्लास मन में ?[2]

हर्ष-शोक की स्थिति में पुरुष पात्र का प्यानों छेड़कर गाने लगना आधुनिक फिल्म-संगीत का आवश्यक अंग है। इसी नाटक में अन्य स्थल पर वियोगिनी नीला रंगमंच पर गाती है। कुछ पंक्तियों के बाद ही नेपथ्य से अजीत का स्वर आता है। फिर नीला गाती है और अन्त में दोनों का स्वर एक साथ आता है।[3]

वियोगावस्था में एक पात्र का रंगमंच पर गाना तथा दूसरे पात्र की ध्वनि नेपथ्य से आना और अन्त में दोनों का साथ गाने लगना फिल्मों में ही बहुत प्रचलित हैं। पारसी-नाटकों में भी यद्यपि गीत की एक पंक्ति, एक पात्र द्वारा, दूसरी पंक्ति दूसरे पात्र द्वारा गाने की परम्परा थी विशेषकर सखी अथवा प्रेमियों के गीत में; किन्तु नेपथ्य से गीत की ध्वनि आना और अन्त में उपस्थित और अनुपस्थित पात्र की आवाज़ साथ-साथ आना फिल्मों में ही प्रचलित है। इसीलिए यह स्वीकार्य है कि फिल्म-संगीत पारसी-नाट्य-संगीत का ही परिष्कृत रूप है।

इस युग में 'सुदर्शन' के नाटक फिल्म-टेकनीक का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं। उन्होंने 'सिकन्दर' और भाग्यचक्र 'नाटक फिल्म के ही लिए लिखे थे। फिल्म में उनके नाटकों का संगीत अत्यन्त लोकप्रिय हो चुका है। 'सिकन्दर' का 'जिन्दगी है प्यार से प्यार से बिताए जा' तथा 'भाग्यचक्र' के 'बाबा मन की आंखें खोल' और 'तेरी गठरी में लागा चोर' जैसे गीत आज भी जन-प्रिय हैं।

इस प्रकार नाटकों का यह युग संगीत के प्रति अधिक सचेष्ट एवं जागरूक है। यहां रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त होकर नवीन मान्यताओं तथा प्रभावों को अपनाने की प्रयत्नशीलता और उत्साह निरन्तर विद्यमान है। अन्य युगों की अपेक्षा इस युग में ऐसे ही नाटक अधिक हैं जो पूर्णत: संगीत-रहित हैं और ऐसे नाटक बहुत

१—स्वप्न भंग : वही, तृ० अंक, पृ० ११४।

२—आजादी के बाद : विनोद रस्तोगी : पृ० ६२।

३—वही, तृ० अंक, पृ० १००-१०१।

कम हैं जिनमें संगीत प्रधान हो, कथानक गौण। इस युग का नाट्य-संगीत केवल भावुकता का परिणाम नहीं है, वरन् उसके पीछे कवि, संगीतज्ञ और नाटककार की विचारशीलता, अनुभव एवं ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश विद्यमान है जिसका अभाव पूर्वयुगों में प्राय: खटकता रहा है।

---o---

५ हिन्दी नाटकों में संगीत सम्बन्धी सामग्री का विवेचन एवं परीक्षण

(१९१०-१९६०)

१९१० ई० से १९६० ई० तक के लम्बे समय में हिन्दी नाटकों के अन्तर्गत संगीत सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त रूप में उपलब्ध होती है। संगीत के दोनों रूप-शास्त्रीय संगीत तथा लोक-संगीत-हिन्दी नाटकों की अमूल्य निधि हैं। यही नहीं, संगीत के तीनों अंग—नृत्य, वाद्य, गीत,—सम्बन्धी विविधता के दर्शन भी हिन्दी नाटकों में होते हैं। गीतों के कितने ही प्रकार—ठुमरी, दादरा, कजली आदि-हिन्दी नाटकों में सम्मिलित हैं। कितने ही शास्त्रीय रागों में उन गीतों को बांधा गया है। नृत्य के विविध रूप, वाद्य-वादन की यथावसर योजना तथा ताल का प्रयोग हिन्दी नाटकों में संगीत की अनन्य सामग्री हैं। नृत्य, वाद्य, गीत, राग, ताल आदि के प्रयोगों में, उनके स्वरूपों में समय के प्रभाव के साथ-साथ परिवर्तन होता रहा है। प्रस्तुत अध्याय में संगीत सम्बन्धी इसी सामग्री का विवेचन एवं शास्त्रीय रागों की संगीत-शास्त्रानुसार परीक्षा की जायगी।

१९१० ई० से १९३५ ई० तक के हिन्दी नाटकों में संगीत सम्बन्धी सामग्री :

इस युग के साहित्यिक तथा रंगमंचीय नाटकों में संगीत सम्बन्धी सामग्री विविध रूपों में उपलब्ध होती है—गीत के अनेक प्रकार, नृत्य के विभिन्न प्रकार, वाद्य-योजना, शास्त्रीय रागों एवं तालों का प्रयोग दोनों प्रकार के नाटकों में उपलब्ध होता है। तुलनात्मक दृष्टि से इस क्षेत्र में साहित्यिक नाटक अधिक धनी हैं। रंगमंचीय नाटकों में यह सामग्री अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त हुई है। अतएव स्पष्टता की दृष्टि से साहित्यिक तथा रंगमंचीय नाटकों की संगीत-सामग्री का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायगा।

गीत के प्रकार :

गीत के विविध प्रकार इस युग के साहित्यिक नाटकों में उपलब्ध होते हैं यद्यपि पूर्व नाटकों जैसी विविधता इनमें नहीं है फिर भी प्रमुख रूप से निम्नांकित प्रकारों का प्रयोग हुआ है—

भजन	लावनी
कजली	कव्वाली
रसिया	जलवा
ठुमरी	होली
दादरा	तराना
ग़ज़ल	वधावा
कीर्तन	विवाह-गीत

भजन तथा प्रार्थना या स्तुति का प्रयोग तो इस युग के नाटकों में प्राय: उपलब्ध होता है। पौराणिक नाटकों की संख्या अधिक होने के कारण इसकी संभावना स्वाभाविक भी है। कजली की परम्परा भारतेन्दु काल से ही चली आ रही थी। उस काल में भी 'गोस्वामी तुलसीदास' एवं भीम-प्रतिज्ञा' में कजली या कजली की धुन पर गीत रचना मिलती हैं। प्रथम नाटक गुसाई पियूलाल की बैठक में वेश्यायें कजली की धुन पर गाती हैं—

तुम आँख मिचौनी खेल खेलते किधर जा छिपे लाल।
देखो तो बिना तुम्हारे राधा हुई हाय कंगाल ॥[1]

'खां जहां' में सोफिया राग सारंग में रसिया गाती है—

मेरे प्यारे हो सजनवाँ, तुम पर तन-मन डारूँ वार।[2]

ठुमरी का प्रयोग अधिकतर नाटककारों ने किया है। ठुमरी का गायन विविध रागों में कराया गया है। यथा—

'नहिं लै है खबर मोरी कब तक'[3]
पायो मैं वहुत ही कलेश, खबर नहीं लीन्हों हमारी।[4]

दादरा का प्रयोग ठुमरी की अपेक्षा वहुत कम हुआ है। नाटकों में दादरा का यह रूप है—

जय जय प्रभु, सदय हृदय, हो कुरुकुल पर कृपालु
ऐसी आशीष प्रदान करिये मुझे दीन जान
स्वामि काज पूर्ण करूँ, जय जय जय हे दयालु।[5]

गीत के अन्य प्रकारों की अपेक्षा ग़ज़ल का प्रयोग इस काल के नाटकों में

१—गोस्वामी तुलसीदास : वद्रीनाथ भट्ट : तृ० अंक, पृ० १२०।
२—खां जहां : रूपनारायण पांडे, च० अंक, पृ० १७३।
३—आर्य मतमार्तण्ड (भाग १) रुद्र दत्त शर्मा, प्र० अंक, पृ० २२।
४—आर्यमतमार्तण्ड : रुद्रदत्त शर्मा : पृ० १।
५—कुरुवन-दहन नाटक : वद्रीनाथ भट्ट, अंक, ५ पृ० १०३।

अधिक हुआ है। उदाहरणार्थ 'कंसवध नाटक'[१] 'कलियुगी प्रह्लाद'[२] 'खां जहां',[३] 'गोस्वामी तुलसीदास'[४] 'अज्ञातवास',[५] 'भीमप्रतिज्ञा',[६] सम्राट-अशोक',[७] इत्यादि नाटकों में ग़ज़ल का प्रयोग हुया है। प्रेमचन्द की 'कर्बला' में तो ग़ज़ल बहुतायत से है।

नाटकों के अन्तर्गत लावनी की भी अन्यन्त प्राचीन परम्परा रही है। इस काल के नाटकों में अपेक्षाकृत लावनी अधिक नहीं उपलब्ध होती हैं, फिर भी नाटक 'अज्ञातवास' के प्रथम अंक के पंचम गर्भांक में द्रोपदी भरी सभा में विराट के सम्मुख लगभग एक पृष्ठ की लावनी गाती हैं—

है मत्स्यराज क्या लाज न तुमको आती ?
हा, देख दुर्दशा क्यों न फट गयी छाती।[८]

'भीम,प्रतिज्ञा' में भी दो स्थलों पर लावनी का प्रयोग है।

कव्वाली भी लावनी के समान गिने-चुने स्थलों पर दृष्टिगत होती है। 'भीम-प्रतिज्ञा' के द्वितीय अंक के ग्यारहवें दृश्य में कृष्ण धुन सोहनी में कौआली गाते हैं—

आज दूत वनि काज व(?)ाऊँ।[९]

'अज्ञातवास' नाटक में रानी सुदेष्णा द्वारा कीचक के घर एक दिन के लिए जाने की आज्ञा पाकर विवश सैरन्ध्री 'धुन थियेटर कव्वाली' गाती है—

मैं पैरों पड़ूं तुम्हारे
मत भेजो उसके द्वारे।[१०]

'आदर्श हिन्दू-विवाह' में द्वितीयांक के प्रथम दृश्यारम्भ में ही वासन्ती अपनी पुत्री माधवी को गले लगाकर धुन आसावरी में कौआली गाती है।[११]

जलवा का गायन केवल' आदर्श हिन्दू-विवाह' में उपलब्ध होता है। प्रथम अंक के पंचम दृश्य में केशव अपने भाई की वेटी माधवी के बाल-विवाह पर दुखित हो 'जलवा' गाता है—

भारत के ब्रह्मचारी, देखो दशा हमारी।
कैसी गिरी हुई है सन्तान ये तुम्हारी।[१२]

१—कंसवध नाटक : पं० राम नारायण मिश्र : प्र० अंक, पृ० १७।
२—कलियुगी प्रह्लाद : शिवनाथ शर्मा : द्वि० अंक, पृ० ३२।
३—खांजहां : रूपनारायण पाण्डे : तृ० अंक, पृ० ११७।
४—गोस्वामी तुलसीदास : बद्रीनाथ भट्ट : प्र० अंक, पृ० ११।
५—अज्ञातवास : द्वारकाप्रसाद गुप्त : तृ० अंक, पृ० १२९।
६—भीम-प्रतिज्ञा : जीवानंद शर्मा : द्वि० अंक, पृ० ६२-६३।
७—सम्राट अशोक : चंद्रराज भंडारी : प्र० अंक, पृ० २७-२८।
८—अज्ञातवास : द्वारकाप्रसाद गुप्त : प्र० अंक, पृ० ५२-५३। ९—वही, पृ० ८८
१०—अज्ञातवास : द्वारका प्रसाद गुप्त : प्र० अंक, पृ० ३९।
११—आदर्श हिन्दू विवाह : जीवानंद शर्मा : पृ० ३३। १२—वही, पृ० २८।

अर्थात् शुद्ध स्वर, सरसता, सुन्दर राग, मधुर अक्षर, अलंकार एवं प्रमाण ये छः प्रकार के लक्षण अच्छे गीत के हैं। मुख्यत: गीत के निम्नलिखित गुण हैं—

गीत के गुण[1] :—

१—श्लक्षण—तीनों स्थानों में मुख-भाव के साथ श्रमरहित संचार करना।
२—व्यक्त—स्पष्ट रूप में अक्षर व स्वर-उच्चारण।
३—पूर्ण—गमक और अलंकारों का पूर्ण स्वरूप में गाना।
४—सुकुमार—कण्ठध्वनि में मृदुत्व।
५—अलंकृत—तीनों स्थानों में अलंकारों सहित गाना।
६—सम—वर्ण, लय और स्थान की समता।
७—सुरक्तम्—वीणा, वेणु आदि वाद्य शब्दों के साथ कंठध्वनि को लीन करना।

गीत के दोष[2] :—

१—लोकदुष्ट—लौकिक संप्रदाय के विरुद्ध।
२—शास्त्रदुष्ट—संगीत शास्त्र के विरुद्ध।
३—श्रुतिविरोधी—श्रुति के विरुद्ध।
४—कालविरोधी—लयभ्रष्टता।
५—पुनरुक्त—एक ही स्थायी या पद का वार-वार प्रयोग।
६—कलावाह्य—संगीत नियमों का उल्लंघन।
७—गतत्रय—राग, भाव, ताल में से किसी एक की हानि।
८—अयार्थक—अर्थ या भाव से रहित गाना।
९—ग्राम्य—अनागरिक रचना या गाना।
१०—संदिग्ध—पद, स्वर या ताल प्रयोग में सन्देह।

संगीत के प्रचलित प्रवन्ध :—

संगीत के अनेक प्रचलित प्रवन्ध हैं जिनकी रचना स्वर, ताल आदि से युक्त करके नाट्य उपयोग के लिए की गयी। ये सभी प्रवन्ध नाटकों में मिल जाते हैं। रत्नाकर (१२१०-१२४७) के समय में संगीत के भाग (pieces) प्रवन्ध कहलाते थे[3]।

ध्रुपद :—प्रचलित प्रवन्धों में ध्रुवपद का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। आजकल यह ध्रुपद नाम से गेय है। इसके लिए अधिकतर चौताल, एकताल और धमार ताल का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन काल में ध्रुपद नाटकों के अन्तर्गत गीत का मुख्यांग होकर आता था। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के ३२ वें अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन है। ध्रुपद गान का प्रयोग नाटकों के आरम्भ, मध्य, अन्त में

१—संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० २५१।
२—वही, पृ० २५१।
3—The Music of India : Herbert A. Popley, Second Edition, P. 89.

'आर्यमतमार्तण्ड' नाटक के प्रथम भाग में एक होली गायी गयी है—किन्तु उस गीत का विपय होली से सम्बन्धित नहीं है अतएव होली का यह रूप विचित्र है।

'महाराजा भर्तहरि' में दो स्थलों पर सुन्दर होली गवायी गयी है। प्रथमत: कलावती वेश्या राजा भर्तहरि' के सामने गाती है—

मत जाओ री आज कोई पनियां भरन
मग रोकत कान्ह नहिं धरत ध्यान
मूठी गुलाल की परत दृगन।[1]

द्वितीय स्थल पर माधुरी रानी पिंगला को होली सुनाती है—

होरी खेलत छैल छली, लाल गल बाहि दिए।[2]

'कलियुगी प्रहलाद' नाटक में कुछ स्त्रियों का समूह मिलकर तराना गाता है—

गावे रसियां तान दिर दिर तानी रे। मधुर मधुर धुनि रसिया वजावे गावे मोहन तान रे।
नादिर दानी नादिर दानी दिरदानी दानी, रसिया तान दिर दिर तानी रे।[3]

अन्य सभी प्रकारों की अपेक्षा वधाई या मंगल-गीतों का आधिक्य इस युग के साहित्यिक नाटकों में प्राप्त होता है। ये वधाई गीत विविध अवसरों के हैं। विवाहोत्सव, जन्मोत्सव, राज्याभिषेक, प्रेमी-प्रेमिका-मिलन, विजय-प्राप्ति तथा अन्य ऐसे ही आनन्दपूर्ण अवसरों पर ऐसे गीत का आश्रय प्राय: लिया गया है।' छात्र-दुर्दशा नाटक में श्यामलाल के विवाहोपलक्ष्य में वेश्या गाती है—

कुवंर वर जीओ लाख वरस।
जुरें बार नारी हम सव मिलि दें आसीस दरस।।[4]

'रामाभिपेक नाटक' में राम के राजतिलक का समाचार पाकर सखियां ठेका कव्वाली में गाती हैं—

आनन्द है छायो अवध मँह।
सुदिन यह भागिन सौं आयो।।[5]

पुन: राज सभा में नर्तकियां 'जियो जुग जुग मेरे महाराज' गाते हुए नृत्य करती हैं।[6] 'भीष्म' नाटक में गंगा अपने पुत्र को लिए लेटी है। उसके जन्म पर सखियां कोरस गाती हैं।[7]

१—महाराजा भर्तृहरि : श्यामसुन्दरलाल दीक्षित : द्वि० अंक, दृ० १, पृ० ३२।
२—वही, प्र० अंक, दृ० ३, पृ० १४।
३—कलियुगी प्रहलाद : शिवनाथ शर्मा : प्र० अंक, पृ० १९।
४—छात्र-दुर्दशा : लोचनप्रसाद पाण्डेय, प्र० अंक, पृ० ४९।
५—रामाभिपेक नाटक : गंगाप्रसाद गुप्त, द्वि० अंक, पृ० १९।
६—वही, पृ० २९।
७—भीष्म : विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' प्र० अंक, दृ० ६, पृ० १९।

नाटक 'राजमुकुट' में बनवीर के राजतिलक पर विद्याधरियां पहाड़ी खम्माच में गाती हैं—

आज राजतिलक की गाओ बधाई,
प्रकटा सुख दुरित हुई दुख की परछांई ॥[1]

इन नाटकों में विवाहोत्सव से सम्बन्धित अन्य सुन्दर गीत भी मिलते हैं जिन्हें लोक-गीत की परम्परा में रखा जा सकता है। 'सभ्य स्वयंबर' में विवाहोत्सव पर लड़की के उपटन के समय गौनहरने गाती हैं—

आटे हरदी का उवटन
राई सरसों का तेल, तेल फुलेल शशि बेटी बैठी है जबरन
दुलरंती बैठी है उवटन ॥

पुन: लड़की को स्नान करते समय तथा वस्त्र और आभूषण पहनाते समय गीत गाया जाता है—

बनरी को जो देख पावेगा बनरा
प्यारी बनरी से लोभावेगा बनरा
चंदा सा लाड़ो का मुखड़ा बना है
बनरी पै लोट लोट जावेगा बनरा ।[2]

इस प्रकार ये बधाईयां विभिन्न अवसरों से सम्बन्धित हैं और प्राय: नाटककारों ने इस प्रकार के गीत अपने नाटकों में अवश्य दिये हैं।

कीर्तन का प्रयोग किसी पात्र-विशेष के कारण सामाजिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में स्वभावतः हो गया है। 'मधुर-मिलन'[3] और 'राजतिलक'[4] नाटकों में कीर्तन सम्बन्धी मनोरम गीत प्राप्त होते हैं।

रंगमंचीय नाटकों में गीत के प्रकारों का वैविध्य अपेक्षाकृत और भी कम है। मुख्यत: इन नाटकों में रसिया, ग़ज़ल, सोहर, भजन, वधावा का प्रयोग हुआ है।

रसिया का गायन केवल 'राजा शिवि' नाटक में कराया गया है। ढाढ़ी और ढाढ़िन रसिया गाते हुए रंगमंच पर प्रवेश करते हैं—

ढाढ़ी बनकर आयो द्वार पर।
राजकुंवर के चन्द्रबिम्ब पर वारन तन मन लायो ।[5]

गजल का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है 'महामाया'[6] भक्त सूरदास'[7] 'पाप-

---

१—राजमुकुट : गोविन्दवल्लभ पन्त : द्वि० अंक, पृ० ८६।
२—सभ्य स्वयंवर : हरिहर प्रसाद जिजल : प्र० अंक, पृ० २०।
३—मधुर-मिलन : जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी : द्वि० अंक, पृ० ४७।
४ - राजतिलक : जगन्नारायण देव शर्मा : प्र० अंक, पृ० ५१।
५—राजा शिवि : बलदेव प्रसाद खरे : पृ० ६९।
६—महामाया : दुर्गाप्रसाद गुप्त : तृ० अंक, पृ० ९६।
७—भक्त सूरदास : तुलसीदत्त शैदा : प्र० अंक, पृ० १९।

परिणाम',[1] और 'जवानी की भूल',[2] इत्यादि नाटकों में ग़ज़ल की छटा दर्शनीय है।

सोहर का प्रयोग केवल 'महाभारत' नाटक में हुआ है। इस नाटक में जब कौरव-पांडवों को आधा राज्य देने का विचार कर लेते हैं तब प्रसन्न होकर एक डोकरी सोहर गाने लगती है—

> **जुग-जुग जीवें तोरे ललना, झुलावें रानी पलना, जगत सुख पावइ हो।**
> **बजै नित आनन्द वधैया, जियें पांचों भैया, हमन कंह मानइं हो।**
> **धन धन कुंती तोरी कोख, सराहै सब लोक, सुमन बरसावइ हो।**
> **दिन दिन फलें रानी फूलें, दुआरे हाथी झूलें, सगुन जग गावइ हो।**[3]

भजन और कीर्तन का प्रयोग राधेश्याम कथावाचक के अधिकतर नाटकों में अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक हुआ है। बधाई से सम्बन्धित मंगल-गीत इन नाटकों में भी अधिक हैं जिनका सम्बन्ध किसी न किसी विशेष अवसर से है। 'हिन्दू-कन्या' नाटक में राधा और रमण के मिलन के हर्ष में स्त्रियां गाती हैं—

> **मिलनवां आज कैसे अनोखे।**[4]

'राजा शिवि' में शिवि के पुत्र को बधाई देती हुई नगर-वधुवें गाती हैं।[5] 'देवयानी' नाटक में देवयानी व ययाति के शुक्राचार्य द्वारा हाथ मिलाए जाने तथा आर्शीवाद देने पर स्त्रियां मंगल-गीत गाती हैं—

> **गावो गावो मंगलाचार शुभ दिन आज सखी।**
> **धन धन सखि हमरी आज, धन महाराज सखी।**
> **चिरजीवे अद्‌भुत यह जोड़ी।**
> **प्रभु सारें सब काज शुभ दिन आज सखी॥**[6]

इस प्रकार इस युग के सम्पूर्ण नाटकों में गीत के प्रकारों की अनेकरूपता उतनी मात्रा में नहीं जितनी कि भारतेन्दु काल में थी। विशेषकर रंगमंचीय नाटकों में गीत के प्रकारों पर ध्यान नहीं दिया गया है। ग़ज़ल तो तत्कालीन परम्परा के प्रभावस्वरूप अधिक प्रयुक्त हो गयी है, किन्तु भजन, कीर्तन आदि तो कहीं-कहीं कथानक के अनुसार आ गए हैं, उनके लिये प्रयास नहीं किया गया है।

वाद्य-संगीत :

१९१० ई० से पूर्व हिन्दी नाटकों में वाद्य-यंत्रों की जो स्थिति थी, वह इस युग में भी उपलब्ध होती थी। गीत की प्रधानता के कारण वाद्यों को महत्वपूर्ण स्थान

१—पाप-परिणाम : जमुनादास मेहरा : प्र० अंक, पृ० ५०।
२—जवानी की भूल : वही, द्वि० अंक, पृ० ८५।
३—महाभारत नाटक : पं माधव शुक्ल : द्वि० अंक, पृ० ३३।
४—हिन्दू-कन्या : जमुनादास मेहरा : पृ० १२२।
५—राजा शिवि : बलदेव प्रसाद खरे : द्वि० अंक, पृ० ६५।
६—देवयानी : जमुनादास मेहरा : द्वि० अंक पृ० ८५।

नहीं प्राप्त हो पाया। इस युग के अधिकतर नाटकों में वाद्यों का कोई प्रयोग तथा उल्लेख नहीं मिलता। गिने-चुने वाद्ययंत्रों का ही उल्लेख मिलता है। सभी स्थलों पर वाद्य-यंत्र गायन के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, उनका स्वतंत्र वादन नाटकों में नहीं हुआ है। यही स्थिति इससे पूर्व भी थी।

मुख्यत: तंबूरा, वीणा, इकतारा, सितार, खंजड़ी, हारमोनियम, तबला, ढोलक, मुरली, झांझ, डफ, बैंड आदि वाद्य-यंत्रों का प्रयोग इस काल के हिन्दी नाटकों में हुआ है।

तंबूरे का प्रयोग नाटक 'हर्ष' में हुआ है। नाटक की नायिका राज्यश्री दो स्थलों पर तंबूरा बजाकर गीत गाती है।[1]

वीणा वाद्य का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक स्थलों पर हुआ है। 'विक्रमादित्य' नाटक के द्वितीयांक के प्रथम दृश्य में चन्द्रलेखा का गायन वीणा पर होता है।[2] 'कंस-वध' नाटक में नारद वीणा बजाते एवं गाते हुए कंस की सभा में प्रवेश करते हैं।[3]

इकतारे का प्रयोग भी गायन के साथ हुआ है। 'भाग्यचक्र' में सूरदास इकतारे के साथ 'बाबा मन की आँखें खोल' गाता है।[4] इसी प्रकार 'रक्षाबन्धन' नाटक में श्यामा इकतारे पर गाती हुई प्रवेश करती है।[5]

सितार पर गायन नाटक 'सन्यासी' और 'महाराजा भर्तृहरि' में प्राप्त होता है। 'सन्यासी' की संगीत-प्रिय किरणमयी प्रथम अंक में सितार बजाकर गाती है।[6] पुन: द्वितीय अंक में वह फिर सितार की खूंटियां मोड, मिजराव लगा कर सितार बजाती और गाती है।[7] इसी प्रकार 'महाराजा भर्तृहरि' में केवल एक स्थल पर पिंगला सितार पर गाती है—'सखि बरसे गरज-गरज घनवा।'[8]

खंजड़ी का प्रयोग भजन के साथ हुआ है। नाटक 'प्रेम-प्रशंसा' में एक वैष्णव खंजड़ी बजाकर भजन गाता है।[9]

हारमोनियम पर 'सन्यासी' की किरणमयी भावमग्न होकर गाती है।[10] इसके

१—हर्ष : सेठ गोविन्ददास : पृ० ५८ और पृ० ६६।
२—विक्रमादित्य : उदयशंकर भट्ट : पृ० २८।
३—कंसवध : पं० रामनारायण मिश्र : प्र० अंक, पृ० १९।
४—भाग्यचक्र : सुदर्शन : प्र० अंक, पृ० २९।
५—रक्षाबन्धन : हरिकृष्ण प्रेमी : तृ० अंक, पृ० ८७।
६—सन्यासी : लक्ष्मीनारायण मिश्र : पृ० ३४।
७—वही, पृ० ९६।
८—महाराजा भर्तृहरि : श्यामसुन्दरलाल दीक्षित : प्र० अंक, पृ० ३८।
९—प्रेम प्रशंसा : लोचन प्रसाद पांडेय : द्वि० अंक, पृ० ४४।
१०—संयासी : लक्ष्मीनारायण मिश्र : प्र० अंक, पृ० २८।

अतिरिक्त 'भाग्यचक्र' में रूपकुमारी दीपक की स्मरण-शक्ति वापस लाने के लिए हारमोनियम के स्वर छेड़कर गाती है।[1] 'भाग्यचक्र' में ही अन्य स्थल पर कालिदास नाटक कम्पनी के अभिनेता बाजे और तबले के साथ गीत गाते हैं।[2]

प्रेमचन्द्र के 'कर्बला' नाटक में जुहाक डफ बजाकर गाता है।[3]

उपर्युक्त वाद्य-यन्त्रों का यह प्रयोग इस युग के साहित्यिक नाटकों में हुआ है। रंगमंचीय नाटकों में वाद्य-प्रयोग नाम-मात्र को हुआ है। उदाहरणार्थ 'सत्य-नारायण' नाटक में नारद का वीणा पर गायन है।[4] नाटकांत में अहीरों क दल खंजरी, ढोलक, झांझ और डफ बजाकर गाता है।[5] 'भक्त सूरदास' में कृष्ण की मुरली का संकेत किया गया है।[6] तथा 'नन्हीं दुल्हन' में विवाह के अवसर पर गीत के साथ अंग्रेजी बैंड की धुन का निर्देश किया गया है।[7] उनके अतिरिक्त अन्य किसी वाद्य का उल्लेख रंगमंचीय नाटकों में नहीं हुआ है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि इस युग के हिन्दी नाटककार वाद्य-यन्त्रों की ओर अधिक सतर्क नही थे। उन्होंने प्रचलित परम्परा का ही पालन किया है किसी नवीनता का समावेश नहीं किया। प्रयोग की दृष्टि से वाद्य-यन्त्रों का सभी स्थलों पर प्रयोग समुचित ही है। उपर्युक्त सभी वाद्यों के साथ गायन होता है। विशेषता यही है कि 'विक्रमादित्य', 'हर्ष', जैसे ऐतिहासिक नाटकों में वीणा और तम्बूरा का ही प्रयोग किया गया है क्योंकि दोनों वाद्य भारतीय इतिहास और संस्कृत के गौरव तथा प्रचीनतम वाद्य हैं। इकतारे पर भजन का गायन भी प्रचलित परम्परा है। भजन के साथ इकतारे और खंजड़ी की संगत समुचित मानी है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण समूह के गीत के साथ खंजरी, ढोलक, झांझ का सामूहिक वादन उपयुक्त है क्योंकि ये वाद्य ग्रामीणों के सहज, सरल, द्रुतलयपूर्ण गीतों के साथ ही मेल खाते हैं, विशेषकर ढोलक तो लोकगीतों का प्रिय वाद्य है। इसी प्रकार नारद के साथ वीणा तथा कृष्ण के साथ मुरली का संयोग प्रचलित कथाओं के आधार पर परम्परासिद्ध है। अतएव वाद्य-प्रयोग में किसी प्रकार का दोप उपलब्ध नहीं होता। यह अवश्य है कि संगीत के इस अंग की उपेक्षा ही रही जब कि नाटकों की इतनी विस्तृत परम्परा में उसके अधिक उत्कर्ष की सम्भावना की जा जकती है।

नृत्य :

नृत्य का प्रयोग इस काल के अधिकांश नाटकों में हुआ है। नृत्य की यह

१—भाग्यचक्र : सुदर्शन : तृ० अंक, पृ० १४२। २—वही, प्र० अंक, पृ० ५२।
३—कर्बला : प्रेमचन्द्र : प्र० अंक, पृ० ४०।
४—सत्यनारायण : बलदेव प्रसाद खरे : प्र० अंक, पृ० ५।
५—वही तृ० अंक, पृ० ११२।
६—भक्त सूरदास : तुलसीदास शैदा : प्र० अंक, पृ० १०।
७—नन्हीं दुल्हन : तुलसीदास शैदा : पृ० ३६।

परम्परा इससे पूर्व इससे नाटकों से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है। जहां तक नृत्य के प्रकार अथवा स्वरूप का प्रश्न है, वहां तक यह अवश्य सत्य है कि नाटकों में प्रचलित नृत्य-परिपाटी का अनुसरण करते हुए भी इस युग के नाटकों में नृत्य के कुछ नवीन प्रयोग भी हुए हैं। इस दृष्टि से यह युग अपने पूर्व युग से आगे है। यहां तक कि रंगमंचीय नाटकों में भी नृत्य के एक-दो नए प्रकारों का सुन्दर, प्रयोग किया गया है। सर्वप्रथम हम साहित्यिक नाटकों में नृत्य के प्रयोग का विवेचन करेंगे। अस्तु—

इस काल के साहित्यिक नाटकों में नृत्य के केवल दो रूप हमें उपलब्ध होते हैं—

१—सामूहिक नृत्य

२—एकाकी नृत्य।

सामूहिक-नृत्य :

सामूहिक-नृत्य की व्यवस्था ही नाटकों में प्रमुख स्थान पाती रही है। भारतेंदु युग में भी ऐसी ही परम्परा थी। ये सामूहिक नृत्य मुख्यत: स्त्रियां ही करती हैं, पुरुषों का समूह कहीं-कहीं ही नृत्य करता हुआ दीखता है। इस प्रकार पात्रों की दृष्टि से इन सामूहिक नृत्यों के तीन वर्ग हो जाते हैं—

१—स्त्री-समूह-नृत्य

२—स्त्री-पुरुष-समूह-नृत्य

३—पुरुष-समूह-नृत्य

स्त्री-समूह-नृत्य में भी कुछ विशेष पात्र हैं जिनका मुख्य उद्देश्य नाटक में नृत्य की योजना को बनाए रखना ही है। विशिष्ट पात्रों की दृष्टि से स्त्री-समूह-नृत्य के कई वर्ग हो जाते हैं, यथा—

१—अप्सराओं के समूह-नृत्य

२—नर्तकियों के समूह-नृत्य

३—सखियों के समूह-नृत्य

४—वेश्याओं के समूह-नृत्य

इन विशिष्ट पात्रीय-नृत्यों का अंकन विविध नाटकों में हुआ है। उदाहरणार्थ अप्सराओं के सामूहिक नृत्य की योजना नाटक 'भीम-प्रतिज्ञा' हुई है। नाटकारम्भ में ही युधिष्ठिर के दरबार की शोभा-वृद्धि के लिए अप्सरायें नाचती-गाती हुई आती हैं।[1] 'राजतिलक' नाटक में इन्द्रपुरी के दृश्य में हाथ से ताल दे-देकर अप्सरायें नाचती और गाती हैं—

अलबेलियां पे भौरा लुभाया जायगा।
अठखेलियां पे भौरा सुलाया जायगा।

१—भीम-प्रतिज्ञा : जीवानन्द शर्मा : पृ० २।

एक टोली—आली अलबेलियां पै
दू० टोली—हां जी अलबेलियां पै
प० टोली—कैसी अठखेलियां पै
दू० टोली—ऐसी अठखेलियां पै ।[1]

इसी प्रकार 'देवी देवयानी' में दैत्यराज वृषपर्वा के दरवार में अप्सराओं के नृत्य-गान की योजना की गयी है।[2] नाटक 'बुद्धदेव' में समाधिस्थ सिद्धार्थ की तपस्या को भंग करने के लिए कामदेव के संकेत पर अप्सरायें नृत्य करती व गाती हैं ।[3]

नर्तकियों के सामूहिक-नृत्य की योजना राजाओं के दरवारों का मुख्य अंग रही है। दरबार का दृश्य उपस्थित करने के लिए नर्तकियों के नृत्य का आयोजन पूर्वप्रचलित परम्परा का ही परिणाम है।

'अज्ञातवास' नाटक में दुर्योधन की सभा में थियेटर की ध्वनि पर राजा की स्तुति गाती हुई नर्तकियां नृत्य करती हैं। 'रक्षाबन्धन' का दृश्यारम्भ सम्राट् विक्रमादित्य के दरवार में नर्तकियों के नृत्य-गान से होता है। 'राजमुकुट' का प्रारम्भ भी राजा विक्रम के संकेत पर नर्तकियों के नृत्य-गान से होता है। साथ ही नाटकान्त में भी भरत-वाक्य के अनुरूप गीत गाती हुई बालायें नृत्य करती हैं—

'चिरजीवी राज रहे राजन् ।[4]

'रामाभिषेक' नाटक में सायंकालिक राज-सभा में राज्याभिषेक से पूर्व राग विहाग में गाती हुई नर्तकियां नृत्य करती हैं।[5] 'भीष्म'—नाटक में काशिराज के स्वयंवर-मण्डप में विवाहोत्सव के उपलक्ष्य में आनन्दित नर्तकियां नृत्य करती हुई कोरस गाती हैं।[6] पुन: अन्य स्थल पर शाल्वराज के राजभवन में नर्तकियों का नृत्य व कोरस होता है।[7]

'विक्रमादित्य' (उदयशंकर भट्ट) नाटक के अन्त में विक्रमादित्य के दरवार में नर्तकियों का नृत्य-गान होता है।[8] इसी प्रकार 'दुर्गावती' नाटक में अकवर के दरवारखास में नर्तकियां नृत्य-गान द्वारा दरवार की शोभा वढ़ाती हैं।[9]

१—राजतिलक : जगन्नारायण देव शर्मा : द्वि० अंक, पृ० ८५-८६ ।
२—देवी-देवयानी : रामस्वरूप चतुर्वेदी : प्र० अंक, पृ० ६ ।
३—बुद्धदेव : विश्वम्भर सहाय : द्वि० अंक, पृ० १३७ ।
४—राजमुकुट : गोविन्दवल्लभ पन्त, पृ० अंक, दृ० ६, पृ० १२५ ।
५—रामाभिषेक नाटक : गंगाप्रसाद गुप्त : द्वि० अंक, पृ० २९ ।
६—भीष्म : विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक : द्वि० अंक, पृ० ५१ ।
७—वही, पृ० ६३ ।
८—विक्रमादित्य : उदयशंकर भट्ट : पृ० ८६-८७ ।
९—दुर्गावती : बद्रीनाथ भट्ट : प्र० अंक, पृ० ४९ ।

सखियों के नृत्य कम ही स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं। नाटक के अन्तर्गत किसी राजकुमारी या रानी की ये सखियां कहीं मनोरंजनार्थ नृत्य करती हैं और कहीं दरबार में नाचती-गाती हैं। उदाहरणार्थ 'बुद्धदेव' नाटक में अशान्त हृदय सिद्धार्थ के मनोरंजनार्थ गोपा की सखियां नृत्य करती हुयी गाती हैं।[1] किन्तु 'पूरण भक्त' नाटक में सहेलियां राजा शीलवान् के दरबार में नृत्य करती हैं।[2]

वेश्याओं के नृत्य की योजना सामाजिक नाटकों में किसी विलासी पात्र के माध्यम से हुई है। 'गोस्वामी तुलसीदास' नाटक में गुसाई पियूलाल की बैठक में वेश्यायें मदिरापान कराती हुई नृत्य करती व गाती हैं।[3] 'आदर्श हिन्दू विवाह' में भोंदूलाल की रईसी और विलासिता का संकेत करने के हेतु नेपथ्य से वेश्याओं के गाने-नाचने की ध्वनि आती रहती है—

नैना में नैना मिलाए जा बांके छैला हमार।[4]

'महात्मा ईसा' में सिंहासनासीन विलासी हेरोद के सम्मुख वेश्यायें नृत्य करती हुई गाती है—

छून छननन छननन छननन
चूमत नर-नर वर प्रभु वर-चरनन।[5]

स्त्री और पुरुषों के सम्मिलित नृत्य का प्रयोग कम ही नाटकों में हुआ है। है। ये नृत्य केवल आनन्दाधिक्य की संवेगावस्था का परिणाम है। उदाहरणार्थ 'आर्यमतमार्तण्ड' नाटक में कृष्ण की भक्ति में मग्न होकर स्त्री-पुरुषों का समूह नृत्य करने लगता है।[6] 'वेन चरित्र' में भी हर्षोल्लास प्रकट करने के लिए डोम-डोमनियों का समूह नाचने-गाने लगता है।[7]

केवल पुरुष-समूह के नृत्य का उल्लेख 'बनवीर नाटक' में उपलब्ध होता है। जिस समय उदयसिंह और पन्ना मार्ग में भटक रहे हैं और कोई भी व्यक्ति बनवीर के भय से उन्हें शरण नहीं देता। उस समय भील सरदार और कुछ भील बालक गाते हुए प्रवेश करते हैं तथा उन दोनों के सम्मुख नृत्य करते हैं।[8] इस प्रकार का नृत्य अन्य कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है।

१—बुद्धदेव : विश्वम्भर सहाय : प्र० अंक पृ० ४५।
२—पूरण भक्त : रामस्वरूप चतुर्वेदी : प्र० अंक, पृ० ४४।
३—गोस्वामी तुलसीदास : बद्रीनाथ भट्ट, तृ० अंक, पृ० १२०।
४—आदर्श हिन्दू विवाह : जीवानन्द शर्मा, पृ० ६७।
५—महात्मा ईसा : बेचन शर्मा उग्र : तृ० अंक, पृ० १४४।
६—आर्यमत मार्तण्ड : रुद्रदत्त शर्मा : पृ० ५६।
७—वेन चरित्र : बदरीनाथ भट्ट : द्वि० अंक, पृ० ९३।
८—बनवीर नाटक : गोपालराम गहमर : च० अंक, पृ० ११०।

एकाकी-नृत्य :

उपर्युक्त-समूह-नृत्यों के अतिरिक्त इस काल के नाटकों में किसी एक पात्र के ही नृत्य की योजना भी रही है यद्यपि एक-दो स्थलों पर ही एकाकी नृत्यों का प्रयोग हुआ है। ये एकाकी नृत्य स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के पात्र से सम्बन्धित हैं। स्त्री-पात्र में वेश्या, नर्तकी तथा मालिन ही मुख्यत: आती हैं। उदाहरणार्थ 'आदर्श हिन्दू विवाह' में भोंदूलाल की बैठक में वेश्या अकेले ही नृत्य करती और गाती है। यह नृत्य तीन पृथक्-पृथक् गीतों पर लगातार होता रहता है।[1]

एकाकी नृत्य के अन्तर्गत मालिन का नृत्य भी आता है। यह नृत्य नाटक 'हर्ष' में कान्यकुब्ज के मुख्य चतुष्पथ पर मालिन गाते हुए करती है तथा फूल बेचती जाती है—

लो कुसुम मनोहर ले लो।[2]

पुरुषों में एकाकी नृत्य का कोई महत्व नहीं दिया गया है। केवल 'भीम प्रतिज्ञा' में विदुर कृष्ण-भक्ति में तल्लीन होकर झूमते हुए नाचने लगते हैं।[3] यह किसी नृत्य-योजना के अन्तर्गत नहीं आता। केवल भावमग्नता की स्थिति में शारीरिक क्रियाओं का प्रदर्शन करना ही लेखक का लक्ष्य हो सकता है।

नवीन प्रयोग :

नृत्य के नवीन स्वरूप के प्रयोग की दृष्टि से केवल 'जयंत' नाटक उल्लेखनीय है। इस नाटक के अन्त में लेखक ने संकेत किया है कि राजकमल के सामने **'गर्वा नृत्य'** होता है।[4] गर्वा नृत्य गुजरात की ओर का बड़ा ही प्रसिद्ध और मनोरम लोक-नृत्य है जिसमें स्त्री-समूह वाद्यों तथा गीत की लय पर, नृत्य करता है। पूजा के घट लेकर नृत्य करती हुए स्त्रियों के पैरों की गति, ताल लय अत्यन्त सौम्य होती है।[5] इस नृत्य के साथ यद्यपि लेखक ने गीत खड़ी बोली का ही दिया है—

आओ आओ मधुर वसन्त।

इस कारण यह नृत्य पूर्णतया लोकनृत्य का स्वरूप उपस्थित नहीं कर सकता। अच्छा यही होता कि इस नृत्य के साथ गीत भी गुजरात की ही भाषा में रचित होता। इस नृत्य की विशेषता तभी स्पष्ट हो सकती थी।

रंगमंचीय नाटकों में नृत्य का प्रयोग हुआ तो अवश्य है, किन्तु नृत्य के स्वरूप प्रकार तथा प्रयोग की दृष्टि से इनमें कोई नवीनता नहीं है। तब नाटकों में केवल

१—आदर्श हिन्दू विवाह : जीवानन्द शर्मा : पृ० ६८-६९।

२—हर्ष : सेठ गोविन्ददास : तृ० अंक, पृ० १२७।

३—भीम-प्रतिज्ञा : जीवानन्द शर्मा, द्वि० अंक, पृ० १००।

४—जयन्त : रामनरेश त्रिपाठी : पृ० १२०।

५—भारत के लोकनृत्य : लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ० ४५-४६।

सामूहिक नृत्यों को ही महत्व दिया गया है, एकाकी अथवा युग्म नृत्य को नहीं। साहित्यिक नाटकों के समान इन नाटकों में भी पात्रों की दृष्टि से नृत्य के तीन वर्ग बनते हैं—

१—स्त्री-समूह-नृत्य
२—स्त्री-पुरुष-समूह-नृत्य
३—पुरुष-समूह-नृत्य

स्त्री-समूह-नृत्य में कोई नवीनता अथवा वैशिष्ट्य नहीं है। इनमें भी विविध स्त्री पात्र नृत्य करते हैं जिनके आधार पर स्त्री-समूह-नृत्य के निम्नांकित भेद हो सकते हैं-

१—सखियों के नृत्य
२—नर्तकियों के नृत्य
३—अप्सराओं के नृत्य
४—वेश्याओं के नृत्य

इस विभाजन से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार इस युग में एक ही परम्परा समान रूप से नाटकों में प्रवाहित हो रही थी। उपर्युक्त नृत्यों का प्रयोग विविध रंगमंचीय नाटकों में दृष्टव्य है।

सखियों के नृत्य की सर्वाधिक बहुलता इन नाटकों में पायी जाती है। 'नल-दमयन्ती' में पुष्कर के दरबार में सहेलियां नाचती गाती दीखती हैं।[1] नाटकारम्भ में भी उदास नल महाराज के मनोरंजनार्थ सहेलियां बाग में नृत्य करती हैं।[2] 'कृष्ण-सुदामा' नाटक में सत्यभामा और रुक्मिणी तथा कृष्ण झूले पर बैठकर चौपड खेलते हैं तब सखियों का समूह नृत्य करता तथा गाता है।[3] पुन: श्रीकृष्ण-भवन में जब कृष्ण और सुदामा बैठे होते हैं तो सखियां नृत्य करती हैं।[4] 'देवयानी' में राजा ययाति के दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए सखियां नृत्य करती हुई गाती हैं।[5] 'विपद-कसौटी नाटक में अयोध्या के राजमहल के दृश्य में रानी तथा महाराज मान्धाता के सम्मुख सखियों का नृत्य-गान होता है।[6] इसी प्रकार 'राजा शिवि' के दरबार में सखियां नृत्य करती तथा गाती हैं।[7] 'उषा-अनिरुद्ध' नाटक में भी शय्या पर लेटे हुए अनिरुद्ध के सम्मुख सहेलियां नाचती गाती हैं।[8]

१—नल-दमयन्ती : दुर्गाप्रसाद गुप्त : द्वि० अंक, पृ० ९४।
२—वही, प्र० अंक, पृ० २।
३—कृष्ण-सुदामा : जमुनादास मेहरा, द्वि० अंक, पृ० ६१।
४—कृष्ण-सुदामा : जमुनादास मेहरा, तृ० अंक, पृ० ७८।
५—देवयानी : वही, प्र० अंक, पृ० १४।
६—विपद कसौटी : वही, प्र० अंक, पृ० २२-२३।
७—राजा शिवि : बलदेव प्रसाद खरे, प्र० अंक, पृ० ४२।
८—उषा-अनिरुद्ध : आरजू : प्र० अंक, पृ० २२।

किया जाता था जिनमें प्राय: पात्र, देवता तथा नाटक के प्रसंग की चर्चा होती थी।[1] ध्रुपद को गाते समय अभिनय करना उसका विशेष गुण था। इसी के साथ-साथ नर्तन भी जोड़ दिया जाता था। ध्रुपदों में प्राय: ईश्वर-स्तुति, भक्ति, धार्मिक तत्व, पुराणों के विषय, उत्सव तथा राजाओं की प्रशंसा का वर्णन निहित होता था। तत्कालीन समय के जीवन एवं भावों की अभिव्यक्ति के रूप में ध्रुपद सर्वोत्तम साधन था।[2]

होरी :—यह प्रबन्ध श्रृंगार रस प्रधान होता है क्योंकि इसमें मुख्यत: राधा-कृष्ण की रासलीला का वर्णन होता है। इसमें मुख्यत: "धमार" ताल और प्राय: झूमरा तथा दीपचंदी तालों का प्रयोग होता है। प्रारम्भ में यह वृन्दावन और मथुरा के लोकगीत के प्रकार के रूप में था। होरी की शब्द-रचना उच्च कोटि की नहीं होती और न अर्थ-वैचित्र्य ही विशेष होता है। इसमें लय का विशेष ध्यान रखा जाता है। लय तथा प्रस्तुतीकरण के ढंग की दृष्टि से होरी और ध्रुपद में समानता होती है यद्यपि होरी में गमक का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है।

ख्याल :—प्राचीन काल में ख्याल को उच्च कोटि का नहीं माना जाता था। इसका जन्म ध्रुपद की पवित्रता, वैचित्र्य एवं गंभीरता की प्रतिक्रिया में हुआ। यह प्रबन्ध श्रृंगार रस प्रधान होता है। इसमें अधिकतर त्रिताल, तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा, आड़ा चौताल का प्रयोग होता है। ख्याल भाव-प्रधान, कल्पना प्रधान रचना है जिसमें नायक-नायिकाओं के भेद, उनके गुण आदि वर्णित होते हैं। यह भारतीय फारसी मिश्रित रचना है। इसमें गमक, अलंकार, द्रुततान आदि का विशेष महत्व है। गायक को इसमें अधिक स्वतंत्रता रहती है और श्रोताओं को भी विविध सौंदर्य का अनुभव हो सकता है।" ख्याल धारणा में काल्पनिक, व्यक्तीकरण में अलंकृत और प्रभावित करने में अत्यधिक रोमान्टिक होता है।[3] आजकल हिन्दुस्तानी संगीत में ख्याल का मुख्य स्थान है।

ठुमरी :—यह भी एक प्रकार का क्षुद्र गीत माना जाता है। नृत्य के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। ख्याल के समान इसका उद्देश्य भी जन-मन-रंजन ही है किन्तु ख्याल जहां एक रस में सीमित नहीं था वहां ठुमरी केवल श्रृंगार रस तक ही सीमित है। ठुमरी की रचना का मुख्य विपय प्रेम ही होता है। गायन क्रिया द्वारा

१—संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० २४२।

2—'The Dhrupad was the best vehicle to give expression to the spirit and life of the time. It was best suited to express eulogistic themes and noble sentiments.'

—The story of Indian Music. O. Gosvami, Page 127.

3—'The Khyal is imaginative in conception, decorative in execution and romantic in special.'

—The story of Indian Music. O. Gosvami, Page 127.

नर्तकियों के नृत्य की योजना दरबार का ऐश्वर्य उपस्थित करने के लिए ही हुई है। उदाहरणार्थ 'पहिली भूल' में राजा समरसिंह के दरबार में नर्तकियां नृत्य करती एवं गाती हैं।[1] इसी प्रकार 'महामाया' नाटक में दुर्गादास की विजय-प्राप्ति के उपलक्ष में सभा-भवन में नर्तकियाँ मंगल-गीत गाती हुई नाचती हैं।[2] 'परम भक्त प्रह्लाद' में राजा हिरण्यकश्यप के मंत्रणा-भवन में नर्तकियों के नृत्य-गान की योजना है।[3]

इसी प्रकार अप्सरायें भी कहीं राजदरबारों में और कहीं देवलोक में नृत्य करती हुई दिखायी गयी हैं। 'पांडव-प्रताप' नाटक के अन्त में महाराजा युधिष्ठिर को बधाई देते हुए, अप्सरायें दोनों ओर से नाचती गाती आती हैं।[4] 'सत्याग्रही प्रह्लाद' नाटक में इन्द्रलोक के दृश्य को अप्सराओं के नृत्य-गीत द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[5] 'विपद-कसौटी' में भी विष्णु-लोक के दृश्य को देवकन्याओं के नृत्य तथा गीत द्वारा उपस्थित किया गया है।[6] 'नाटक विश्वामित्र' में तपस्वी विश्वामित्र की समाधि भंग करने के उद्देश्य से मेनका तथा अन्य अप्सरायें नृत्य करती हुई गाती हैं।[7]

वेश्याओं के नृत्य की योजना उर्दू नाटकों में अधिक हुई है। हिन्दी-नाटकों में कहीं-कहीं ऐसे नृत्य मिल जाते हैं। यथा 'दौलत की दुनियां' में विलासी और रईस लक्ष्मीकांत के सामने वेश्यायें नाचती-गाती हैं।[8] विपद-कसौटी में गांधारराज के विक्षिप्त मन को शांत करने हेतु वेश्या नृत्य करती व गाती है।[9] 'जवानी की भूल' में भी इसी प्रकार विवाहोत्सव पर वेश्या-नृत्य का आयोजन है।[10]

रास–नृत्य :

स्त्री -पुरुष समूह का सम्मिलित नृत्य हमारे सामने रास-नृत्य के रूप में इन नाटकों में आता है। रास-नृत्य का सम्बन्ध कृष्ण, राधा तथा गोप-गोपियों के विशाल समूह से है। कृष्ण और राधा मध्य में रहते हैं तथा गोप-गोपियां चारो ओर मंडलाकार बनाकर उन्हें घेर लेते हैं तथा सब नृत्य करते हैं।[11] इस रास नृत्य का आयोजन

१—पहिली भूल : शिवरामदास गुप्त : द्वि० अंक, पृ० ६०।
२—महामाया : दुर्गाप्रसाद गुप्त।
३—परमभक्त प्रहलाद : राधेश्याम कथावाचक, प्र० अंक, पृ० २६।
४—पांडव-प्रताप : हरिदास माणिक : तृ० अंक, पृ० ११०।
५—सत्याग्रही प्रहलाद : बलदेव प्रसाद खरे : प्र० अंक, पृ० ७।
६—विपद-कसौटी : जमुनादास मेहरा : प्र० अंक, पृ० १४।
७—विश्वामित्र : वही, द्वि० अंक, पृ० ३९।
८—दौलत की दुनिया : शिवरामदास गुप्त : प्र० अंक, पृ० ८।
९—विपद-कसौटी : जमुनादास मेहरा : द्वि० अंक, पृ० ९४-९५।
१०—जवानी की भूल : वही, प्र० अंक, पृ० ५।
११—भारत के लोक-नृत्य : लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ० ४९-५०।

पं० राधेश्याम कथावाचक और आनन्द प्रसाद कपूर ने अपने नाटकों में किया है। 'कृष्णलीला' नाटक के अंत में कृष्ण-गोप-गोपियों के रास-नृत्य का उल्लेख किया गया है जिसके साथ गीत कृष्ण-भक्ति से संबंधित दिया गया है।[1] श्री कृष्णावतार में वृन्दा-वन में कृष्ण बहुरूपी होकर गोपियों के साथ रास-नृत्य करते हैं—

करत वृन्दावन रास रसिकवर।[2]

यह गीत नृत्य की दृष्टि से अत्यंत लयपूर्ण, भावपूर्ण तथा गीत से युक्त है।[3]

पुरुषों के समूह-नृत्य का कोई महत्व रंगमंचीय नाटकों में भी नहीं है। केवल 'मोरध्वज' नाटक में दन्तासुर तथा भक्षासुर की मृत्यु पर यमदूतगण आकर नाचते गाते हैं।[4] इस प्रकार का प्रयोग भारतेंदु के 'सत्य-हरिश्चंद्र' नाटक में भी देखा जा चुका है। इस प्रकार के नृत्य केवल उछल-कूद के लिए ही होते हैं।

नृत्य के इस सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि साहित्यिक और रंग-मंचीय नाटकों के नृत्य-प्रयोग में कोई अन्तर नहीं है। दोनों में ही स्त्री-वर्ग के सामूहिक नृत्यों को प्रमुखता दी गई तथा केवल पुरुष-वर्ग के समूह-नृत्य को नहीं। स्त्रियों के समूह-नृत्यों में भी एक जैसी परम्परा का पालन किया गया है। यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि बहुत प्रारम्भ में 'इन्दरसभा' में अप्सराओं और वेश्याओं के नृत्य का जिस रूप में प्रयोग हुआ था, वही परम्परा भारतेन्दु युग से प्रवाहित होती हुई प्रसाद-युग तक चली आ रही थी। प्रसाद और भारतेन्दु ने अवश्य अप्सरा और वेश्या-नृत्य का बहिष्कार कर सुधार करने का प्रयत्न किया किन्तु अन्य नाटककार पूर्व परम्परा के ही अनुयायी बने रहे।

इन नृत्यों से (गर्वा नृत्य और रास-नृत्य के अतिरिक्त) नृत्य की किसी विशेष प्रणाली का संकेत नहीं मिलता है। यही लगता है कि स्त्रियों का एक समूह पूर्व-योजना के अनुसार समय उपस्थित होने पर दो ओर से आकर गीत की पंक्ति के साथ साधारण हाव-भाव दिखाते हुए नाचने लगता है और चला जाता है।

जहां तक नृत्य-गीतों के विषयों का सम्बन्ध है, वह भी दोनों प्रकार के नाटकों में समान हैं। अप्सराओं, सखियों और दरबारी नर्तकियों के नृत्य-गीत समान ही हैं। कहीं इनके गीतों में राजा, देवता या ईश्वर, जिसके सामने भी वे नृत्य करती हैं, की प्रशंसा अथवा गुण-गान तथा स्तुति की गई है।

कहीं उपर्युक्त पात्र अपने नृत्यों में पात्र-विशेष का मनोरंजन करने के लिए गीत गाती हैं।

१—कृष्णलीला : आनन्दप्रसाद कपूर : पृ० १२९ :

२—श्रीकृष्णावतार : राधेश्याम कथावाचक, द्वि० अंक, दृ० ८, पृ० १४८।

३—देखिए, अध्याय ७।

४—मोरध्वज : जमुनादास मेहरा : प्र० अंक, पृ० ३७।

शास्त्रीय राग रागिनियां :

प्रसाद युग में शास्त्रीय संगीत का पर्याप्त प्रभाव हिन्दी नाटकों पर रहा है। क्योंकि उनसे पूर्व के नाटकों में शास्त्रीय राग-रागिनियों की अवाध धारा रही है। इस युग के साहित्यिक तथा रंगमंचीय नाटकों के संगीत में हमें निम्न शास्त्रीय रागों का प्रयोग उपलब्ध होता है—

जोगिया, असावरी, विहाग, देस, सोरठ, भैरवी, कलिंगड़ा, दरवारी कान्हरा सोहनी, काफी, मालकोंस, भैरव, धुनगारा, कान्हरा सहाना, सिन्धु असावरी, असावरी-भैरवी, भैरवी-खेमटा, पूर्वी-सारंग, जैजैवन्ती, हमीर, टांड़ी-असावरी, तिलंग, पीलू, मांझ-झंझौटी, सारंग बागेश्वरी, केदार, कामोदी, इमन, पूर्वी, वहार, आनन्दभैरवी, भूपाली, वसन्त, परज, विलावल, कान्हरा वागीस्वरी, सिन्धु-काफी, पस्तो, धनाश्री, सिन्ध-झंझौटी, खमाज, जिलहा, झंझौटी-काफी, शंकरा।

जहाँ तक शास्त्रीय रागों का सम्बन्ध है, यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक नाटककार ने प्रत्येक गीत के साथ शास्त्रीय राग-रागिनी को सम्वन्द्ध कर दिया हो। उदाहरणार्थ रंगमंचीय नाटकों में गीतों के साथ शास्त्रीय राग-रागिनियों के नाम आदि देने की आवश्यकता प्रायः नहीं समझी गयी है। गज़ल, भजन, कीर्तन, वधाई आदि गीत के प्रकार तो मिलते हैं किन्तु रागों का उनमें निर्देश नहीं किया गया है। फिर भी कुछ रंगमंचीय नाटकों में राग एवं ताल का उल्लेख मिल जाता है। उदाहरणार्ण हरिदास माणिक कृत 'संयोगिता हरण' और 'पांडव-प्रताप' के गीतों के साथ रागों तथा समय का उल्लेख किया गया है। 'महाभारत' (पं० माधव शुक्ल) के भी अधिकतर गीत रागवद्ध हैं। साहित्यिक नाटकों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। कुछ ही नाटकों में गीतों के साथ शास्त्रीय रागों के नाम दिए गए है। इनमें 'महात्मा ईसा', 'वैन चरित्र', 'रामाभिषेक नाटक', 'कृष्णापमान', 'कृष्णार्जुन युद्ध', 'राजमुकुट', 'आदर्श हिन्दू विवाह', 'कुरुवनदहन' नाटक इत्यादि उल्लेखनीय हैं। चूंकि रंगमंचीय नाटकों में दो-तीन नाटकों से ही शास्त्रीय रागों का सम्बन्ध है अतएव साहित्यिक नाटकों के साथ ही उनके रागों का परीक्षण भी किया जायगा।

हिन्दी नाटक-गीतों में राग, ऋतु और समय-सिद्धान्त :

भारतीय संगीताचार्यों के अनुसार प्रत्येक शास्त्रीय राग का समय के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है : उनकी दृष्टि में प्रत्येक राग को अपने नियत काल की अपेक्षा रहती हैं क्योंकि वह समय उस राग की प्रभावशीलता का वर्धक होता है।[१] संगीत-दर्पणकार का कथन है कि—

यथोक्तकाल एवैते गेयाः पूर्वविधानतः[२]।'

१—देखिये प्रथम अध्याय।

२—संगीत-दर्पण : दामोदर पंडित : पृ० ७६, श्लोक सं० २६।

इसी प्रकार कुछ राग मौसमी होते हैं, ऋतु-विशेष में उनको गाने पर तदनुकूल वातावरण की सृष्टि होती है।[1] इस युग के हिन्दी नाटककारों ने राग तथा समय एवं ऋतु के इस सम्बन्ध पर ध्यान तो दिया है किन्तु अधिकतर स्थलों पर गीतों के साथ राग निर्देश तो मिलता है, समय-निर्देश नहीं। न नाटक के अध्ययन अथवा संवादों द्वारा ही समय का अनुमान लगाया जा सकता है। अतएव कुछ ही नाटकों में रागों के साथ-साथ समय भी दे दिया गया है। कुछ विशिष्ट रागों के साथ दिया गया समय-विशेष निम्नलिखित है—

राग	समय
खम्माच	दोपहर
सारङ्ग	तीसरा पहर
श्यामकल्याण	संन्ध्या
विहाग	प्रभात से कुछ क्षण पूर्व, सायंकाल, प्रात:
परज	संध्या
माड़	प्रात:
झिझौटी	मध्यान्ह
वागेश्वरी	सूर्योदय के बाद
सोहनी	प्रात:
आसावरी	प्रभात
सोरठ	प्रात:
तिलककामोद	प्रात:, रात्रि
भूपाली	रात्रि
भैरव	प्रात:
भैरवी	सायं से पूर्व

उपर्युक्त तालिका से एक बात यह स्पष्ट होती है कि किसी राग विशेष के साथ एक ही समय-विशेष सब स्थलों पर नहीं दिया गया है वरन् वह भिन्न भी है उदाहरणार्थ भैरवीं राग के लिए सायं-पूर्व, मध्यान्ह और प्रभात तीनों कालों का उल्लेख किया गया है। यहां तक कि एक ही नाटककार ने एक ही नाटक के दो गीतों में यदि तिलककामोद राग को सम्वद्ध किया है तो दोनों स्थानों पर समय भिन्न है, एक स्थान पर प्रात: और दूसरे स्थान पर रात्रि। इससे यही ज्ञात होता है कि नाटककार इस विषय में अधिक सचेत नहीं थे। शास्त्रीय संगीत के समय-सिद्धान्त के आधार पर उपर्युक्त रागों के साथ दिए गए समय की परीक्षा करने पर ही यहां

१—देखिए प्रथम अध्याय।

ज्ञात होगा कि इन हिन्दी नाटककारों को भारतीय संगीत-सिद्धान्तों का कितना ज्ञान था ? अस्तु—

'अंजना' नाटक में राग खम्माच के साथ दोपहर का समय दिया गया है। जब कि संगीतशास्त्रानुसार राग 'खम्माच' का गायन-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर माना गया है। राग 'सारंग' का समय तृतीय प्रहर दिया गया जब कि 'सारंग राग दोपहर में गाया जाता है। चूंकि द्वितीय और तृतीत प्रहर में अधिक अंतर नहीं है अत: इसे दोष नहीं माना जा सकता। राग 'श्यामकल्याण' के साथ संध्या समय भी उपयुक्त ही है क्योंकि इसका गायन-समय रात्रि का प्रथम प्रहर (६-९ बजे तक) माना गया है। राग 'विहाग' के साथ तीन समय दिए गए हैं। तीनों ही शास्त्रीय दृष्टि से भ्रामक है क्योंकि विहाग रात्रिकालीन राग है। 'परज' राग के साथ संध्या के समय का उल्लेख भी अनुपयुक्त है क्योंकि शास्त्रों में 'परज' का गायन-समय रात्रि का चतुर्थ प्रहर (३-६ वजे तक) माना गया है। राग मांड चूंकि सर्वकालीन राग है अतएव उसके साथ प्रत्येक समय दिया जा सकता है। 'झिझौटी' राग के लिए शास्त्रा-विधि से रात्रि का दूसरा प्रहर माना गया है। अत: तालिका में प्रदत्त मध्यान्ह समय उपयुक्त नहीं है। 'वागेश्री' के साथ सूर्योदय के बाद का समय भी अनुपयुक्त है। शास्त्रानुसार इसका गायन-समय मध्य रात्रि है। 'सोहनी' राग के साथ प्रात: का समय उचित ही दिया गया है, क्योंकि संगीताचार्य भातखंडे ने उसका गायन-समय रात्रि का अन्तिम प्रहर माना है। 'असावरी' का समय नाटकान्तर्गत प्रभात दिया गया है जब कि शास्त्रविधि से यह राग दिन के द्वितीय प्रहर में गाया जाता है। 'सोरठ' के साथ प्रात: समय का उल्लेख भी अनुपयुक्त है क्योंकि इसका गायन-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर माना गया है। राग 'तिलककामोद' के साथ 'रामाभिषेक' नाटक में ही दो स्थलों पर नाटककार ने दो पृथक समयों का उल्लेख किया है जो कि उसके संगीत ज्ञान पर आक्षेप करता है। तिलककामोद राग शास्त्रीय दृष्टि से रात्रि के द्वितीय प्रहर में गाया जाता है। नाटककार ने एक स्थान पर रात्रि समय तो ठीक दिया है, किन्तु अन्य स्थल पर प्रात: समय उचित नहीं है। 'भूपाली' के साथ रात्रि समय का उल्लेख शास्त्रानुसार किया गया है। इसी प्रकार भैरव के साथ प्रात: निर्देश भी शास्त्रोपयुक्त है। भैरव प्रात:कालीन गेय राग माना गया है। 'अंजना' नाटक में 'भैरवी' राग के साथ सायं-पूर्व का उल्लेख भ्रामक है। भातखंडे ने इसका गायन समय प्रात: स्वीकार किया है, पं० दामोदर का भी यही मत है।[1]

इस प्रकार इस युग के नाटक गीतों में रागों के समय-सिद्धान्त का पालन सतर्कतापूर्वक नहीं किया गया है। उपर्युक्त राग तालिका में से केवल भैरव, भूपाली, सोहनी तथा श्यामकल्याण रागों के साथ तदनुकूल समय का उल्लेख किया गया है,

१—संगीत-दर्पण, पृ० ७५।

अन्यों में शास्त्रानुकूलता नहीं है। इसके अतिरिक्त अधिकतर नाटकों में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गीतों को राग-विशेष के साथ तो सम्बन्ध किया है किन्तु समय का उल्लेख नहीं किया है, जिन्होंने किया भी है वह उस कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं।

हिन्दी नाटक-गीतों में राग और रस-सिद्धान्त :

भारतीय संगीताचार्यों ने जिस प्रकार राग और समय का सम्बन्ध स्थापित किया उसी प्रकार गीत के भाव के अनुकूल उसी प्रकृति के राग की योजना भी की। कुछ उद्धरणों द्वारा यह देखने का प्रयास किया जायगा कि इस युग के हिन्दी नाटकों में गीत के भाव अथवा रस के अनुकूल प्रकृति वाले राग का चुनाव किया गया है अथवा नहीं ? अस्तु—

राग-जोगिया

हा हा ! क्यों स्वर्ग सिधारे
उठो उठो प्रीतम प्यारे।[1]

यह गीत करुण रस से युक्त है। संगीत-शास्त्र की दृष्टि से राग जोगिया भी करुण रस का राग है अतएव तदनुरूप भावों की उत्पत्ति करने में समर्थ है। इस दृष्टि से इस गीत के साथ जोगिया राग का चुनाव सूक्ष्मदर्शिता का परिचायक है। अन्य स्थल पर इसी राग में विपरीत भाव के गीत का गायन भी कराया गया है। 'संयोगिता-हरण' में राजा-स्तुति सम्बन्धी गीत राग जोगिया में बांधा गया है।

राग-भैरव

हे नरदेव दिवाकर ! कुलमणि ! भयो प्रात सुखकारी।
चहल पहल चहुं ओर नगर मंह डगर डगर है भारी॥[2]

राग भैरव प्रात:कालीन राग है तथा भक्ति, धार्मिक अथवा पवित्र वातावरण से इस राग का सम्बन्ध है। यह गंभीर प्रकृति का राग है तथा सम्मानित स्थानों पर ही गाया जाता है। इस गीत में भी प्रात:कालीन चित्रण है तथा राजा दशरथ की स्तुति की गयी है। अतएव यहां राग भैरव का प्रयोग उचित किया गया है।

राग झिझौटी

दिन दिन सौन्दर्य बढ़ै गोरी।
छिन छिन, पल पल, अंग अंग रस भीने, नित भ्रमर आनि करै चोरी।[3]

इस गीत में नायिका के शारीरिक सौन्दर्य की ओर संकेत किया गया है। श्रृंगारमय इस गीत के लिये राग-झिझौटी उपयुक्त है क्योंकि यह क्षुद्र प्रकृति का राग है और

१—रामाभिषेक : गंगाप्रसाद गुप्त, पं० अंक, पृ० ११८।
२—रामाभिषेक नाटक : तृ० अंक, पृ० ६५।
३—समय नाटक : काशीनाथ वर्मा, प्र० अंक, पृ० १२-१३।

क्षुद्र प्रकृति के सभी राग श्रृंगार रस के लिए उपयुक्त माने जाते हैं।

राग रामकली

आहुतियां भेजो प्राणों की
फिर उन्नत हो मां का भाल
वलिदेवी पथ रही निहार ।[1]

यह गीत देश में जागरण के हेतु गाया गया है। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' में अलख जगाने के लिए शक्तिसिंह गेरुआ वस्त्र पहनकर यह गीत गाता फिरता है। राग रामकली भी भक्ति, त्याग, उपासना, धर्म तथा ज्ञान इत्यादि से सम्बन्धित माना गया है। क्योंकि यह भैरव थाट से उत्पन्न होता हैं, और भैरव का सम्बन्ध भक्ति से माना गया है। बुद्धि को प्रेरित करने वाला यह राग इस गीत की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है।

राग शंकरा

जागो जागो हे अनजान !

× × ×

देख देख सोने की कड़ियां
मत समझो वैभव की लड़ियां
भोले वन्दी खोलो अंखियां
आखिर हैं ये भी हथकड़ियां
बंधन है जिनकी पहचान ॥[2]

यह गीत मुगल दरवार के राजपूत राजकवि पृथ्वीसिंह की रानी गाती है अत: इसमें मुगल ऐश्वर्य के वन्धन और लोभ का त्याग करने तथा अनजान और नादान वनकर उसके मोह में न पड़े रहने की चेतावनी दी गई है। इस प्रकार यह गीत प्रेरणा, जागृति एवं उत्साह का प्रेरक है। राग शंकरा वीर रस से सम्वन्धित माना गया है। अतएव उत्साह तथा प्रेरणामय भावों से युक्त इस गीत का शंकरा राग में गेय होना समुचित ही है।

राग मोहनी

चलत चलत हारे ।
विकट विपिन में दुःख के मारे ।[3]

यह गीत गायिका पन्ना के हृदय की व्यथा के कारण करुण प्रभाव से पूर्ण है। राग सोहनी मारवा अंग का राग है तथा इस राग में पूरिया की छाया दीखती है। मारवा और पूरिया दोनों ही राग हृदय पर करुण भावों का प्रभाव डालने में समर्थ होते हैं। अत: सोहनी में भी कोमल ऋषम तथा तीव्र मध्यम के प्रयोग के कारण हृदय-

---

१—प्रताप प्रतिज्ञा : जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, तृ० अंक, प्र० अंक, पृ० ९३-९४ ।
२—प्रताप-प्रतिज्ञा : द्वि० अंक, पृ० ४९ ।
३—राजमुकुट : गोविन्दवल्लभ पन्त : द्वि० अंक, पृ० ७६-७७ ।

द्रावकता का गुण रहता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त गीत के लिए यह राग भावानुकूल है। अन्य स्थलों पर विपरीत भाव का गीत भी राग सोहनी में वद्ध है। उदाहरणार्थ 'महाभारत नाटक' में मंगल-गीत सोहनी राग में गवाया गया है।[1]

राग मालकोस

तू ही कर वेड़ा पार ईश्वर।
तोरी महिमां अपार, जाने संसार, तू मददगार-ईश्वर।[2]

राम मालकोस भैरवी थाट से उत्पन्न तथा गम्भीर प्रकृति का अत्यन्त लोकप्रिय राग है। इस राग में शान्त, भक्ति तथा वीर रस प्रधान गीत गेय माने जाते हैं। वस्तुत: इस राग का महत्वपूर्ण गुण हृदय को द्रवित करना है। अतएव उपर्युक्त गीत के भाव की दृष्टि से यह राग उचित है।

इस प्रकार इस युग के नाटककारों ने कहीं-कहीं राग और रस के सम्बन्ध का ध्यान रक्खा है और कुछ स्थलों पर वे इसमें असफल भी रहे हैं। उदाहरणार्थ 'आदर्श हिन्दू विवाह' के अधिकतर गीतों के साथ जिन रागों का उल्लेख किया गया है। वह गीत के भाव की दृष्टि से संगीतशास्त्रानुसार उपयुक्त नहीं है। केवल राग-निर्देश की परम्परा को निभाया गया है। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' में युद्ध-पूर्व वलिदान-गीत को राग बागेश्वरी में गवाया गया है। गीत वीरोत्साह, उत्तेजना एवं युद्ध कालीन वातावरण से युक्त है जब कि राग बागेश्वरी करुण रस के लिए उपयुक्त माना जाता है। अतएव ऐसे गीत के लिए इस राग का चुनाव उचित नहीं है। सम्पूर्ण रूप में इस युग के नाटककारों ने शास्त्रीय रागों का प्रयोग तो किया है किन्तु समय और रस-सिद्धांत की दृष्टि से वे उसमें सर्वथा सफल नहीं हुए हैं। यूं यह आवश्यक नहीं है न कोई बन्धन ही है कि अमुक राग में अमुक राग का गीत ही गाया जाय तथा अमुक समय में ही गाया जाय। आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी हो सकता है। किन्तु यह अवश्य है कि कोई भी राग कथित समय पर अपनी प्रकृति के अनुकूल गीत के साथ ही गाया जाने पर अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है और उसी में संगीतकार की सफलता है। इस सिद्धान्त का व्यतिक्रम होने पर उस गीत का प्रभाव तो कम हो सकता है किन्तु उसे पूर्णत: दोषयुक्त नहीं कह सकते। यह भी मानना पड़ेगा कि सभी नाटककार संगीतज्ञ नहीं थे। अधिकतर नाटककारों ने संगीत की प्रचलित परम्परा का ही पालन किया है। साधारणत: गीत के साथ राग का उल्लेख करने की उनमें प्रवृत्ति प्रतीत होती है। संगीतकार के रूप में शास्त्रीय संगीत की उत्कृष्टता एवं उसकी मर्यादा को अपनाने का प्रयास नहीं किया गया है।

तालों का उल्लेख :

गीत के साथ ताल का प्रयोग प्राय: नाटककारों ने किया है किन्तु यह कोई

१—महाभारत नाटक : पं० माधव शुक्ल, प्र० अंक, पृ० १७।
२—शांजहां : रूपनारायण पांडे, द्वि० अंक, पृ० ४८।

अनिवार्य सिद्धान्त नहीं रहा है कि गीत के साथ ताल का उल्लेख किया ही जाय। कहीं-कहीं राग का नाम तो दिया गया है, किन्तु उसके साथ ताल-निर्देश नहीं है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि रंगमंचीय नाटकों में 'ताल' को कोई महत्व नहीं दिया गया है। केवल 'पांडव-प्रताप' और संयोगिता-हरण नाटकों में त्रिताल, ठेका कव्वाली और ठेका लावनी का उल्लेख हुआ है। साहित्यिक नाटकों में ये प्रयोग अधिक हुए हैं। जिनमें प्रमुख रूप से हमें इन तालों का उल्लेख प्राप्त होता है—

१—तीन ताल २—कहरवा ३—घमार ४—रूपक ५—ठेका पंजाबी ६—दीपचन्दी ७—झपताल ८—दादरा ९—एकताल १०—चौताल ११—आड़ा तेताला।

इन सभी तालों में से तीन ताल का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। 'आदर्श हिन्दू निवाह' के कई गीत त्रिताल में वद्ध हैं। राजमुकुट' के भी अधिकतर गीतों के साथ तीन ताल का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त 'रामाभिषेक नाटक' में पांच गीत तीन ताल में वद्ध हैं तथा 'मधुर-मिलन' नाटक के दो गीतों के साथ त्रिताल का प्रयोग हुआ है। चौताल का प्रयोग इसी नाटक के नान्दी पाठ 'ध्रुपद' के साथ हुआ है। ध्रुपद के साथ चौताल का प्रयोग शास्त्रीय विधि के अनुरूप है। साधारण चलताऊ और तुकवन्दी के गीत के साथ कहरवा ताल का प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ कृष्णापमान' में। इकताल और रूपक ताल का प्रयोग 'खांजहां' नाटक में हुआ है। दीपचन्दी ठेका, घमार, दादरा, और पंजावी ठेका का प्रयोग 'रामाभिषेक नाटक' में पृथक्-पृथक् गीतों के साथ हुआ है। तालों की दृष्टि से 'आदर्श हिन्दू विवाह' नाटक दृष्टव्य है। उपर्युक्त सभी तालें विविध गीतों और रागों के साथ इस नाटक में प्राप्य हैं।

प्रमुखत: तीन ताल का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। जिन गीतों के साथ उपर्युक्त तालों को दिया गया है, वे गीत उन्हीं तालों में सरलतापूर्वक गाए जा सकते हैं। परिशिष्ट में कुछ गीतों की स्वरलिपि दी गई हैं जिसमें इन्हीं रागों और तालों का प्रयोग किया गया है। यह स्वरलिपि ही इस वात का प्रमाण है कि अमुक गीत उसी ताल में (स्वयं नाटककार द्वारा दी गयी) सुन्दरतापूर्वक गाया जा सकता है। स्वरलिपि के अन्तर्गत ही तीन ताल, रूपक ताल, चौताल, एकताल, ठेका कव्वाली आदि की उपयुक्तता एवं उचित प्रयोग की सफलता को देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य गीतों को नाटककारों द्वारा दी गयी तालों में वांधकर देखने से स्पष्ट हो जायगा कि नाटकों में प्रयुक्त गीत के ऊपर जिस ताल का उल्लेख किया गया है वह गीत उसी ताल में गाया जा सकता है।

ताल धमार

नव घनश्याम रघुवर राम।
हैं विराजत अवध में छविधाम लोकललाम।[1]

१—रामाभिषेक नाटक : गंगाप्रसाद गुप्त : पृ० ७।

ताल धमार में चौदह मात्रायें होती हैं जो चार भागों में विभक्त होती हैं। ताल लिपि निम्नलिखित है—

मात्रायें	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
बोल	क	धि	ट	धि	ट	धा	ऽ	ग	ति	ट	ति	ट	ता	ऽ
ताल	×					२		०			३			

पद—'नव घनश्याम..................' की तालबद्ध रचना—

स्थायी

न	व	घ	न	श्या	ऽ	म	र	घु	व	र	रा	ऽ	म
×					२		०			३			

अन्तरा

हैं	वि	ऽ	रा	ऽ	ज	त	अ	व	ऽ	ध	ऽ	में	ऽ
					२		०			३			
छ	वि	ऽ	धा	ऽ	म	ऽ	लो	ऽ	क	ल	ऽ	ला	म
×					२		०			३			

ताल दीपचन्दी

चन्द छवि छाय अनन्द दियो।
शरद कमल आकाश सुहायो हेरत हरत हियो।।
फैलि चांदनी मनहुं चांदनी कवि अनुमान कियो।
नगर डगर भूधर सर सरिता घर घर-घेरि लियो।।[1]

ताल दीपचन्दी में भी चौदह मात्रायें होती हैं और इसके चार विभाग होते हैं। राग काफी के साथ इस ताल का प्रयोग अधिकतर होता है। उपर्युक्त पद में भी नाटककार ने राग काफी के साथ ही दीपचन्दी ताल का प्रयोग किया है। ताल-लिपि इस प्रकार है—

मात्रा—	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
बोल—	धा	धिं	ऽ	धा	गे	तिं	ऽ	ता	तिं	ऽ	धा	गे	धिं	ऽ
ताल—	×			२				०			३			

पद 'चन्द छवि————' की तालबद्ध रचना—

स्थायी

चं	ऽ	द	छ	वि	छा	य	अ	न	नन्द	दि	यो	ऽ	ऽ
×			२				०			३			
श	र	द	क	म	ल	ऽ	आ	का	ऽ	श	सु	हा	ऽ
×			२				०			३			
ऽ	यौ	ऽ	हे	ऽ	र	त	ह	र	त	हि	यो	ऽ	ऽ
×			२				०			३			

१—रामाभिषेक नाटक : गंगा प्रसाद गुप्त : पृ० ७।

शब्दों में निहित सूक्ष्मतम मानों को स्पष्ट करना ठुमरी का विशेष गुण है। यह अधिकतर गायक की कल्पना और उसके भाव-प्रदर्शन पर निर्भर प्रवन्ध है—इसमें नियमों का बन्धन नहीं है। यह प्रवन्ध विशुद्ध रूप में रोमांटिक है अत: इसके लिए भावपूर्ण हृदय, कल्पना-प्रधान मस्तिष्क और मधुरतम आवाज की अपेक्षा होती है। ठुमरी की तानें और भी अधिक सुन्दर होती हैं।। आजकल ठुमरी लोकप्रिय प्रवन्ध माना जाता है।

टप्पा :—यह भी शृंगार रस प्रधान होता है। अधिकतर प्रणय का वर्णन ही इसमें होता है। यह विलम्बित, तिलवाड़ा, झूमरा आदि तालों में गाया जाता है। इसके गीतों में शब्द बहुत कम होते हैं। प्राय: इसमें पंजाबी शब्द होते हैं। इसकी तानें छोटी और चपल होती हैं। सम्पूर्ण रूप से टप्पे का सौन्दर्य चपल गति में ही है। इसके प्रमुख रचयिता शोरी मियां माने जाते हैं।

दादरा और गजल :—दादरा की समानता ठुमरी से पर्याप्त रूप में है। बनावट और भाव की दृष्टि से दोनों समान हैं। इसमें भी शृंगार रस की प्रधानता होती है। किन्तु दादरा ताल का प्रयोग होता है। गज़ल के गीत उर्दू या फारसी में होते हैं। ये गीत मुख्यत: रूपक या दीपचन्दी ताल में गाए जाते हैं। इसका विषय शृंगार पूर्ण प्रेमोद्‌गार है। कुछ गज़ल-गीत उदात्त कल्पनाओं से युक्त भी होते हैं। ये गीत अर्थ-प्रधान अधिक होते हैं। उत्तर भारत में इनका अधिक प्रचार है।

तराना या तिल्लाना :—इसका प्रयोग गाने और नाचने में बहुत होता है। यह अत्यंत आकर्षक वस्तु है। स्वर और ताल का इसमें विशेष महत्व है—शब्द तथा अर्थ का नहीं। तराने में मुख्यानन्द राग व लयकारी का है। ये भिन्न-भिन्न तालों में गाए जाते हैं।

भजन-कीर्तन :—ये भक्ति-रस प्रधान चीजें हैं। इनकी रचना प्राय: सन्तों द्वारा हुई हैं और इनका प्रयोग ईश्वर-प्रार्थना के लिए किया जाता है। भजनों में अधिकतर करुण-रस ही पाया जाता है। सूर, तुलसी, मीराबाई आदि के भजन प्रसिद्ध हैं। राग, ताल इनके पद, शब्द और रस के अनुकूल रहते हैं। इनके शब्दों में सरलता और मधुरता होती है। धार्मिक दृष्टि से इनका पर्याप्त महत्व है।

कजरी, रसिया :—ये फारसी या उर्दू में बनायी गयी हैं। प्राय: एक ताल में इनकी रचना होती है। इनका प्रयोग नर्तन के साथ भी होता है। ये पीलू, झिलोटी, काफी आदि रागों में गायी जाती है। इनका स्वरूप पूर्णत: नियमित या नियंत्रित नहीं होता। अत: इनको 'धुन' कहना ही अधिक ठीक है।

उपर्युक्त सभी प्रवन्ध हमें किसी न किसी काल के नाटकों में प्राप्त होते हैं। नाटकों में उनका प्रयोग समय-समय पर किया गया है—विशेषतया भारतेन्दु कालीन नाटको में।

अन्तरा

फै ऽ लि	चां ऽ द नी	म न हुं	चां ऽ द नी
×	२	०	३
क ऽ वि	अ ऽ नु ऽ	मा ऽ न	कि यो ऽ ऽ
×	२	०	३
न ग र	ड ग र ऽ	भू ध र	स र स रि
×	२	०	३
ता घ र	घ ऽ र ऽ	घे ऽ र	लि यो ऽ ऽ
×	२	०	३

ताल चौताल

बोलत खग मधुर बैन। कुंजन मंह करहिं सैन।
वृक्षन पर जाय जाय करहिं नाद भारी।[1]

ताल चौताल में बारह मात्रायें होती हैं तथा उसके छः विभाग होते हैं।ताललिपि इस प्रकार है—

मात्रा—	१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०	११ १२
बोल—	धा धा	दिं ता	किट धा	दिं ता	तिट कत	गदि गान
ताल—	×	०	२	०	३	४

'बोलत खग————' की तालबद्ध रचना—

बो ऽ	ल त	ख ग	म धु	र बै	ऽ न
×	०	२	०	३	४
कुं ऽ	ज न	मं ह	क र	हिं सै	ऽ न
×	०	२	०	३	४
वृ ऽ	क्ष ऽ	न ऽ	प र	जा य	जा य
×	०	२	०	३	४
क र	हिं ऽ	ना ऽ	ऽ द	भा ऽ	री ऽ
×	०	२	०	३	४

१९३५ ई० से १९६० ई० तक के हिन्दी नाटकों में संगीत-संबंधी सामग्री :

इस युग के हिन्दी नाटकों में प्रयुक्त संगीत के विषय में पर्याप्त भ्रम फैला हुआ है। विद्वानों का यह अनुमान है कि इनमें संगीत की विविधता है ही नहीं। वस्तुतः यह अवश्य है कि इससे पूर्व संगीत नाटकों में भरा रहता था, जब कि इस युग के नाटकों में संगीत की उतनी भरमार नहीं है, यद्यपि उसका प्रयोग अवश्य हुआ हैं। सत्य तो यह है कि संगीत की दृष्टि से यह युग अधिक सचेष्ट एवं सफल रहा है। गीत के नये-नये प्रकार, नृत्य की नवीन योजनायें, वाद्य-वादन के प्रति सूक्ष्म

१—पांडव-प्रताप : हरिदास माणिक : तृ० अङ्क, पृ० ९७।

दृष्टिकोण, तथा नाटकों में संगीत के साथ-साथ लोक-संगीत की प्रतिष्ठा इस युग के नाटकों का वैशिष्ट्य है। संगीत के स्वरूप की जो अनेकरूपता, शास्त्रीयता एवं स्वाभाविक सौन्दर्य इस युग के नाटकों में प्राप्य है वह हिन्दी नाटक साहित्य को एक नई देन है।

गीत के प्रकार :

गीत के अनेक प्रकार इस युग के नाटकों में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ—

बधाई, लोरी, भजन, कीर्तन, प्रार्थना, प्रभाती, सावन, रसिया, कजरी, चैता, कोरस, गजल, आरती, होली, ठुमरी, बिरहा।

इनके अतिरिक्त किसी मुख्य स्थान की सभ्यता, संस्कृति से सम्बन्धित लोकगीत भी हैं जो कथानक की अनुरूपता का ध्यान रखते हुए प्रयुक्त किए गए हैं, उदाहरणार्थ—

१—मालवी लोकगीत

२—बुन्देलखंडी लोकगीत

३—विन्ध्याचल में प्रचलित लोकगीत

इस युग के नाटकों की सर्वप्रथम विशेषता ये लोकगीत ही हैं। इसके पूर्व इनको अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया गया था। वृन्दावनलाल वर्मा ने लोकगीतों को बहुत प्रोत्साहन दिया है तथा बड़े ही सुअवसर पर उनका प्रयोग करके नाटक की स्वाभाविकता एवं आकर्षण को द्विगुणित कर दिया है। उनके नाटक 'पूर्व की ओर', 'राखी की लाज', 'झांसी की रानी', 'ललित विक्रम', 'नीलकंठ', 'हंस-मयूर' आदि में सुन्दर लोकगीत हैं।

मालवी लोकगीत

ऊँचा हो आलीजा तुम्हारा ओवरा
नीची बंधाव पटसाल
राजरा मेला में सारस रमी रया,
हमारी बोलई सारसनी बोले,
आली जा बुलाए सारस दौड़ी दौड़ी जाय।[1]

बुन्देलखंडी लोकगीत

टूटी रे मड़ैया बूंदें उनके छावन वारे विदेस
काहे कीं कागद करों, लाहे की मसि दोत
काहे की कलमें करों लिख दंउ दो दस बोल
अंचल चीर कागद करों नैनन की मसि दोत
छिगुरी की कलमें करों, लिख दंउ दो दस बोल।[2]

१—नीलकंठ : वृन्दावनलाल वर्मा, प्र० अंक, पृ० २८-२९।

२—वही, पृ० २९।

विन्ध्यखंड के प्रचलित गीत

सावन महिना नियरे आए वेटा, वहिन तुम्हारी परदेस हो
सबकी वहिनें खोंटे कजरिया, तुम्हरी विसूरें परदेस हो
सबकी वहिनें झूलें हिंडोला, तुम्हरी विसूरें परदेश हो
कहे माता वहिनियां लिवा ल्याओ वेटा, वहिन लिवावन जात हो ।[1]

इन लोकगीतों को रखने के उद्देश्य के विषय में स्वयं वर्मा जी का कथन है—'कजरियों इत्यादि के जो गीत विन्ध्यखंड में प्रचलित हैं उनको मैंने ज्यों का त्यों रख दिया है। उनमें जो सजातीयता हमारी ग्रामीण जनता पाती है वह मेरे-मैं छन्दकार हूं भी नहीं—या किसी और के बनाये गीतों में शायद जनता न पाती।'[2] इसी प्रकार 'नील कंठ' नाटक में लोकगीत के विषय में उन्होंने अपने एक पात्र से जो कुछ कहलाया है वह उन्हीं के विचारों की अभिव्यक्ति है। हरनाथ नामक पात्र एक स्थान पर कहता है-

लोकगीतों का उपयोग ऊँचे दर्जे की गायकी में होना इस युग को एक चुनौती सी है। इन गीतों का एक महत्व और है—इनका व्यापक प्रचार होने से प्रान्तीयता की दीवारें टूट जायेंगी।[3] संभवत: वृन्दावनलाल वर्मा का लोकगीत तथा लोक संस्कृति के प्रति यह दृष्टिकोण देखकर ही डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने लिखा है कि 'गीतों के स्थान पर लोकगीतों का प्रयोग उनके लोक-संस्कृति के प्रति अनुराग का सूचक है।'[4]

डा० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'अंधा कुआं' में नाटक के वातावरण के उपयुक्त भोजपुरी बोली में रचित दो सुन्दर लोकगीत हैं—

गगरी पै कगवा अरे बोलन लागे
छोटे नेबुलवा के पातर डरिया
पोखरा में हंस बोलें, तलरी में कुलरा
दिरहा की रतियाँ अरे सालन लागे।

एक स्त्री चक्की चलाते हुए गाती है—

हमरे ववैयां जू के सात वेटोना रे ना,
रामा सातों के चंदा वहिनियां रे ना
सातो भइयवे चले परदेशवा रे ना
रामा चन्दा पकरि रोवे गोड़वा रे ना।

इस गीत में एक कथा का पूर्ण वर्णन किया गया है जो नाटक के स्त्री-पात्र के जीवन से मिलती-जुलती होने के कारण अद्‌भुत नाटकीयता की सृष्टि करती है।

१—राखी की लाज : वृन्दावनलाल वर्मा : प्र० अंक, पृ० २६।
२—वही, 'परिचय', पृ० ५।
३—नीलकंठ : वृन्दावनलाल वर्मा, प्र० अंक, पृ० ३०।
४—वृन्दावनलाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व : डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' पृ० २०९।

बधाई-गीत तो प्राय: सभी ऐतिहासिक नाटकों में उपलब्ध होते हैं। कभी राजा के अभिषेक के समय, कभी पुत्र-जन्म पर तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर। जन्मोत्सव सम्बन्धी गीत अधिकतर प्रयुक्त किये गये हैं। 'मुक्ति दूत' नाटक में राहुल के जन्म पर स्त्रियां मंगल-गान करती हैं—

आओ री मिलि मंगल गायें

'अजंता' नाटक में जन्मोत्सव सम्बन्धी मंगल-गीत हैं। इसी प्रकार 'आजादी के बाद' नाटक के द्वितीय अंक में नीला की वर्षगांठ पर जन्मदिवस मनाते हुए सब सम्बन्धी गाते हैं—

तुम जियो हजारों साल रे।

'लोरी' का प्रयोग अधिक नहीं मिलता किन्तु उदयशंकर भट्ट ने 'मुक्तिदूत' नाटक में अतीव मनोहर लोरी की रचना की है। बालक राहुल को सुलाने के लिये सखियां वीणा बजाकर लोरी गाती हैं—

सो जा सो जा राजदुलारे, सो जा सो जा।
उल्लास विकल
दीपक केवल
तेरे स्मय से हो मुद विह्वल
भर छवि ज्योत्स्ना का अंगराग,
जलसा सपनों के पी पराग,
तू अमर परी की गोदी का श्रृंगार सलोना हो जा।

हरिकृष्ण प्रेमी के 'ममता' नाटक में प्रयुक्त 'लोरी' हृदय में ममता की हिलोर उठाने में समर्थ है—

'सो जा मेरे राजदुलारे!

नाटक 'सत्य की खोज' में भी ऐसी ही एक सुन्दर लोरी है।[1]

'भजन' और 'कीर्तन' का प्रयोग इस युग में हुआ है किन्तु पहले की अपेक्षा बहुत कम, क्योंकि पौराणिक नाटकों के स्थान पर इस युग में ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना अधिक हुई है। राधिकारमण सिंह कृत 'धर्म की धुरी' में सूर के पद तथा अन्य भक्ति-प्रधान गीत हैं। 'पूर्व की ओर' (वृन्दावन लाल वर्मा), 'अंगूर की बेटी' (गोविन्दवल्लभ पन्त) 'प्रलय से पहले' (ज्वालाप्रसाद सिंहल) में कीर्तन का प्रयोग किया गया है। ईश्वर-स्तुति अथवा प्रार्थना कई नाटकों में उपलब्ध होती है। 'आहुति', 'प्रतिशोध', 'उद्धार', तथा 'शिवा-साधना' (हरिकृष्ण प्रेमी), 'अन्त:पुर का छिद्र और 'अंगूर की बेटी' (गोविन्दवल्लभ पन्त), 'पग ध्वनि' (चतुरसेन शास्त्री), 'भिक्षु से गृहस्थ, गृहस्थ से भिक्षु', 'महात्मा गांधी', 'अशोक' तथा 'विश्व प्रेम' (सेठ गोविन्ददास) 'जय-पराजय' (उपेन्द्रनाथ अश्क), 'तुलसीदास'

१—सत्य की खोज : श्रीनिवास श्रीपति : पृ० ५५ :

(श्रीराम शर्मा), 'डांडी-यात्रा' (मोहनलाल महतो वियोगी), 'गंगा का बेटा' (बेचन शर्मा उग्र), 'शबरी' और 'जय सोमनाथ' (सीताराम चतुर्वेदी), 'रेवा' (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) एवं 'रामानुज' (डा० रागेय राघव) इत्यादि नाटकों में प्रार्थना व स्तुति प्रयुक्त हुई है। कहीं शिव-स्तुति है, कहीं दुर्गा स्तुति, कहीं काली भवानी की पूजा, कहीं राम-प्रार्थना, कहीं गंगा-स्तुति और कहीं ईश बन्दना के रूप में इन नाटकों के पात्र आपत्तिलाल में ईश्वर का ही आश्रय लेते हैं। मन्दिर आदि का दृश्य एवं वातावरण उपस्थित करने के लिये भी प्रार्थना व स्तुति रखी गयी हैं। कहीं-कहीं युद्ध में जाने से पूर्व दुर्गा, काली तथा शिव-स्तुति गायी गयी है। इस प्रकार स्तुति का इस युग में विशेष महत्व रहा है।

'प्रभाती' का प्रयोग वृन्दावनलाल वर्मा के नाटक 'मंगलसूत्र' में उपलब्ध होता है। तृतीय अंक में यह प्रभात-कालीन गीत प्रभाती राग में ही गवाया गया है।

जागो उठो, चलो, चलो।
नभ में मन्त्रोच्चार किए,
उषा ने पट खोल दिए,
किरणों ने पथ खोज लिए,
करवटें न लो, न लो।

सावन, रसिया, कजरी और चैता का प्रयोग कुछ ही नाटकों में किया गया हैं। 'राखी की लाज' में झूले पर लड़कियां सावन गाती हैं—

एरी सखी सैंया जोगी हो गए
हो गए मोरे महाराज, एरी सखी.........
सावन की निशि अंधियारी औ रिमझिम बरसत मेंह
भूम हरी सब हो गयी रे बन में कूकत मोर।

'आवारा' में मिर्जापुर की कजरी और बनारस के चैता के अनुपम उदाहरण है। इस नाटक में चन्द्रसेन नामक पात्र संगीत-प्रेमी है जिसका कथन है कि 'लय या तान का नहीं, मैं तो सुर का कायल हूँ। संगीत विद्या में सबसे जरूरी सुर हैं। सुर मीठा हो तो गालियां भी मजेदार मालूम पड़ें।'[1] यही पात्र इसी पृष्ठ पर अपनी संगीत कला का परिचय देता हुआ पहले बनारस के चैता में स्वरों के माधुर्य का वर्णन करते हुये गाता है—

फूल रे फूलत संकुचायें हो रामा ! झर मुरझायें।
खोल न पायें मुख कलिकायें देख न पायें जग-सुषमायें।
आयें हा, विपरीत हवायें—झर मुरझायें।

इसी के बाद चन्द्रसेन मिर्जापुर की कजरी की मौसमी धुन सुनाता है—

१—आवारा : बेचन शर्मा उग्र, प्र० अंक, पृ० ३३।

तुम तो बड़े सयाने माने दिलवर दिल की जानों जो
टूटे हृदय कमल के तागे कसकर खीचो तानों जो ।

'उग्र' के अन्य नाटक 'चुम्बन' में होली, विरहा और रसिया का प्रयोग हुआ है। एक अहीर 'बिरहा' गाता निकलता है—

गैया जिनके राम देवैया भूइला देया घास रे
बड़े प्रेम से गोरस दुहिके फिर भी गोप उदास रे
काहे ? कारन हमसे सुन लाऊ तो हमरे पास रे
कठिन महाजन के रिनियां हम कैसे बने सुदास रे
बुधवा दौलत घर जात।[1]

इसी नाटक में ग्रामीण जन होली के अवसर पर रसिया गाते हैं—

केशरिया रंग रंगा चोला
मनमोहन की रास रसीली
ललचाये जियरा भोला ।[2]

'गजल' का प्रयोग इधर के नाटकों में वहुत ही कम है, : 'अन्नदाता' नाटक में यथावसर गालिब की गजलों का उपयोग किया गया है ।[3] 'चुम्बन' नाटक में भी एक गजल इकवाल साहब की हैं—सारे जहां में अच्छा, हिन्दोस्तां हमारा ।[4] सीताराम चतुर्वेदी कृत 'अनारकली' में भी दो गजलें हैं[5] क्योंकि इस नाटक का वातावरण ही तदनुरूप है । उसके अन्य गीतों पर भी उर्दू का प्रभाव है तथा श्रृंगारपूर्ण गीत ही अधिक हैं ।

'अनारकली' और विश्वास' नाटक में ठुमरी का गायन प्राप्य है : 'विश्वास में एक मस्त गवैया दयाशंकर लोगों की शुष्क बातचीत से ऊबकर बनारसी ठुमरी राग काफी में गाता है ।[6] 'अनारकली' में हमीदा सलीम को मद्यपान कराती हुई ठुमरी गाती है—

निंदिया गयी रे पिया मोरी आज
निठुर पिया रे, जाओ जाओ जाओ
जहां रैन गवाई, पिया मोरी आज ।

पुन: अकबर की मजलिस में हसीनाबाई ठुमरी गाती हुई नाचती है ।[7]

१—चुम्बन : बेचन शर्मा उग्र : प्र० अंक, पृ० ३३ ।
२—वही, पृ० ९५ ।
३—अन्नदाता : माधव महराज महान : बेचन शर्मा उग्र, प्र० अंक, पृ० १३ ।
४—चुम्बन : उग्र : प्र० अंक, पृ० १७—१८ ।
५—अनारकली : सीताराम चतुर्वेदी : प्र० अंक, पृ० १७ ।
६—विश्वास : सीताराम चतुर्वेदी : प्रथम अंक पृष्ठ १७ ।
७—वही, द्वि० अंक, पृ० ८८ ।

इस प्रकार गीत प्रकार की दृष्टि से इस युग के नाटकों में पूर्व युग की अपेक्षा गज़ल का प्रयोग बहुत कम है। लावनी प्रयुक्त ही नहीं हुई है, किन्तु इनके स्थान पर लोकगीतों की प्रतिष्ठा निश्चय ही सराहनीय है जिनके द्वारा नाटक-संगीत लोक-संस्कृति के अधिक निकट आकर स्वाभाविक, सरस और आकर्षक बन सका है।

वाद्य-संगीत :

पूर्व नाटकों की अपेक्षा इस युग के नाटकों में वाद्य-संगीत के प्रयोग के प्रति अधिक सचेतता एवं प्रयास का दर्शन होता है, क्योंकि इस युग के नाटककारों ने केवल गीत पक्ष को ही प्रधानता न देकर वाद्य-संगीत के महत्व को भी स्वीकार किया है और उसे गीत के समानान्तर लाने का प्रयास किया है। अधिकतर नाटकों में विविध वाद्ययंत्रों की संगीतमयी ध्वनि गूंजती है। विवेचन की दृष्टि से मुख्य निम्न-लिखित वाद्य-यंत्रों का प्रयोग इस युग के नाटकों में हुआ है—

१—शहनाई, २—एकतारा, ३—वीणा, ४—तंबूरा, ५—सितार, ६—सारंगी, ७—बीन, ८—मृदंग, ९—जलतरंग, १०—वाइलिन, ११—गिटार, १२—प्यानो, १३—तुम्बुरु, १४—स्वरमंडल, १५—वाद्य-तार, १६—बांसुरी, १७—हारमोनियम, १८—तबला, १९—ढोल, २०—झांझ, २१—डफ, २२—मंजीर, २३—खंजड़ी, २४—वल्लरी, २५—रण-वाद्य।

इन वाद्यों के नामकरण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि वाद्य-प्रयोग पर आधुनिकता की छाप है जो इस काल के नाटकों को इस क्षेत्र में पूर्व नाटकों से प्रथक कर देती है। वाइलिन, जलतरंग, स्वर-मंडल- वल्लरी के साथ-साथ गिटार और प्यानों का प्रयोग नवीनता का सूचक है। विशेषकर गिटार और प्यानों आधुनिक युग की मांग तथा फिल्म के प्रभाव एवं पाश्चात्य प्रभाव को स्पष्ट करते हैं।

उपर्युक्त सभी वाद्यों का प्रयोग कई रूपों में नाटकों में हुआ है, उदाहरणार्थ—

१—गीत के साथ वाद्यों का वादन

२—रंगमंच पर वाद्यों का स्वतन्त्र वादन

३—पृष्ठभूमि से स्वतन्त्र वाद्य-वादन।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीत के गायन में वाद्यों का साधन रूप में वादन अधिकतर स्थलों पर हुआ है। इसके लिए विविध नाटकों में यथावसर आवश्यक निर्देश दिए गए हैं। स्पष्टीकरण के लिये नाटकों में इस प्रकार के प्रयोग दृष्टव्य होंगे। उदाहरणार्थ हारमोनियम पर गीत गाने की विशेषतया भजन गाने की पुरानी परम्परा है। 'धर्म की धुरी' में सूर का पद तथा अन्य भक्ति-गान हारमोनियम और तबले की संगत पर गाए जाते हैं।

प्यानो का प्रयोग आधुनिकतम नाटककार विनोद रस्तोगी ने 'आजादी के बाद' नाटक के अन्तर्गत किया है। नाटक के प्रथम अंक में ही सुरेश नामक पात्र कुछ क्षण कमरे में इधर-उधर टहलकर प्यानों बजाने लगता है और गाता है—

आज क्यों उल्लास मन में...........।

शीला के प्रति आकर्षण के कारण उल्लासपूर्ण होकर हर्षमय स्थिति में प्यानों बजाना और गाना जहां स्वाभाविक अभिनय को निखारता है वहां फिल्म टेकनीक के प्रभाव को भी स्पष्ट करता है।

'जलतरंग' का प्रयोग 'अन्नदाता' 'माधव महाराज महान्' नाटक में किया गया है। एक गायिका ग्वालियर-राज्य की प्रशंसा में जलतरंग, सारंगी और मृदंग पर उत्साहपूर्ण गीत गाती है।[१]

'पूर्व की ओर' के प्रथम अंक में ही बुद्ध-मूर्ति के सामने रात्रि के समय वीणा, मृदंग, मंजीर, तुम्बुरु और स्वर मण्डल के साथ कीर्तन होता है। 'फूलों की बोली' की नायिका कामिनी कला एवं सौन्दर्य की उपासक है। कामिनी तम्बूरे पर गाती है और माया मंजीरे बजाती है। 'हंस-मयूर' में संध्या-पूर्व नागरिकों का समूह वीणा, मंजीर, मृदङ्ग के साथ गाता हुआ निकलता है। पुनः अन्य दृश्य में उज्जैन के मन्दिर का दृश्य दिखाया गया है तथा नेपथ्य से वीणा, स्वर-मंडल, बांसुरी और मंजीर के साथ गायन होता है।[२] 'ललित विक्रम' नाटक के अन्त में लेखक का निर्देश है कि नेपथ्य से ग्रामीणों का गान वीणा, मृदंग, नादा और झांझ के साथ विलम्बित लय से आरम्भ होता है और मध्य लय से समाप्त होता है।[३]

'अजन्ता' नाटक में रात्रि के द्वितीय प्रहर में नायिका वीणा बजाकर गाती है।[४] 'यशस्वी भोज' में राजा भोज वीणा बजाते हैं और उनकी प्रिया ज्योत्सना गाती है। 'सिद्धार्थ बुद्ध' में परित्यक्ता गोपा के लिए दासी मल्लिका वीणा के तार मिलाकर गाती है। 'सुभद्रा परिणय' नाटक में सुभद्रा की सखी सत्या वीणा बजाती हुई गाती है। 'सोमनाथ' में भी वाक्पति की पत्नी सुषमा वीणा पर गीत गाती है। इसके अतिरिक्त समाधि 'सेनापति : पुष्यमित्र', सांपों की सृष्टि' 'शक-विजय' 'नारद की वीणा' 'मुक्तिदूत' तथा 'विषपान' नाटकों में भी वीणा वाद्य गीत गाने का साधन बनकर प्रयुक्त हुआ है।

सितार के साथ गायन भी कुछ नाटकों में कराया गया है। 'आजादी के बाद' में शीला सितार बजाती हुई गाती है। 'जय-पराजय' में सितार और अन्य साजों के साथ गायिका कारमली का गायन होता है। 'कवि भारतेन्दु' में नायिका माधवी सितार बजाकर गाती है। 'छाया' नाटक में भी माया का सितार पर गायन है।

तम्बूरे या तानपुरे का प्रयोग गीत के साथ प्रायः हुआ है। नाटक 'शारदीया' में एक मुसलमान युवती तम्बूरे पर सूर का पद गाती है। 'वीरांगना लक्ष्मीबाई' में

१—अन्नदाता : माधवमहाराज महान : 'उग्र', द्वि० अंक, पृ० ७३।

२—हंसमयूर पृ० ११।

३—ललित विक्रम : वही, च० अंक, पृ० १२८।

४—अजन्ता : सीताराम चतुर्वेदी : द्वि० अंक, पृ० ५८।

मोतीबाई मन्दिर में तम्बूरे पर भजन गाती है। 'अन्नदाता' में माधव महाराज का तम्बूरे पर गायन है। 'अनारकली' की नादिरा तम्बूरे पर गाती है। इसी प्रकार 'अशोक' नाटक में असंधिमित्रा के गीत तम्बूरे की ध्वनि के साथ ही गाएं जाते हैं।

वाद्यों का रंगमंच पर स्वतन्त्र-वादन इस युग की नवीन चेष्टा है। चूँकि इस काल के नाटकों में चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व तथा अभिनय तत्व को प्रधानता दी गयी है अत: कहीं-कहीं पात्र-विशेष द्वारा वाद्य-वादन कराकर उसकी मानसिक स्थिति को अभिव्यक्ति किया गया है।

'वसन्त' नाटक में तबला-वादन स्वतन्त्र रूप में कराया गया है। एक बेकार शिक्षित युवक निर्मल कुमार ड्राइंग रूम में बैठा तबला बजाता है। तबले पर तीन-ताल का उल्लेख किया गया है जिसके बोल भी दिए गए हैं।[1] 'चक्रव्यूह' में अभिमन्यु के युद्ध में जाने पर मानसिक संघर्ष से पीड़ित उत्तरा वीणा बजाने लगती है।[2] इसी प्रकार 'राखी की लाज' नाटक का अन्त शहनाई-वादन से होता है क्योंकि अन्त में विवाह का दृश्य है। 'कीर्तिस्तम्भ' में संगीतज्ञ श्रृंगार देवी का वीणा-वादन है। 'गौतम नन्द' नाटक में राजकुमारिका सुन्दरिका संगीतप्रिय, भावुक और वीणा बजाने में दक्ष है। अत: उसका वीणा-वादन कराया गया है। 'पवनंजय में भी संगीतशास्त्र में प्रवीण अंजना वीणा पर आरोह-अवरोह करती है। इस प्रकार मुख्यत: यह स्वतन्त्र-वादन पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटनार्थ प्रयुक्त हुआ है। यह अवश्य है कि अपेक्षाकृत ऐसे प्रयोग कम संख्या में हुए हैं।

इस युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं विशिष्टयोजना है नाटकों में पार्श्व-संगीत के प्रयोग एवं निर्देश की। यथावसर नाटकों में कथानक एवं वातवरण का ध्यान रखते हुए नेपथ्य से वाद्य-वादन का संकेत किया गया है जिसके द्वारा नाटक-कारों के संगीत-ज्ञान की परीक्षा सरलतापूर्वक की जा सकती है। उदाहरणार्थ 'आजादी के बाद' में करुण-दृश्य के लिए करुण संगीत-ध्वनि का निर्देश है और जब वातावरण आनन्दमय है तब लेखक आनन्दसूचक संगीत-ध्वनि का संकेत करता है।[3] 'स्वर्गभूमि का यात्री' नाटक में सातवें अंक के द्वितीय दृश्य में युधिष्ठिर स्वर्ग-पथ पर जा रहे हैं इसका आभास लेखक ने नेपथ्य में वीणा मृदंग, और वल्लरी पर इमन की धुन के द्वारा दिया है। 'विरूढ़क' में प्रथम अंक में पूर्णिका जब नृत्य करती है तो लेखक रांगेय राघव का संकेत है कि 'नूपुर नहीं है, नेपथ्य में हल्की सी वाद्य-ध्वनि होती रहती है। 'जय सोमनाथ' में सीताराम चतुर्वेदी ने प्रात: सन्ध्या, रात्रि आदि समय-परिवर्तन के लिए वाद्य का प्रयोग किया है जो सराहनीय है।

१—वसन्त : सीताराम चतुर्वेदी : पृ० २।
२—चक्रव्यूह : लक्ष्मीनारायण मिश्र : प्र० अंक, पृ० ४८।
३—आजादी के बाद : विनोद रस्तोगी : पृ० ५८।

प्रथम अंक में संध्या-समय की सूचना वे इस प्रकार देते हैं—'नेपथ्य में श्याम-कल्याण राग में सन्ध्या का वाद्य सुनायी पड़ता है।' पुन: द्वितीयांक में प्रातःकाल का दृश्य दिखाने के लिए 'वह नेपथ्य में प्रात:काल की रागिनी बजाने का संकेत देते हैं। इसी प्रकार के अन्य स्थल पर बकुला देवी गज़नी के आने तथा मूर्ति-विध्वंस करने के विचार से विक्षिप्त सी होकर भगवान से प्रार्थना करती है—'नेपथ्य से उस समय 'शंकरा राग' में करुण वंशी बज रही है। इसी प्रकार 'सेनापति पुष्यमित्र' के तृतीयांक के प्रथम दृश्य में वह लिखते हैं—'भैरव राग में बजते हुये वाद्य प्रात:काल की सूचना दे रहे हैं। 'नीलकण्ठ' में जुलूस का दृश्य दिखाने के लिए वृन्दावन लाल वर्मा ने नेपथ्य से जुलूस की समूह-संगीत-ध्वनि का निर्देश दिया है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नवीन नाटक 'मादा कैक्टस की भूमिका' में ही यह संकेत कर दिया है कि 'दृश्यों के अन्त में, बीच-बीच में सितार, वायलिन, और गिटार का संगीत कभी तेज, कभी घना, कभी स्थित्यनुसार।'[1] इसी नाटक के अन्त में अनाथालय के बच्चों का एक कोरस है जिसके साथ लेखक का निर्देश है कि 'पृष्ठभूमि में अनाथालय के बच्चों का आरकेस्ट्रा उभरता है।[2] तात्पर्य यह कि नाटककारों ने रंगमंचीय आकर्षण, नाटकीय प्रभाव तथा वातावरण के निर्माण के लिए इस प्रकार के वाद्य-संगीत के जो सुझाव दिये हैं वे नाटक के अभिनय तत्व के लिए अत्यावश्यक और प्रभावपूर्ण हैं।

उपर्युक्त तीनों रूपों में वाद्य-संगीत का प्रयोग नाटककारों की सूक्ष्मदर्शिता एवं संगीत कुशलता का परिचायक है। तंबूरा, वीणा, सितार, वायलिन, हारमोनियम तथा प्यानो गीत के मुख्य साधन हैं। तंबूरा तथा हारमोनियम गीत के स्वर, लय, गति तथा उतार-चढ़ाव को संयत रखने में अत्यन्त सहायक होते हैं। वीणा, सितार, वायलिन और गिटार आदि के द्वारा गीत के बीच-बीच में इन वाद्यों के आरोह-अवरोह अथवा धुन द्वारा गीत का आकर्षण तथा प्रभाव द्विगुणित हो जाता है। तंबूरे, सितार और वीणा पर गायन ऐतिहासिक तथा संगीतशास्त्र में प्रवीण पात्रों द्वारा ही कराना नाटककार की कुशलता है जब कि गिटार और प्यानो का प्रयोग आधुनिक सुशिक्षित पात्रों द्वारा ही कराया गया है क्योंकि ये वाद्य भी आधुनिक हैं। उदयन अथवा भोज के साथ वीणा के स्थान पर यदि इन वाद्यों को रख दिया जाता तो वहाँ नाटककार की अनभिज्ञता स्पष्ट हो जाती। इसी प्रकार ग्रामीण युवक-मंडल के गीत के साथ ढोल, झांझ, डफ, मंजीर जैसे उत्तेजनापूर्ण वाद्यों का प्रयोग ग्रामीण-युवकों के सामूहिक गीतों की उत्साहपूर्ण जोशीली प्रकृति के अनुरूप ही है। विवाह के दृश्य को उपस्थित करने के लिए शहनाई-वादन ही सार्थक होता है। कीर्तन और भजन के साथ मृदंग, हारमोनियम, मंजीरा, झांझ और नादी का प्रयोग इस प्रकार के गीतों की सरल, तन्मय, भक्ति पूर्ण प्रकृति तथा समूह-गान के अनुकूल है।

---

[1]—मादा कैक्टस : लक्ष्मीनारायण लाल : पृ० १४।

[2] वही, पृ० ७५।

संगीत का महत्व एवं व्यापकत्व :—

संगीत एक विश्वव्यापी कला है। वह आनन्द का स्वरूप है अतः ईश्वर का स्वरूप है। संगीत का मुख्य आधार नाद है अतएव सम्पूर्ण संसार ही संगीतमय है। जड़-चेतन जगत् भी संगीत से प्रभावित है। यही उसकी व्यापकता है। पं० ओंकारनाथ ठाकुर का कथन है—'संगीत पृथ्वी का विषय नहीं है। शब्द आकाश का गुण है। जितना आकाश विशाल है, नाद (संगीत) भी उतना ही विश्वव्यापी है।'[1]

वस्तुतः संगीत में समस्त जीवसमूह को अपनी ओर खींचने की अद्भुत शक्ति है—

'पशुर्वेत्ति शिशुर्वेत्ति वेत्ति गानरसं फणी।'[2]

संगीत दिव्य है, अलौकिक है, परम आनन्द स्वरूप ईश्वर को प्रसन्न करने का सर्वोत्तम साधन है—गीत के द्वारा सर्वज्ञ पार्वतीपति शिव प्रसन्न होते हैं। गोपीपति भी वंशी की ध्वनि के वशीभूत हैं। ब्रह्मा सामगीत के प्रेमी और सरस्वती वीणा की अनुरागिणी है फिर यक्ष, गन्धर्व, देव, दानव और मानवों का क्या कहना है ?[3]

(गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।
गोपीपतिरमन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः ॥
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणास्वक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः ॥)

पंचमसार संहिता में भी कहा गया है कि स्वयं कृष्ण संगीतविद्या मुरली की सेवा करते हैं और शम्भु एवं नारद जैसे महात्मा भी गीत से प्रसन्न होते हैं।[4]

संगीत पारलौकिक कल्याण का साधन है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का प्रदायक है। भगवद्भजन से धर्म, राजाओं और प्रभुओं से प्राप्त सम्मान के रूप में अर्थ, अर्थ से काम और ईश्वर प्रसाद के फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से संगीत केवल लौकिक आनन्द एवं कल्याण का ही कारण नहीं है वह पारलौकिक आनन्द तथा कल्याण का भी साधन है। के० वासुदेव शास्त्री का मत है—'संगीत के द्वारा ही दुःख के लेश तक से भी सम्बन्ध न रखने वाला सुख मिलता है। दूसरे विषयों से होने वाले सुखों के आगे या पीछे दुःख की सम्भावना है परन्तु इस दुःखपूर्ण संसार में संगीत एक स्वर्गावास है। संगीत के ईश्वर-स्वरूप होने के कारण जो लोग संगीत का अभ्यास करते हैं वे तप, दान, यज्ञ, कर्म, योग आदि के कष्ट

१—संगीत : संगीत कार्यालय हाथरस, मार्च १९५३, पृ० २५६।
२—संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० २।
३—संगीतरत्नाकर : शार्ङ्गदेव, पृ० १६।
४—'संगीत विद्यां मुरलीं स्वयं कृष्णो हि सेवते।
शम्भुना गीयते गीतं नारदेन महात्मना॥'
—पंचमसारसंहिता : भरतकोश, पृ० ९५८।

'सिद्धार्थ बुद्ध' में जब कामदेव की सेना सिद्धार्थ की समाधि-भंग करने के लिये वीभत्स नृत्य करती है तो उसके साथ ढोल और झांझ का निर्देश किया है।[1] जो समय, स्थिति और वातावरण के अनुकूल है। ढोल और झांझ की ध्वनि द्वारा गम्भीर, भीषण, उत्तेजनापूर्ण वातावरण उपस्थित किया जा सकता है क्योंकि उनकी गूंज और झंकार बड़ी तीव्र होती है। इसी प्रकार रण-गीत के साथ रण-वाद्य का संकेत भर कर दिया गया है। जैसे 'मुक्ति यज्ञ' में रणभूमि में मार्चिंग करती रण-सेना के गीत के साथ 'रण-वाद्य' का निर्देश दिया है। 'अनारकली' में नादिरा के कत्थक नृत्य के साथ सारंगी, तबला और मंजीरे का उल्लेख है। कत्थक नृत्य के साथ सारंगी और तबले का प्रयोग तो शास्त्रीयविधि के अनुरूप तथा परम्परा सिद्ध होने के कारण ठीक है किन्तु मंजीरे का प्रयोग 'भारतनाट्यम् नृत्य' में होता है कत्थक नृत्य में नहीं। अतएव इसे उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के दोष अन्यत्र नहीं मिलते। तात्पर्य यह कि पृष्ठभूमि से वाद्य-संगीत के प्रयोग तथा समय, परिस्थिति एवं भावानुरूप वाद्य-संगीत की योजना द्वारा इस युग के नाटकों का संगीत कलात्मक और नाटकीय दोनों हो सका है। इसका सर्वाधिक श्रेय वृन्दावनलाल वर्मा और सीताराम चतुर्वेदी को है जिनके अधिकतर नाटकों में वाद्य-संगीत की सुरुचिपूर्ण, सफल एवं अभिनयानुकूल योजना हुई है।

नृत्य :

नृत्य के प्रयोग की दृष्टि से यह युग अधिक प्रयत्नशील, सचेत एवं प्रयोगात्मक है। जहां एक ओर इस युग के नाटकों में नृत्य की पूर्व नाटकों में प्रचलित परम्परा का अनुसरण किया गया है, वहां दूसरी ओर नृत्य के नए-नए प्रयोग भी किए गये हैं जिनसे नाटककारों के संगीत ज्ञान का परिचय मिलता है। ऐतिहासिक नाटकों में राजदरबार में नर्तकियों से नृत्य तथा गान की परम्परा इस काल में भी उपलब्ध होती है किन्तु नृत्य के अन्य विविध प्रकारों की दृष्टि से नाटकों का यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नाटक के कथानक और वातावरण के अनुकूल यहां शास्त्रीय विधि तथा लोक-संस्कृति दोनों के प्रर्वतक नृत्यों को स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से इस काल के नाटकों में नृत्य के निम्नलिखित प्रकार उपलब्ध होते हैं—

नृत्य

- (१) शास्त्रीय नृत्य
  - १—कत्थक
  - २—तांडव नृत्य
- (२) समूह नृत्य
- (३) लोकनृत्य
  - — शवरी-नृत्य
  - — भील नृत्य
  - — द्वीपवासियों का 'हा हू ही हो' नृत्य
  - — बुन्देलखण्डी नृत्य
- (४) एकाकी-नृत्य
  - — अप्सरा नृत्य
  - — ज्योति नृत्य तथा अन्य

१—सिद्धार्थ बुद्ध : बनारसीदास करुणाशंकर : द्वि० अंक, पृ० १०० ।

ये सम्पूर्ण नृत्य-प्रकार विविध नाटकों में यथावसर प्रयुक्त हुए हैं। कत्थक नृत्य का ऐतिहासिक दृष्टि से सम्बन्ध दरबारों से रहा है। यह श्रृंगार प्रकृति का नृत्य होता है तथा तबले के बंधे हुए बोलों पर पैरों की गति के संचालन तथा हाव-भाव पर आधारित होता है। कृष्ण और राधा की मान-अवमानना तथा लीला इस नृत्य का विषय है। केवल दो नाटकों में इसका प्रयोग किया गया है। 'अनारकली' में नादिरा (अनारकली) अकबर के सामने पहले कत्थक नृत्य के साथ हाव भाव दिखाती है[1] बाद में गीत गाती है। दूसरे नाटक 'शारदीया' में राजे राव घाटगे के मकान में रहीमन नामक नर्तकी 'कत्थक' नृत्य करती है।[2]

तांडव नृत्य का प्रयोग केवल 'विरूढ़क' नाटक में हुआ है। महत्वाकांक्षी विरूढ़क के आदेश पर उसकी प्रिय नर्तकी पूर्णिका उन्मादक रण-गीत के साथ तांडव नृत्य करती है।[3] युद्ध विभीषिका के लिए अपने आपको प्रस्तुत करने वाले विरूढ़क के सम्मुख उसके लिए अपना सब कुछ बलिदान करने वाली पूर्णिका का यह उत्तेजनापूर्ण नृत्य इस स्थल पर अत्यन्त सटीक एवं उपयुक्त है क्योंकि इस नृत्य की भयंकरता द्वारा विरूढ़क में साहस, बल और पौरुष का संचार होता है और वह रण-विभीषिका का सामना करने के लिए तत्पर रहता है।

समूह-नृत्य :

अन्य युगों के समान इस युग के नाटकों में भी सामूहिक नृत्यों का बाहुल्य रहा है। ये सामूहिक नृत्य पूर्व परम्परा के अनुसार ही नर्तकियों, अप्सराओं, सखियों तथा बालिकाओं से सम्बन्धित हैं। ऐतिहासिक नाटकों में दरबार के दृश्यार्थ नर्तकियों के नृत्य-गान की निरन्तर योजना रही है। 'कुलीनता' नाटक के प्रथमांक के तृतीय दृश्य में राज प्रासाद के सभा भवन में प्रथम केवल नृत्य होता है, पदुपरान्त समूह-गान और उसी के तुरन्त उपरान्त आठ नर्तकियाँ नाचती-गाती आती हैं।[4] इसी के साथ दृश्यान्त हो जाता है। 'अशोक' नाटक के प्रथमांक के तृतीय दृश्य का अन्त नर्तकियों के नृत्य-गान के साथ होता है। पुनः तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य में मध्याह्न समय नर्तकियाँ अशोक-प्रशंसा में नृत्य-गान करती हैं। इसी अंक के इसी दृश्य में कुछ देर बाद दीपावली के अवसर पर वाद्य-वादक तथा नर्तकियाँ नृत्य-गान करती हुई प्रविष्ट होती हैं। 'प्रलय से पहिले' नाटक में हिरण्यकश्यप की मृत्यु के बाद नरसिंह देव को सम्राट बनाने पर चार नर्तकियाँ नृत्य करती हैं। 'रामानुज' में चोल राजा कुलोतुंग के प्रासाद में शैव तांत्रिकों की विलासिता से विद्रोह भरी नर्तकियाँ नृत्य करती हैं। 'हंस-मयूर' में शमीनगर के

१—अनारकली : सीताराम चतुर्वेदी : द्वि० अंक, पृ० ८८।

२—शारदीया : जगदीशचन्द्र माथुर : पृ० ८७।

३—विरूढ़क : डा० रांगेय राघव : तृ० अंक, पृ० १२५।

४—कुलीनता : सेठ गोविन्ददास : पृ० १९।

महल में राजसभा के अन्दर मृदंग व वाद्य तार की धुन पर नर्तकियों का नृत्य होता है। इसी प्रकार के नृत्य 'बीरवल' 'झांसी की रानी' और 'मुक्ति यज्ञ नाटकों में दृष्टव्य हैं।

समूह नृत्यों में नर्तकियों के नृत्य के अतिरिक्त अन्य परम्परा दो-एक नाटकों में अप्सराओं के नृत्य की भी उपलब्धि होती है। उदाहरणार्थ 'बन्धु भरत' में विरक्त, तपस्वी भरत को आकर्षित करने के लिए उनका नृत्य तथा 'प्रलय से पहले' नाटक में समाधिस्थ नारद को मोहित करने के लिए अप्सराओं का नृत्य-गान होता है। पहले की तरह उस नाटक में भी इन्द्रसभा का दृश्य उपस्थित करने के लिए अप्सराओं के नृत्य की योजना की गई है ।

अप्सराओं के अतिरिक्त कहीं-कहीं युवतियों का समूह नृत्य करता दिखायी देता है। 'हंस-मयूर' नाटक के प्रथमांक के द्वितीय दृश्य में स्त्रियां नृत्य करती तथा गाती हुई रंगमंच पर प्रवेश करती हैं। 'सिद्धार्थ बुद्ध' में ध्यानमग्न सिद्धार्थ को विचलित करने के लिए युवतियों के नृत्य का आयोजन किया गया है। कहीं-कहीं इसी प्रकार बालिकायें नृत्य करती दिखाई देती हैं। 'बन्धन' नाटक के प्रथमांक के नवें दृश्य में रायबहादुर के पुत्र प्रकाश की २५वीं वर्षगांठ पर स्वागतार्थ बालिकायें नाचती तथा गाती हैं। नाटक 'समर्पण' में भी सार्वजनिक सभा के लिए कुछ हरिजन बालिकाओं का नृत्य तथा गान होता है। बालक और बालिकाओं का सम्मिलित नृत्य 'आवारा' में होता है जिसमें वे भिखारीराज की विदाई में करुण और मंथर स्वर तथा लय में नाचते गाते हैं। एक अन्य सामूहिक नृत्य का उल्लेख 'चुम्बन' नाटक में भी दृष्टिगत होता है जिसमें होलिकादाह के अवसर पर ग्रामीण जनों का स्वतन्त्र नृत्यगान है जो होली के उत्साह से भरा हुआ है। 'शक-विजय' में चतुर्थ अंक के तृतीय दृश्य के आरम्भ में वरद के आगमन में स्वागतार्थ स्त्री और पुरुषों का एक समूह नृत्य करता तथा गाता हुआ आता है। इस प्रकार ये समूह-नृत्य नर्तक-नर्तकियों के एक समूह से युक्त तथा कुछ विशेष अवसरों से सम्बद्ध है। ये विशेष अवसर अथवा स्थान राजदरवार, इन्द्रसभा, तपस्या-स्थल, होलिकोत्सव, जन्मोत्सव, पूजा तथा अन्य मंगलोत्सव हैं जिनसे नृत्य का मुख्य संबंध है।

नृत्य की इस प्रचलित परम्परा के अतिरिक्त इन नाटकों में कुछ लोक-नृत्यों का वह स्वाभाविक उमंगपूर्ण, सरस सौंदर्य दृष्टिगत हुआ है जिसका प्रादुर्भाव 'गर्वा नृत्य' द्वारा इससे पूर्व युग में हो चुका था। पहले की अपेक्षा इस युग के नाटककारों में लोक-नृत्यों के प्रयोग की सामर्थ्य, साहस तथा प्रयत्न अधिक है। मुख्यत: इन लोक-नृत्यों के नाटकों में स्थान देने का श्रेय वृन्दावनलाल वर्मा और सीताराम चतुर्वेदी को है। इन्हीं दोनों के नाटकों में हमें यह वैशिष्ट्य मिलता है।'शबरी' नाटक का प्रारंभ शबर जनों के ही जीवन और संस्कृति से सम्बद्ध नृत्य के साथ किया गया है। नाटक के प्रथम दृश्य में ही शबर अपने द्विवार्षिक वर्ष-उत्सव के अंतिम दिन तीव्र गति से नदी-तट पर आम्रवन में गाते हुए नृत्य करते हैं। नृत्य के साथ गीत आदिवासियों

की भाषा में ही किया गया है—

सरोन अतगड़ी अर्राती आई।
आंगल अन्य नाड् अर्राती आई
तोंगताई इयेन तोंगताई।........

इस प्रकार लेखक ने 'शवर-नृत्य' उसके अनुकूल गीत तथा तीव्र गति से नृत्य का संकेत देकर नाटक में नया पृष्ठ खोला है। एक अच्छे निर्देशक के लिए इतना संकेत पर्याप्त है।

'मानव-प्रताप' में गांव के निकट राणा के शिविर में नृत्य की वेश-भूषा धारण कर भीलकुमार और कुमारियां राणा के स्वागतार्थ नृत्य करते व गाते हैं। भील-नृत्य का सम्बन्ध मध्य भारत के ग्रामीण तथा वन्य क्षेत्रों में निवास करने वाले भीलों से है। इनके नृत्य वीरता की भावना के द्योतक होते हैं तथा सादगी उनके नृत्य की विशेषता है।[1] इस नृत्य के साथ गीत खड़ी बोली में ही कह दिया गया है जिसके कारण भील-नृत्य की सम्पूर्ण स्वाभाविकता एवं उसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। न भील-नृत्य के विषय में स्वयं लेखक ने कोई संकेत दिया है।

तीसरा लोकनृत्य दीपवासियों का 'हा हू ही हो' नृत्य है जो कि नाग द्वीप के नाटे निवासियों के जीवन, परम्पराओं और संस्कृति से सम्बन्धित है। इस नृत्य का प्रयोग 'पूर्व की ओर' में किया गया है।[2] द्वीपवासियों का जीवन तथा उनके वातावरण का चित्रण करने के लिए यह नृत्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विशेषता यह है कि इस नृत्य के साथ लेखक ने यह भी संकेत किया है कि 'नृत्य के पद-चारण का संग देने के लिए काष्ठ के टुकड़ों की टक्करों से ताल उत्पन्न किया जा रहा है।' इतने संकेत से इस नृत्य की ताल, ताल देने की रीति तथा उसके साथ पद-चारण की क्रिया का ज्ञान होता है एवं 'हा हू ही हो' की शब्द ध्वनि से इस नृत्य की उच्छृंखलता, उछल-कूद तथा तीव्र गति का भी अनुमान होता है। इसी नृत्य का आयोजन तृतीयांक तथा नाटकांत में भी है।

लोकनृत्य का चौथा प्रकार बुंदेलखंडी नृत्य है जो बुंदेलखंड की भूमि से संबन्धित है। नाटक 'झांसी की रानी' में संध्या-उपरान्त हरदी कूं कूं के उत्सव पर झलकारी नामक एक स्त्री बुंदेलखंडी नृत्य करती है।[3] इसके साथ अन्य स्त्रियों का समूह-गीत दिया गया है जो खड़ी बोली में ही विरचित है—'पंछी बोल गया रे।' लेखक ने यह संकेत नहीं किया है कि वह किस प्रकार के बुंदेलखंडी नृत्य को चाहता है। वैसे बुंदेले अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध हैं—वहां के नृत्य का सम्बन्ध भी इसी वीर भावना से होता है। वहां का 'दिवाली' नृत्य इसलिए प्रसिद्ध है।

१—भारत के लोकनृत्य : लक्ष्मीनारायण गर्ग, पृ० ९४।
२—पूर्व की ओर : वृन्दावनलाल वर्मा, द्वि० अंक, पृ० ४८।
३—झांसी की रानी : वृन्दावनलाल वर्मा, प्र० अंक, पृ० ३२।

एकाकी नृत्यों का प्रयोग इस युग में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में हुआ है। ये नृत्य केवल एक पात्र द्वारा ही सम्पन्न हुए हैं—चाहे स्त्री पात्र हो अथवा पुरुष पात्र। यह अवश्य है कि स्त्री पात्र के एकाकी नृत्य ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इन नृत्यों में नृत्य के दो विशेष प्रकार उपलब्ध होते हैं—

१—ज्योति नृत्य

२—अप्सरा नृत्य

ज्योति-नृत्य का सम्बन्ध प्रज्वलित दीपकों की ज्योति हाथ में लेकर विविध मुद्राओं तथा पद-चारण के साथ नृत्य करने से है। नाटक 'शपथ' में कंचनी नामक नर्तकी दशपुर के सूर्य मन्दिर में वसन्तोत्सव पर दीप जलाकर ज्योति नृत्य करती है।[1] साथ में वाद्य-वादन तथा गायन होता है। यह नृत्य युद्ध की काली घटाओं के पीछे छिपे सुनहरे प्रभात का सन्देश देने वाला है, अतः परिस्थिति तथा गीत की दृष्टि से 'ज्योति-नृत्य' अत्यन्त सोद्देश्य है। इस प्रकार यहां ज्योति-नृत्य प्रकाश की प्रेरणा देने वाला तथा उज्ज्वल भविष्य का संकेत करने वाला है।

अप्सरा-नृत्य आनन्द तथा शुभ-कामनाओं का द्योतक है। इस नृत्य में पद-संचारण तथा हाव-भावों के प्रदर्शन में माधुर्य, कोमलता एवं सौन्दर्य की प्रधानता रहती है। अप्सरा के वेश में तन्वी 'हंसमयूर' नाटक में अपने प्रिय इन्द्रसेन के सम्मुख उसकी विजय प्राप्ति पर आनन्दमग्न हो नृत्य करती है।[2] अप्सराओं के समान शृंगार-पूर्ण हाव-भाव ही इस नृत्य का उद्देश्य है। इस तरह से इस शुभ अवसर पर अप्सराओं के नृत्य की प्राचीन परम्परा से भी लेखक बच गया है और नए ढंग से अप्सरा-नृत्य के प्रस्तुतीकरण द्वारा दो चरित्रों की मानसिक स्थिति तथा परस्पर आकर्षण का भी एक साथ अंकन हो गया है।

एकाकी नृत्य :

नाटकों में एकाकी नृत्यों का सम्बन्ध राजदरबारों से बहुत रहा है। दरबार की कोई एक नर्तकी अवसर तथा उत्सव के अनुकूल आकर नृत्य करती है और चली जाती है। 'संवत्-प्रवर्तन' नाटक में उज्जैनी के राजभवन में राजा गर्दभिल्लदर्पण की उत्तेजना एवं विलासिता की तुष्टि के लिए नर्तकी मधुमती उन्मादक गीत गाते हुए नृत्य करती है—

> लाई हूं आंखों में भरकर प्यार,
> पियो हे प्यारे।[3]

'सोमनाथ' में भी इसी प्रकार राजा वाक्पति की सभा में एक नर्तकी 'मधुगीत' गाकर नृत्य करती है। 'रामानुज' में मदिरोन्मत्त नर्तकी अर्धनग्न सी नृत्य करती तथा गाती

१—शपथ : हरिकृष्ण प्रेमी : पृ० ३।

२—हंस-मयूर : वृन्दावनलाल वर्मा, च० अंक, पृ० १३६।

३—संवत्-प्रवर्तन : हरिकृष्ण प्रेमी : प्र० अंक, पृ० १२-१३।

है। 'विरूढ़क' में पूर्णिका मुख्य नर्तकी है जो प्रथम अंक में ही वसन्त ऋतु के वातावरण में विरूढ़क के आदेश पर माधुर्यमय नृत्य करती है। 'शपथ' में कंचनी के नृत्य भी इसी प्रकार के हैं। 'मुक्तिदूत' नाटक में दरबार में नर्तकी का नृत्य-गीत होता है। 'पूर्व की ओर' में जिष्णु-पुत्री धारा स्वागतार्थ नृत्य करती है। 'आहुति' में अलाउद्दीन के डेरे में मनोरंजनार्थ नर्तकी का नृत्य होता है। 'उद्धार' और 'संरक्षक' नाटकों में भी इसी प्रकार दरबारों में नर्तकी के नृत्य की योजना की गयी है।

इन नर्तकियों के अतिरिक्त अन्य पात्र भी हैं जिनके एकाकी नृत्य आवश्यकतानुसार दे दिए गए हैं। उदाहरणार्थ 'सापों की सृष्टि' में देवल नाम्नी स्त्री विवाहोपरान्त अपने प्रिय के सम्मुख आनन्दित होकर शृंगारमय गीत गाती हुई नृत्य करती है। 'शतरंज के खिलाड़ी' में द्वितीयांक के सातवें दृश्य में अख्तरी का नृत्य तथा गीत इसी प्रकार का है। 'जय सोमनाथ' में सोमनाथ के मन्दिर का भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप दृश्य उपस्थित करने के लिये प्रचलित परम्परा के अनुसार सायंकाल देवदासी के नृत्य का प्रयोग किया गया है। मन्दिर के मण्डप में देवदासी अवंतिका शिव-तांडव स्तोत्र के साथ नृत्य करती है। इसी प्रकार 'तिन्दुवुलम' नाटक में देवदासी पद्मावती मन्दिर के दृश्य में पूजा के समय नृत्य करती है और नेपथ्य से जयदेव का ही गीत 'विहरति वने राधा धारण प्रणय हरो' गूंजता रहता है क्योंकि जयदेव कवि और देवदासी की प्रेमकथा पर ही यह नाटक आधारित है।

एकाकी नृत्यों के अतिरिक्त गिने-चुने स्थलों पर युगल-नृत्य का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है। यह युगल-नृत्य दो स्त्री-पात्रों का भी है और एक स्त्री तथा एक पुरुष का भी। उदाहरणार्थ नाटक 'यशस्वी भोज' के प्रारम्भ में ही ग्रामीण मुखियों के स्वागत समारोह में एक जोड़ा आकर झांझ और मृदंग के साथ नृत्य करता है और चला जाता है। नृत्य की प्रकृति तथा प्रकार का कोई संकेत नहीं किया गया है। दूसरी ओर 'फूलों की बोली' नाटक में कामिनी और माया गीत गाती हुई नृत्य करती है। इन युगल-नृत्यों में कोई विशेषता नहीं है।

भाव-नृत्य भी इस युग के कुछ नाटकों में ही प्रयुक्त हुआ है। यह नृत्य किसी भाव विशेष पर ही आधारित है, चाहे वह भाव हास्य का हो अथवा करुणा का। इस दृष्टि से तीन भाव-नृत्यों का उल्लेख नाटकों में मिलता है—

१—आनन्द-नृत्य
२—वीभत्स नृत्य
३—हास्य नृत्य

प्रथम भाव-नृत्य का सम्बन्ध हर्ष-आनन्द की भाव-स्थिति तथा तदनुरूप उल्लास, उमंग से पूर्ण नृत्य से है। इस नृत्य का उल्लेख 'स्वर्गभूमि का यात्री' नाटक में हुआ है। नाटक के सप्तम अंक के चतुर्थ दृश्य में जब पांडव स्वर्ग को जा रहे हैं तब उस

हर्षोल्लास से पूर्ण शुभ सूचना का संकेत देने के लिए एक पुरुष नर्तक रंगमंच पर आकर आनन्द-नृत्य करता है। अर्थात् वह अपने पद-चारण, मुद्राओं तथा हाव-भावों द्वारा उस आनन्दमय दृश्य का परिचय दर्शकों को देता है।

वीभत्स नृत्य का प्रयोग 'सिद्धार्थ बुद्ध' नाटक में हुआ है। इस नृत्य से लेखक का तात्पर्य वीभत्सता का प्रदर्शन करना है। ध्यानमग्न सिद्धार्थ की तपस्या भंग करने के लिए कामसेना ढोल और झांझ बजाकर 'वीभत्स नृत्य' करती है। यद्यपि कामसेना के साथ वीभत्स नृत्य का सम्बन्ध उपयुक्त नहीं लगता। यदि यह नृत्य शृंगार भावना से सम्बद्ध होता तो अधिक उपयुक्त होता।

हास्य-नृत्य हास्य-भावना से सम्बन्वित है। 'सेनापति पुष्यमित्र' में ज्योतिषी गोनर्दीय हास्यरस पूर्ण नृत्य करते हुए गाते हैं।[1] इस नृत्य का प्रयोग केवल हास्य-सृष्टि के लिए ही है। इस प्रकार नृत्य की प्रकृति का समयानुकूल ज्ञान कराने के लिए ही लेखकों ने इस प्रकार के तीनों नृत्यों का उल्लेख कर दिया है। वैसे नृत्य के किसी विशेष प्रकार अथवा शैली के अन्तर्गत ये नहीं आते। उस दृश्य में किस भाव को प्रदर्शित करने के लिए नृत्य किया जाय, इसी का संकेत तीनों नृत्यों से किया गया है। नाटककारों ने मुद्राओं का संकेत कहीं नहीं किया है, केवल 'आनन्द नृत्य' इत्यादि निर्देश ही दिया है।

पात्रों की दृष्टि से इस युग में भी स्त्रियां ही नृत्य की विशेष अधिकारिणी हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस युग में भी स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष वर्ग के नृत्य प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, शबर और भील समूह नृत्य करते हैं तथा 'स्वर्गभूमि का यात्री' में एक नर्तक आनन्द नृत्य करता है जिसका वर्णन अभी किया जा चुका है। यह अवश्य है कि पुरुष वर्ग के नृत्य की संख्या सदैव की तरह बहुत कम रही है।

पूर्व कालीन नाटकों की अपेक्षा एक नवीनता यह दृष्टिगत होती है कि कहीं-कहीं नृत्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये उसके विषय में नाटककार ने स्वयं कुछ संकेत दे दिए हैं। उदाहरणार्थ 'शबरी' में 'शबरों का तीव्र गति से नृत्य करना', 'पूर्व की ओर' में 'बांसों की टक्कर की ताल के साथ पद-चारण'। यही नहीं 'पवनंजय' नाटक में नृत्य-बालाओं के नृत्य के लिये लेखक ने लिखा है कि 'हाथों से अभिनय करती हुई एक सखी मुख से नृत्य के बोल कहती है तथा अन्य तदनुरूप नृत्य करती हैं। साथ में मृदंग और वीणा वाद्य बजते हैं।'[2] 'विरूढ़क' नाटक में भी नर्तकी पूर्णिका के नृत्य के लिये लेखक का निर्देशन है कि 'उसके पैरों में नूपुर नहीं हैं और नेपथ्य से हल्की वाद्य-ध्वनि आ रही है।'[3] इससे यह ज्ञात होता है कि बसन्त

१—सेनापति पुष्यमित्र : सीताराम चतुर्वेदी : द्वि० अंक, पृ० १९।

२—पवनंजय : ओंकारनाथ दिनकर : प्र० अंक, पृ० ३१।

३—विरूढ़क : डा० रांगेय राघव : प्र० अंक, पृ० ४७।

ऋतु के वातावरण में अपने प्रिय के सम्मुख पूर्णिका के नृत्य में लेखक सादगी, कोमलता, माधुर्य तथा भाव-प्रदर्शन अधिक चाहता है, नृत्य में पैरों की तीव्र गति तथा वाद्यों का शोर नहीं। इसी प्रकार 'मुक्तिदूत' में दरबार में नर्तकी के नृत्य के लिए लेखक संकेत करता है कि 'पहले ताल के साथ नर्तकी केवल नृत्य करती है, बाद में गीत गाती है।'[1] इससे लेखक की इच्छा तथा रुचि का परिचय मिलता है तथा उसके ज्ञान का भी कि किस प्रकार नर्तकी पहले तबले के बोलों के साथ नृत्य करे, बाद में गीत गाए। नृत्य को प्रस्तुत करने का एक ढंग तथा स्वरूप इससे स्पष्ट होता है जो कि नाटक के अभिनय में निर्देश के लिये अत्यन्त सहायक होता है। लोक नृत्यों की व्यवस्था भी इस दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

पूर्व युग से इस युग के नाटकों में नृत्य की दृष्टि से एक और विशेषता यह है कि इन नाटकों में नृत्य में विशेष रूप से पारंगत, कला प्रेमी कुछ पात्र हमारे सामने आते हैं जैसे 'हंस मयूर' की तन्वी, 'शपथ' की कन्चनी, 'झांसी की रानी' की जूही, 'अनारकली' की नादिरा, 'विरूढ़क' की पूर्णिका तथा 'पूर्व की ओर' की धारा; ये सभी पात्र विशेषत: नृत्य से सम्बद्ध हैं। नृत्य इनका जीवन है तथा नृत्य-कला का इन्हें ज्ञान है। तन्वी का अप्सरा नृत्य, कन्चनी का ज्योतिनृत्य, पूर्णिका का तांडव नृत्य तथा 'नादिरा का कत्थक नृत्य इस बात के प्रमाण हैं। ऐसे नृत्य के कलाकार के रूप में कोई विशिष्ट पात्र हमें पूर्व नाटकों में नहीं मिलते और न उनके नृत्य के किसी स्वरूप का ही ज्ञान हो पाता है। पहले के नाटकों में ऐसा लगता था कि नाटककार के संकेत पर पात्र रंगमंच पर आते हैं और नाचकर चले जाते हैं। किन्तु ये पात्र ऐसे हैं जिनका चरित्र-चित्रण बिना नृत्य के अधूरा है क्योंकि ये अपने चरित्र की विशेषताओं—प्रणय, संघर्ष आदि को अपने नृत्य के माध्यम से ही अभिव्यक्त करते हैं।

राग-रागिनियों का प्रयोग :

राग-रागिनियों का प्रयोग इस युग के नाटकों में कुछ ही स्थलों पर हुआ है। पूर्व काल की अपेक्षा इस युग में नाटक-गीतों के साथ राग-रागिनियों का उल्लेख उतनी मात्रा में नहीं किया गया है। मुख्यत: इस काल के नाटकों के अन्तर्गत शास्त्रीय राग-रागिनियों की मर्यादा प्रतिष्ठित रखने का श्रेय सीताराम चतुर्वेदी तथा वृन्दावनलाल वर्मा को है जिनके अधिकतर नाटकों के गीत राग, ताल की शास्त्रीयता से बद्ध हैं।

यह इस युग की विशेषता है कि नाटककारों ने प्रायः गीतों के रागों के साथ
ल्लेख कर दिया है। इस सम्बन्ध में इस युग के नाटककार अधिक सचेत
प्रथम भाव-नृ हैं। इस युग के नाटक-गीतों के साथ जिन रागों का उल्लेख किया
उमंग से पूर्ण नृत्य
है। नाटक के सप्तम ंकर भट्ट : पृ० २२-२३।

गया है तथा उन रागों के साथ जो-जो समय नाटकों में दिया गया है उन रागों तथा उनसे सम्बद्ध समय की तालिका निम्नांकित है—

राग	समय
भीमपलासी	दिन,[1] दिन ढलना[2]
देश	सन्ध्या-उपरान्त[3]
बागेश्वरी	संन्ध्या-पूर्व[4]
यमन कल्याण	दिन,[5] रात्रि[6]
विहाग	अर्द्ध रात्रि,[7] अपरान्ह[8]
प्रभाती	प्रभात[9]
केदारा	रात्रि,[10] संन्ध्या[11]
तिलककामोद	संन्ध्या,[12] तृतीय प्रहर[13]
प्रात:श्री	प्रभात[14]
खम्माच	रात्रि[15]
भैरवी	रात्रि,[16] प्रात:[17]

१—हंस-मयूर : वृन्दावन लाल वर्मा, द्वि० अंक, पृ० ५९। ललित-विक्रम, वही, तृ० अंक पृ० ६१।
२—सेनापति पुष्यमित्र : सीताराम चतुर्वेदी, द्वि० अंक, पृ० ४३।
३—हंस-मयूर : तृ० अंक, पृ० ९७।
४—वही, च० अंक, पृ० १३६।
५—वीरबल, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ० ६।
६—विश्वप्रेम : सेठ गोविन्ददास, पं० अंक, पृ० १५३।
७—मंगलसूत्र : वृन्दावनलाल वर्मा, द्वि० अंक, पृ० ६०।
८—उत्सर्ग : चतुरसेन शास्त्री, तृ० अंक, पृ० ३१।
९—मंगलसूत्र : तृ० अंक।
१०—नीलकण्ठ : वृन्दाबनलाल वर्मा, पं० अंक, पृ० २८।
११—विश्वप्रेम : गोविन्ददास : पं० अंक, पृ० १६३।
१२—राखी की लाज : वृन्दावन लाल वर्मा, तृ० अंक, पृ० ८७।
१३—अनारकली : सीताराम चतुर्वेदी, द्वि० अंक, पृ० ५८।
२४—उत्सर्ग : चतुरसेन शास्त्री : च० अंक, पृ० ५५।
१५—अमरसिंह : वही, पृ० ३५।
१६—अन्त:पुर का छिद्र : गोविन्दवल्लभ पंत : पृ० २१।
१७—शबरी : सीताराम चतुर्वेदी : प्र० अंक, पृ० ३६।

दरबारी कान्हरा	संन्ध्या पूर्व[1]
सोहनी	संध्यापूर्व,[2] रात[3]
पूर्वी	सन्ध्या[4]
मालकोस	प्रात:[5]
वसन्त	प्रात:[6]
धनाश्री	संध्या[7]
काफी	रात्रि[8]
जोगिया	प्रात:[9]
श्याम कल्याण	संन्ध्या[10]
रामकली	प्रात:[11]
भैरव	प्रात:[12]
धानी	संन्ध्यापूर्व[13]
हम्मीर	संध्यापूर्व[14]
सारङ्ग	दोपहर[15]
मांड, शंकरा	समय नहीं दिया गया है ।

राग और समय-सिद्धान्त :

उपर्युक्त रागों में से केवल दो रागों के साथ समय-निर्देश नहीं किया गया

१—अन्त:पुर का छिन्न : गोथिन्दवल्लभ पंत : पृ० २७ ।
२—वही, पृ० ६५ ।
३—अनारकली ; सीताराम चतुर्वेदी : प्र० अंक, पृ० ३५ ।
४—थिश्वप्रेम : सेठ गोविन्ददास : प्र० अंक, पृ० ४ ।
५—विश्वप्रेम : सेठ गोविन्ददास : प्र० अंक, पृ० २५ ।
६—वही, तृ० अंक, पृ० ८४ ।
७—सेनापति पुष्यमित्र : तृ० अंक, पृ० १०९ ।
८—अनारकली : सीताराम चतुर्वेदी, द्वि० अंक, पृ० ८८ ।
९—शबरी : वही, द्वि० अंक, पृ० ५१ ।
१०—जय सोमनाथ : वही, पृ० १९ ।
११—वही, पृ० ३६ ।
...नापति पुष्यमित्र : वही, तृ० अंक, पृ० ७८ ।
...यूर, प्र० अंक, पृ० १२ ।
प्रथम भाव-नृ... ११ ।
उमंग से पूर्ण नृत्य-...शर्मा उग्र, पृ० ६५ ।
है । नाटक के सप्तम ...

झेलते हुए मोक्ष मार्ग तक पहुंचते हैं।[1]

जीवन से मुक्ति पाने में जो आनन्द है वही आनन्द संगीत में भी है। संगीत पारिजातकार पं० अहोवल के अनुसार संगीत मोक्ष का कारण है जिस प्रकार समाधि अथवा योग मोक्ष का प्रदायक है।[2]

संगीत समस्त प्रकृति पर, भूमंडल पर, आकाश पर शासन करता है। पशु-पक्षी, खग, मृग, पतंग भौरे सभी गाते हैं अतएव संगीत से कोई दिशा अछूती नहीं है।[3] पं० दामोदर का कथन है कि मयूर, चातक, बकरा, क्रौंच, कोकिल, मेढ़क, हाथी क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद आदि सप्त स्वरों का उच्चारण करते हैं।[4]

संगीत जड़ चेतन में व्याप्त ही नहीं है वरन् वह जड़-जंगम सम्पूर्ण जगत् को प्रभावित भी करता है। कृष्ण जी की मुरली के प्रभाव से कालिय नाग का वशीकरण तथा गोपियों की भावमग्नता एवं अनन्य आकर्षण-भाव जगत् प्रसिद्ध ही है। भागवत् पुराण में तो कृष्ण की मुरली की ध्वनि से यमुना के चंचलमान जल का शांत होना कहा गया है।[5]

संगीत में अनन्त शक्ति है। वह व्यक्ति को आनन्द की उस चरमावस्था पर पहुंचाने की सामर्थ्य रखता जो योगी की समाधि की अवस्था में प्राप्त होती है और जो काव्यानन्द कहा जाता है। क्योंकि संगीत में मानव-हृदय के तार-तार को स्पर्श करने, उसके मर्म को झकझोरने की अद्भुत शक्ति है। संगीत को इसी अनुपमता एवं माधुर्य से प्रभावित होकर बिहारी कवि की लेखनी कह उठी—

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥[6]

१—संगीतशास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० १।

२—संगीत पारिजात : अहोवल, पृ० १।
संगीतं वेदिकैर्वाक्यैर्बोधितं ब्राह्मणाः सदा।
कृत्वेदिकं तथा मोक्षं प्राप्नुवन्ति स्वरान्विताः॥

३—खगाः भृंगाः पतंगाश्च कुरंगादयो पिजन्तवः।
सर्व एव प्रगीयन्ते गीतव्याप्तिर्दिगन्तरे॥ —संगीतपारिजात, अहोवल, पृ० २।

४—मयूरश्चातकश्छागः क्रौंचकोकिलदर्दराः।
गजश्च सप्त षड्जादीन् स्वरानुच्चरयत्यमीं॥
—संगीतदर्पणः दामोदर, पृ० ७० श्लो० १६९।

५—नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्त लक्षित मनोभव म न वेगाः।
श्रीमद्भागवत् महापुराण, महर्षि वेदव्यास, अनुवादक मुनिलाल, द्वितीय खंड, दशम स्कन्ध, अध्याय २१, पृ० ३११, श्लोक १५।

६—बिहारी सतसई, सटीक रामवृक्ष बेनीपुरी, चतुर्थ सं०, पृ० २९३, दोहा ६१०।

है। अन्य रागों के साथ सम्बद्ध समय भारतीय संगीत-शास्त्र के नियमानुरूप है अथवा नहीं ? इसके लिए संगीत-शास्त्र में विहित समय-सिद्धान्त के आधार पर इनका परीक्षण आवश्यक है। तभी यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-नाटककारों ने संगीत-शास्त्र के नियमों तथा सिद्धान्तों का पालन कहां तक किया है तथा उन्हें भारतीय संगीत-प्रणाली का कितना ज्ञान हैं। अस्तु—

शास्त्रीय विधि की दृष्टि से उपर्युक्त रागों के साथ दिया गया समय प्रायः उपयुक्त है, उदाहरणार्थ भीमपलासी राग के लिए दिन तथा दिन ढलना दोनों ही समुचित हैं क्योंकि उसका गायन-समय दिन का तृतीय प्रहर माना गया है।[1] इस के आरोह में रिषभ व धैवत का अभाव एवं षड्ज, मध्य, पंचम स्वरों का प्रावल्य दिन के तीसरे पहर के राग की झलक देता है ऐसा विद्वानों का मत है। 'देश' राग के साथ संध्या-उपरान्त समय यद्यपि उसके ठीक समय को स्पष्ट नहीं करता है फिर भी उसे सर्वथा अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'देश' का गायन-काल रात्रि का द्वितीय प्रहर माना गया है।[2]

'यमनकल्याण' राग के लिए दो समयों का उल्लेख मिलता है जब कि यह राग संगीताचार्यों के अनुसार केवल रात्रि के प्रथम प्रहर में गाया जाना चाहिये।[3] अतः दिन का समय उसके लिये व्यर्थ है।

राग विहाग के लिये भी केवल अर्धरात्रि का समय शास्त्रानुकूल है,[4] अपरान्ह का प्रयोग चतुरसेन शास्त्री ने ठींक नहीं किया है।

'प्रभाती' तथा 'प्रातःश्री' के साथ प्रातःकाल का संयोग सर्वथा उपयुक्त है। जैसा कि दोनों रागों के नाम से ही स्पष्ट है, दोनों ही प्रभात-काल में गेय राग हैं।[5]

'केदार' राग के साथ संध्या तथा रात्रि समय का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। वस्तुतः केदार रात्रिकालीन गेय राग है। किन्तु उसका गायन-समय रात्रि का प्रथम प्रहर (६—९ बजे तक) माना गया है,[6] अतः संध्या समय भी समुचित एवं मान्य है।

राग 'खमाच' के साथ रात्रि का समय शास्त्रानुरूप है। हमारे संगीताचार्य ने उसका गायन-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर स्वीकार किया है।[7]

१—हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (तीसरी पुस्तक) : भातखंडे, पृ० ५६१।
२—राग कोष (हाथरस), पृ० १३, संख्या ७३।
३—भारतीय श्रुति-स्वर-राग शास्त्र : पं० फिरोज फ्रामजी, पृ० १९७।
४—'रात्रि, दूसरे प्रहर में गावत राग विहाग'—राग-कोष, पृ० ५।
५—राग-कोष, पृ० १४।
६—'केदार राग' का समय रात्रि का प्रथम प्रहर है'—
हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (तीसरी पुस्तक) पृ० ११८।
७—हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (पहली पुस्तक) : पृ० ३१।

संगीत में रसानुभूति कराने की क्षमता है—सौन्दर्य और रमणीयता के इसी सृजन की साम्यता के कारण साहित्य एवं संगीत का परस्पर सम्बन्ध रहा है। पाश्चात्य विद्वान् नैपोलियन ने व्यापक प्रभाव की दृष्टि से ही संगीत कला को समस्त ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना है।[१] एच० गिल्स ने भी मनुष्य के भावों पर संगीत के अनन्य प्रभाव को स्वीकार किया है।[२] संगीत में इस महत्ता की अनुभूति करते हुए शार्ङ्गदेव का कथन है कि पालने में लेटा हुआ रोता बच्चा जो कि समस्त विषयों के स्वाद से अज्ञात है, गीतामृत को पीकर वह भी अत्यन्त हर्षित हो जाता है।[३] संभवतः इसी कारण भर्तृहरि ने संगीत को मानव-जीवन का आवश्यकतम तत्व माना है—

साहित्य संगीत कलाविहीनः।
साक्षात्पशुपुच्छविषाणहीनः ॥[४]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीत केवल लौकिक आनन्द की ही वस्तु नहीं है वरन् उसमें मन को एकाग्र कर हृदय की चंचल वृत्तियों को केन्द्रीभूत करने तथा ऊर्ध्व लोक में ले जाने की अपूर्व क्षमता है। साहित्य का भी मूल उद्देश्य भारतीय आचार्यों ने 'रस' अथवा आनन्द के उसी परम लोक में ले जाना स्वीकार किया है। इस प्रकार संगीत एवं साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भारतीय एवं पाश्चात्य संगीत :—

भारतीय और पाश्चात्य संगीत के स्वरूप एवं उद्देश्य में इतना अधिक अन्तर है जितना कि पूर्व और पश्चिम दिशाओं में। दोनों का संगीत अपनी-अपनी सभ्यता, आदर्श व विचारधाराओं का प्रतीक है। संक्षिप्त रूप में दोनों के संगीत की विशेपतायें निम्न प्रकार से हैं—

भारतीय संगीत का प्रमुख अंग जहां स्वर माधुर्य, लयात्मकता एवं राग-सौन्दर्य है, वहां पाश्चात्य संगीत का प्रधान अंग 'अनुरूपता (*Harmony*) है।[५]

१—'Music of all the liberal arts has the greatest influence over the passions and is that to which the Legislature ought to give the greatest encouragement.'
—The New Dictionary of Thoughts, Page 414.

२—'The direct relation of music is not to ideas but to emotions in the works of its greatest masters, it is more marvellous, more mysterious than poetry.'
—The New Dictionery of Thoughts. Page 414-415.

३—अज्ञात विपयास्वादो वालःपर्यङ्किकागतः।
रुदन्तगीतामृतं पीत्वा हर्पोत्कर्पं प्रपद्यते ॥ संगीतरत्नाकर, पृ० ७, छंद २८।

४—नीतिशतकम्, भर्तृहरि, श्लोक ११।

५—It is often said–and quite truely—that Indian music is melodic while European music is harmonic. -do- Page 247.

भारत में एक स्वर से गाए हुए गीत को रुचिकर एवं आकर्षक मानते हैं किन्तु पश्चिम में अनेक स्वरात्मक गीत को महत्व दिया जाता है। यहां किसी एक राग के निश्चित स्वरों का महत्व है जब कि पाश्चात्य संगीत विविध स्वरों की अनुरूपता पर बल देता है।

भारत में संगीतात्मक प्रभाव की सृष्टि के लिए एक ही स्वर को केन्द्र माना जाता है, इसके विपरीत पाश्चात्य संगीतज्ञ 'सुर-परिमाण' (Scale) के प्रत्येक स्वर को केन्द्र मानते हैं।[१] पाश्चात्य संगीत में प्रत्येक स्वर की अपनी स्वतंत्र सत्ता है—कोई स्वर एक दूसरे से वद्ध नहीं है वे अपनी अलग-अलग वैयक्तिकता रखते हुए केवल वाह्य दृष्टि से एक दूसरे से सम्वन्धित रहते हैं—उनके स्वरों में पारिवारिक वन्धन का अभाव है। भारत में ऐसा नहीं है। यहां संगीतज्ञ विशेष लय, राग के अनुरूप स्वरों को एक दूसरे से सम्वन्धित करते हैं—संगीत-प्रक्रिया में इस वन्धन को तोड़ा नहीं जाता—उन स्वरों के अलग हो जाने पर हम उसे 'दोष' मान लेते हैं।

भारतीय संगीत में राग का सम्वन्ध किसी विशेष माक समय, ताल और लय से होता है। तदनुरूप ही स्वरों का माधुर्य होता है। पाश्चात्य संगीत में ऐसा नहीं है—यहां चित्तवृत्ति या भाव का प्रयोग संगीत के उस सम्पूर्ण भाग को नियमित करने के लिए होता है। यहां राग विशेष के अनुरूप चित्तवृत्ति का सम्बन्ध स्वर-माधुर्य, लय एवं राग से रहता है।

पाश्चात्य संगीतज्ञ पुनरुक्ति का पर्याप्त प्रयोग करते हैं। प्रत्येक वार उनके संगीत के रूप में वहुत कम भेद होता है, जव कि भारतीय संगीतज्ञ भिन्न-भिन्न प्रकार की सूक्ष्मतम संगीत तरंगों की सृष्टि में विश्वास करता है, वही संगीत का आकर्षण, सौन्दर्य एवं योग्यता का प्रतीक माना जाता है।

जैसा कि हम देखते हैं—भारतीय संगीत में 'गमक' अथवा स्वरों के मोड़ व उतार-चढ़ाव के आकर्पण पर विशेप वल दिया जाता है। पाश्चात्य संगीत में यह 'गमक' अपना सौन्दर्य व आकर्पण एक आकस्मिक महत्व तो रखते हैं किन्तु वे उसका अनिवार्य आभूपण नहीं हैं। भारतीय संगीत के स्वर-माधुर्य की सृष्टि का 'गमक' आवश्यक अंग है।

भारतीय संगीत को एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। यह एकाग्रता गायक और श्रोता दोनों में होती है। यहां संगीत का उद्देश्य श्रोताओं की भौतिक जगत् एवं सांसारिक उपलब्धियों से ऊपर ले जाकर उसके मन और मस्तिष्क को शुद्ध वनाना है। पाश्चात्य संगीतज्ञ के लिए यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

पाश्चात्य संगीत विविधता की ओर देखता है किन्तु भारतीय संगीत एकता

१—'Where the Western musician studies from note to note his Eastern brothers glide between.' The Story of Indian Music.
—O. Gosvami, Page 224.

की ओर। हमारे संगीत में विविध स्वरों से निर्मित तानें ऐसे निकलती हैं जो मुख्य राग के साथ घुल-मिल जाती हैं। यही कारण है कि भारतीय संगीत मानव-जीवन का अभिन्न अंग है, उसका प्रेरक है। वह मानव-जीवन के हास्य-रुदन, अनन्त आनन्द, सुख-दुख सबका साथी है। हमारा संगीत एक व्यक्ति का गीत है किन्तु किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, वरन् एक मानव का है जो सम्पूर्ण मानव-जीवन का है। भारतीय संगीत कामबाण के समान श्रोताओं के हृदय को वेधता चला जाता है, उनके मर्म को झकझोर देता है, पाश्चात्य संगीत में इतनी प्रभावशीलता नहीं, वह श्रोताओं को उत्तेजित तो करता है किन्तु आनन्द की उस परमावस्था तक ले जाने में समर्थ नहीं होता है।

पाश्चात्य संगीत भावों एवं संवेगों को इतना संतुष्ट नहीं करता जितना बुद्धि और मस्तिष्क को। क्योंकि वहां कंठ ध्वनि की विचित्रता द्वारा वे असंभव को भी प्राप्त करना चाहते हैं। भारत में गाने की रीति तो आवश्यक है ही किन्तु गीत पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है किन्तु पश्चिम में श्रोतागण केवल गाने की रीति एवं आवाज़ के वैचित्र्य पर ध्यान अधिक देते हैं। भारतीय संगीतज्ञ पहले संगीतज्ञ हैं फिर और कुछ।

'पाश्चात्य संगीत जहां ईश्वर की कृतियों के आश्चर्य का वर्णन करता है भारतीय संगीत मानव और संसार में उस ईश्वर के आन्तरिक सौन्दर्य का संकेत करता है। भारतीय संगीत उस अनन्त, असंभव मार्ग के लिए उस दैवी आनन्द के प्रति श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करता है।'[1]

पश्चिम में आवाज़ और वाद्य या तो एक दूसरे को सहयोग देते हैं या एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं किन्तु भारतीय संगीत में वाद्य गौण है। वे कंठ-ध्वनि के सौन्दर्य के सहायक मात्र होते हैं। नृत्य वाद्यों का अनुकरण करता है और वाद्य कंठ-ध्वनि का। वाद्य नेतृत्व नहीं करते, केवल आवाज़ के साथ-साथ चलते हैं। पश्चिम में संगीतज्ञ अपनी संगीत रचना की परीक्षा वाद्य-यंत्रों पर करते हैं। उनके संगीत को पग-पग पर वाद्यों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

इसी प्रकार भारतीय संगीत कला अपने स्वर-माधुर्य, शब्द-सौन्दर्य, गाने की रीति, वाद्यों के अनुकरणात्मक आकर्षण, लय, राग, ताल तथा गमक इत्यादि द्वारा

१—'While Western music speaks of the wonders of God's creation, eastern music hints at the inner beauty of the Divine in man and in the world. Indian music requires of its hearer something of that mood of divine, discontent, of yearning for the infinite and impossible.

Mrs. Maun—The Music of India—H. A. Poley, Second Edition, Page 136.

श्रोताओं को चकित एवं आनन्दित कर देता है, उन्हें जिज्ञासा एवं कौतूहल से परिपूर्ण कर असीम आनन्द की ओर ले जाता है। यह भारत की संस्कृति, उस की सभ्यता उसके आदर्शों एवं जीवन-उद्देश्यों का प्रभाव है।

राग और रस :—

कला केवल अभिव्यक्ति ही नही करती, वह मानव हृदय को प्रेरित भी करती है। सुन्दर अभिव्यक्ति सदैव मानव-मन को आकर्षित करती है, उसके भावों को उद्दीप्त करती है और उसे रसानुभूति कराती है। मनुष्य अपनी इस रसानुराग की प्रकृति को संगीत के द्वारा तुष्ट करने में पूर्णतया सफल होता है। संगीत में यह रस-चेतना कंठ-ध्वनि के माध्यम से उत्पन्न होती है। भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि श्रृंगारादि नव रस मनुष्य की प्रकृति की जड़ से सम्बद्ध है। इन आधारभूत भावों का प्रकाशन विभाव व्यभिचारियों एवं अनुभाव के द्वारा होता है। ये भाव विश्वव्यापी है—इन्हें मानव से पृथक् नही किया जा सकता। इन स्थायी भावों में से प्रत्येक भाव मनुष्य को पूर्णतया प्रभावित कर सकता है, वशीभूत कर सकता है। एक कवि ने अतीव सुन्दरता से कहा है कि 'मनुष्य का मस्तिष्क मिट्टी है जिस पर स्थायी भाव वीज के समान है जो विभाव रूपी जल प्राप्त कर अनुभाव रूपी पौधों के रूप में उग आते हैं। व्यभिचारी भाव वे फूल हैं जो बीच-बीच में यथावसर पुष्पित होते हैं। यह पुष्प-विकास ही मधु की उत्पत्ति करता है और यह मधु ही वह रस है जिसे 'रसिक' रूपी मधुमक्खी एकत्र करती है।'[१]

रस की इस प्रक्रिया से राग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। राग का तात्पर्य है 'रंजकता' अथवा 'भावना'। इस दृष्टि से राग का उद्देश्य मानव एवं प्रकृति में शरीर और मन के भावों के विशेष स्वर को उद्‌बुद्ध करना तथा व्यक्त करना है।[२] प्रत्येक राग की रचना किन्हीं विशिष्ट स्वरों के मेल से होती है और भारतीय दृष्टि से इन विशिष्ट स्वरों में विशिष्ट भावों को प्रकट करने व उद्दीप्त करने की सामर्थ्य होती है। इस प्रकार राग का भावनाओं से गहन सम्बन्ध माना जाता है। प्राय: गायक गण कुछ शब्दों को विविध प्रकार के स्वरों में बांध कर नए-नए ढंग से उतार-चढ़ाव के साथ गाते हैं। यह प्रयत्न केवल कला प्रदर्शन के लिए नहीं होता वरन् इसके द्वारा शब्द-सौन्दर्य तथा शब्द में निहित भाव-विशेष के सौन्दर्य तक श्रोताओं की अन्तर्दृष्टि को

१—The Story of Indian Music.—O. Gosvami, Page 228.

२—'The word Raga means colouring of passion'.. ......Its purpose thus is to express and arouse a particular union of passions of body and mind both in man and nature.'—The Story of Indian Music, Page 218.

'Raga Means Passion, emotional and feeling'—Sangit of India, Atiya Begum, Page 50.

ले जाना होता है। इससे तदनुरूप वातावरण की सृष्टि होती है और श्रोतागण उसी भाव में निमग्न होकर 'मैं—पर' की भावना भूल जाते हैं।

अतएव राग का मनोवैज्ञानिक प्रभाव समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किस प्रकार विशेष स्वरों का संयोजन मानव-मस्तिष्क पर विशिष्ट प्रभाव की सृष्टि करता है। इस विषय की जांच भरत और शार्ङ्गदेव द्वारा की गयी। इन आचार्यों ने प्रत्येक स्वर का श्रोता पर प्रभाव सम्बन्धी विश्लेषण किया और प्रत्येक स्वर को एक विशेष भाव के साथ सम्बद्ध किया। श्रुतियों की भावात्मक महत्ता बताते हुए इन आचार्यों का कथन है[1] :—

श्रुतियां	भाव
१—चन्दोवती	शान्ति, शूरत्व एवं उदारता
२—दयावती	दया, कोमलता, स्नेह
३—रंजनी	हर्ष, आनन्द, प्रशंसा
४—रक्तिका	आकर्षण, आश्चर्य, भक्ति, भावना
५—रौद्री	क्रोध, उष्णता, उत्साह
६—क्रोधी	कठोरता, निश्चय
७—वज्रिका	कठोरता, निश्चय
८—प्रसारिणी	विस्तार, जांच, व्याख्या
९—प्रीति	मित्रता, प्रेम, घनिष्ठता
१०—मार्जनी	उपहास, निन्दा, हंसी
११—क्षिति	हानि, कष्ट
१२—रक्त	स्नेह, उत्तेजना, चिन्ता
१३—संदीपिनी	प्रेम अथवा आनन्दपूर्ण उत्तेजना
१४—अलापिनी	एकरूपता, मित्रता, प्रार्थना, विनती
१५—मदन्ती	उत्सुकता, उन्मतता, पागलपन
१६—रोहिणी	शान्ति, एकान्त, धैर्य, गंभीरता
१७—रम्य	शान्ति, एकान्त, धैर्य, गंभीरता
१८—उग्र	भय, भीषणता
१९—क्षोभिणी	विद्रोह, चिन्ता, संघर्ष
२०—तीव्रा	तीक्ष्णता, उष्णता एवं बल
२१—कुमुदवती	सरलता और आनन्द-प्रमोद
२२—मन्दा	उत्साहाभाव, अवकाश-प्राप्ति

इस दृष्टि से प्रत्येक स्वर की भावात्मक महत्ता स्थिर करना सरल होगा। षड्ज का सम्बन्ध तीव्रा, कुमुदवती और मन्दा श्रुतियों से है अतः यह स्वर शान्त रस

१—'The Story of Indian Music'—O. Gosvami, Page 219-220.

प्रधान है। ऋषम स्वर दयावती, रंजनी और रक्तिका श्रुतियों से सम्बद्ध है अतः अद्भुत रस प्रधान है। गान्धार स्वर में रौद्री, क्रोधी एवं वज्रिका श्रुतियों के होने के कारण यह स्वर रौद्र रस से सम्बन्धित है। मध्यम स्वर में प्रसारिणी, प्रीति और मार्जनी श्रुतियां हैं अतः यह शृंगार-रस का कारण है। पंचम का सम्बन्ध क्षिति, रक्ता, सन्दीपनी और अलापिनी से होने के कारण यह स्वर प्रेम सम्बन्धी कामुकता प्रधान है। मदन्ती, रोहिणी, रम्य, उग्र और क्षोभिणी द्वारा धैवत तथा निषाद स्वरों का निर्माण होता है अतः धैवत का सम्बन्ध वीभत्स रस से और निषाद का सम्बन्ध करुण रस से है[1]।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने भी इस बात का संकेत किया है कि भारतीय संगीत के सात स्वर रस-प्रधान हैं :—

हास्य और शृंगार में म तथा प, वीर, रौद्र और अद्भुत में सा तथा रे, करुण रस में ग एवं नि, तथा वीभत्स और भयानक रस में ध स्वर का प्रयोग करना चाहिए[2]।

अन्य संगीताचार्यों ने भी इस विषय का अनुमोदन किया है। शार्ङ्गदेव का कथन है—

'सा और रे वीर, अद्भुत और रौद्र रस को, ध वीभत्स और भयानक रस को, ग एवं नी करुण रस को तथा म और प हास्य एवं शृंगार रस को उद्दीप्त करते हैं।'[3]

पं० अहोबल ने भी सातों स्वरों को सात रसों में विभक्त किया है। उनका कथन है कि—

'स और म हास्य और शृंगार रस में, ध वीभत्स में, नी करुण में, प भयानक रस में, ऋषभ शृंगार रस में और गान्धार हास्य रस में होता है[4]।

नारद का मत भी उसी कथन की पुष्टि करता है—

१—दी स्टोरी आफ इण्डियन म्यूजिक : ओ० गोस्वामी, पृ० २२०।

२—हास्य शृंगारयोः कार्यो स्वरो मध्यम पंचमो। षडजर्समो च कर्तव्यो वीर रौद्राद्भुतेस्वय ॥ गांधारश्च निषादश्च कर्तव्यो करुणे रसे। धैवतश्च प्रयोक्तव्यो वीभत्से च भयानके ॥ —नाट्यशास्त्रः भरतमुनि, एकोनत्रिंशतमोध्यायः पृ० ३३१, श्लोक १७-१८।

३—सरी वीरोद्भुते रौद्रेवां वीभत्से भयानके।
कार्यो ग नी तु करुणे हास्यशृंगारयोर्मपो ॥
—संगीतरत्नाकरः शार्ङ्गदेव (प्रथम भाग), श्लोक ५९, पृ० ९६।

४—समो हास्ये च शृंगारे स्वरो स्यातां तथा ध नी।
पो वीभत्से तथा दैन्ये भयानक रसे भवेत ॥
रसे शृंगार के रि: स्याद्गान्धारो हास्यके पुनः।
संगीत पारिजातेः अहोबल, श्लोक ९४, पृ० २६।

'षड्ज में अद्भुत तथा वीर, ऋषभ में रौद्र, गांधार में शान्त, मध्यम में हास्य, पंचम में शृंगार, धैवत में वीभत्स तथा निषाद में करुण रस होता है'[1]।

संगीत में रस की उत्पत्ति का पूर्ण श्रेय विभिन्न स्वरों के मेल में है। अनुरूप, माधुर्य पूर्ण स्वरों का प्रयोग संगीत को स्फूर्ति, प्रदायक शक्ति को एवं जीवन-शक्ति पूर्ण बनाता है, उसके आकर्षण एवं आनन्द प्रदायिनी शक्ति को बढ़ाता है, जब कि बेसुरे-बेमेल स्वरों का प्रयोग संगीत को मृतप्राय बना देता है।

भारतीय संगीताचार्यों की दृष्टि से प्रत्येक राग का सम्बन्ध किसी न किसी विशेष रस से है। बसन्त ऋतु में बसन्त राग ही गाया जाएगा, पावस ऋतु में मेघ राग की तदनुरूप भावनाओं को उत्तेजित करेगा, ईश्वर-प्रार्थना के लिए भैरव राग ही प्रात: काल में श्रद्धा-भाव से मानव-हृदय को भर देगा, इत्यादि का कारण उन-उन रागों में विशिष्ट स्वरों का ऐसा संयोजन है जिनके सुचारु रूप से गाए जाने पर मानव अनुकूल भावों का अनुभव करता है—उस संगीत में उसे वही वातावरण दृष्टिगत होने लगता है। श्री भातखंडे का भी कथन है कि तीव्र रे, ध और ग वाले राग शृंगार, हास्य और इनके अन्तर्गत रसों के पोषक होते हैं और कोमल ग और नि वाले राग वीर, रौद्र और भयानक रसों के पोषक होते हैं।[2] पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने इसका समर्थन किया है—'यह नितान्त सत्य है कि प्रत्येक राग विशेष रस के लिए होता है।'[3] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक राग में एक ही रस हो सकता है। विविध स्वरों के संयोजन के कारण एक राग में कई रस आ सकते हैं। उदाहरणार्थ राग मालकोश भक्ति रस प्रधान भी है और उससे करुण तथा शान्त रस की उत्पत्ति भी होती है। इसी प्रकार दरबारी राग शृंगार रस-प्रधान भी है और उसे भक्ति रस के अन्तर्गत भी रख सकते हैं।

एक अमेरिकन मनोवैज्ञानिक मेक्स शोएन ने परीक्षा द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि संगीत श्रोता में परिवर्तन अवश्य उत्पन्न करता है। उस परिवर्तन को उसने नौ श्रेणियों में रखा है।[4]

१—स्वप्नावस्था, विनम्रता एवं विश्राम।

२—भावुकता, उत्सुकता, अनुकम्पा, उत्कंठा, द्रवीभूत होना।

१—षडजस्याद्भुतवीरो च ऋषभस्य च रौद्रक:।
गन्धारस्य च शान्ति च हास्यास्यं मध्यमस्य च॥
पंचमस्य च शृंगारो वीभत्सो धैवतस्य च।
करुण च निषादस्य सप्तस्थान रसा नवं॥
—संगीत मकरन्द: नारद: सम्पा० मंगेश रामकृष्ण तेलंग, १९२०, श्लो० ४७-५८।

२—क्रमिक पुस्तक माला (५ वीं पुस्तक) : भातखंडे, १९५४, पृ० ३७।

३—संगीत : संगीत कार्यालय हाथरस, मार्च १९५२, पृ० २५०।

४—Max Sachoon : The Story of Indian Music : O. Goswami, P. 230

३—दुःख, पीड़ा, अर्द्रता।
४—गंभीर, आध्यात्मिक, पवित्र।
५—आनंद, प्रमोद, प्रसन्नता।
६—शोभा, सौन्दर्य।
७—उत्तेजना, तेजस्विता।
८—उत्साह, गौरव, ऐश्वर्य।
९—चेतन, पुलकित, रोमांचित।

ये सभी परिवर्तन हमारे नव रसों के अन्तर्गत आ सकते हैं। अतएव राग का रस से गहन सम्बन्ध है। रस की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है कि जो पद जिस प्रकृति का हो और जिस रस के अनुकूल उसकी रचना हो—उसी के अनुसार राग में उसे गाना चाहिए। शृंगार रस का पद यदि वीभत्स रस प्रधान राग में गाया जायगा तो निश्चय ही उसकी प्रभावशीलता नष्ट हो जायगी। राग और रस के इस सम्बन्ध को हम किवदन्ती मात्र नहीं मान सकते। यह एक सत्य है किन्तु यह भी निश्चय है कि एक ही राग अनेक गायकों द्वारा विविध प्रसंगों पर विविध प्रकार के गीतों द्वारा गाया जाकर श्रोताओं के हृदय पर एक सा प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता—इसीलिए इसका निर्णय करने के लिए कितने ही प्रयोगों की आवश्यकता है। रस-निर्माण के लिए केवल गाने की शैली ही पर्याप्त नहीं, उसके लिए कंठ-ध्वनि का माधुर्य, उच्चारण की शुद्धता, लयात्मकता, गीत के शब्दों का सौन्दर्य तथा किंचित् हाव-भाव भी आवश्यक तत्व हैं। भारी कंठ-स्वर में करुण और शान्त रस-प्रधान राग सुन्दर नहीं लग सकते उसी प्रकार बारीक व हल्के स्वरों एवं आवाज द्वारा रौद्र या वीर रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शंकरा, मालश्री, केदार, कामोद, हमीर आदि राग शांत एवं करुण रस के अनुपयुक्त हैं उसी प्रकार श्री, भैरव जोगिया, आसावरी, तौड़ी, पीलू, भैरवी आदि राग रौद्र अथवा वीर रस के अनुरूप नहीं हो सकते। राग और रस का यह सम्बन्ध भी एक तर्कमात्र है। श्री भातखंडे का कथन है कि—

"विचार करने पर प्रतीत होता है कि राग का रस से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त दुष्कर है। ... ... राग एक सुगन्धित पुष्प के समान होता है। फूल की सुगन्धि से रस की निष्पत्ति नहीं होती परन्तु उससे मन की एक अवर्णनीय आनन्द अवश्य प्राप्त होता है। ... ... उस प्रभाव का वर्णन करना संभव नहीं। ज्यादा से ज्यादा उसको 'नाद-मोह' कहा जा सकता है।"[1]

राग और समय :—

भारतीय संगीत के अन्तर्गत विविध रागों की प्राण-प्रतिष्ठा समय के अनुकूल की गयी है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों की उच्च भूमि पर भारतीय संगीत भी आधारित है। उसका लक्ष्य केवल लौकिक आनन्द, क्षणिक अनुभूति एवं

१—क्रमिक पुस्तक माला—(छठवीं पुस्तक) : भातखंडे : १९५४ ई०, पृ० ३६-३७।

सुख प्रदान करना नहीं है वरन् अपने मूल रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से संगीत आध्यात्मिक साधन का, आत्मिक उन्नति का, ईश्वर-पूजा का तथा अलौकिक जगत् की ओर आने का एक दुर्लभ माध्यम रहा है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए रागों के समय निर्धारित कर दिए गए हैं और यह विश्वास किया जाता है कि समयानुकूल गाए जाने पर ही कोई राग प्रभावशील हो सकता है अन्यथा नहीं। संगीताचार्यों ने राग की प्रकृति तथा स्वरों के मेल की दृष्टि से उनके समय का निर्धारण किया है। प्रकृति का गहन अध्ययन करके विद्वान संगीताचार्यों ने यह तथ्य निकाला है कि विशिष्ट काल में विशेष ध्वनि-समूह विशिष्ट प्रकार के स्वर-समुदायों से अनुरूपता रखते हैं। रागों में कुछ स्वर-समूह उग्र, भीषण, तीक्ष्ण होते हैं अतः उनका प्रातःकाल गाया जाना शोभनीय नहीं होगा वरन् उसके लिए दुपहर के तीव्र वातावरण की अपेक्षा होगी। उसी प्रकार उषाकाल के शान्त, शील तथा संध्या के मधुमय, शृंगार-मय वातावरण में उसी प्रकृति के राग सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण लगेंगे। तात्पर्य यह कि भारतीय संगीताचार्यों ने प्रातःकाल, मध्यान्ह, संध्याकाल एवं रात्रि के वातावरण का अध्ययन एवं सूक्ष्म निरीक्षण करने के उपरान्त विविध रागों के गाने का समय निर्धारित किया है। पं० लोचन ने रागों के समयानुकूल गाने का समर्थन करते हुए कहा है—'समयानुकूल प्रारम्भ किया हुआ गीत रंजक एवं मधुर होता है।'[१] श्री भातखंडे ने समय को राग का मुख्य तत्व स्वीकार किया है। उनके मत में प्रत्येक स्वर में कुछ ऐसा गुण व वैशिष्ट्य होता है कि उससे समय का बोध हो जाता है और वह उसी समय पर प्रभावपूर्ण लगता है। उदाहरणार्थ ध प अथवा ध प स्वर लम्बे रूप से उच्चारण करने पर तत्काल प्रातःकाल का संकेत हो जाता है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में दोनों मध्यम वाले राग भी गाए जाते हैं परन्तु उनमें तीव्र मध्यम अधिक नहीं होता।[२] रागों का सायंप्रातर्गेयत्व बताते हुए वह पुनः कहते हैं :—

"राग के मुख्य अंग को बदलने वाले स्वर अथवा अपनी राग पद्धति के मार्ग-दर्शक स्वर रे, ग, ध और नि हैं। ... ... यदि किसी राग में जहां-तहां तार षड्ज चमकने लगे तो उसमें प्रातर्गेयत्व की छाया पड़ने लगती है। सायंगेयत्व रागों में तार षड्ज की प्रबलता दुःसह होती है। सायंकाल के समय राग-वैचित्र्य रे, ग और प स्वरों पर तथा तीव्र मध्यम पर निर्भर होता है। ... ... ग-प और प-ग स्वरों के उच्चारण द्वारा भी प्रातर्गेयत्व और सायंगेयत्व दिखाया जा सकता है।"[३]

इसी प्रकार दोपहर तथा उसके बाद गाए जाने वाले रागों में स्वरों की प्रमु-

१—यथा काले समारब्धं गीतं भवति रंजकम्।
तत: स्वरस्य नियमाद्रागेऽपि नियमः कृतः॥
—राग तरंगिणी : लोचन, १९१८ ई०, पृ० १३।

२—क्रमिक पुस्तक माला (५ वीं पुस्तक) : भातखंडे, पृ० ४२।

३—वही, पृ० ३८।

खता के विषय में उनका कथन है—

"दोपहर १२ बजे के उपरान्त क्रमशः सा, म और प स्वरों की प्रबलता बढ़ती है। ... ... अपरान्ह काल के रागों के आरोह में रे और ध स्वर दुर्बल अथवा वर्ज्य हो जाते हैं। ठीक दोपहर को ऋषभ और निषाद स्वर बहुत जोरदार हो जाते हैं।"[1]

रागों के समय-निर्धारण का मुख्य केन्द्र तीव्र म है। इसीलिए इसे 'अध्वदर्शक' अर्थात् मार्ग-प्रदर्शक कहा जाता है। निष्कर्ष रूप में जो राग दोपहर १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक गाए जाते हैं उन्हें 'पूर्ण राग' कहा जाता है और जो रात्रि के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक गाए जाते हैं उन्हें 'उत्तरराग' कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य नहीं कि निश्चित समय के अतिरिक्त उन रागों को अन्य किसी समय पर गाया ही नहीं जा सकता। परिस्थिति अनुसार समय-सिद्धान्त को शिथिल कर देने का संकेत पं० दामोदर ने किया है—

यथोक्तकाल एवेते गेयाः पूर्वविधानतः।
राजाज्ञया सदागेया नतु कालं विचारयेत्॥[2]

लेकिन यह अवश्य सत्य है कि कोई भी राग निश्चित समय के विपरीत गाया जाने पर, अपने लालित्य, माधुर्य, आकर्षण एवं प्रभाव को खो देता है श्रोता उसमें रसमग्न नहीं हो पाता और न उतना आनन्दानुभव ही कर पाता है। नारद ने तो यहां तक कहा है कि "असमय पर राग गाने से राग की हत्या हो जाती है तथा जो उस राग को सुनता है वह दरिद्र हो जाता है और उसका सर्वथा नाश हो जाता है।"[3]

राग और ऋतु :—

भारतीय संगीत में रागों के साथ ऋतु का भी अत्यधिक महत्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है। सम्पूर्ण भारतीय कला प्रकृति की आश्रयभूत रही हैं। भारतीय संगीत के साथ भी प्रकृति सम्बद्ध है। अतएव यहां कुछ राग ऋतुकालीन माने गये हैं। उन रागों को उसी ऋतु में गाने का विधान है अन्यथा उनके सौंदर्य का विनाश हो जायगा। भारतीय संगीतज्ञों का यह विचार है कि रागों में कुछ प्राकृतिक गुण होते हैं जो उनका सम्बन्ध विशेष ऋतुओं से स्थापित कर देते हैं। इस गुण का कारण स्वर है। अर्थात् कुछ स्वर ऐसे उग्र, तीक्ष्ण स्वाभाव के होते हैं जो ग्रीष्म ऋतु में ही सुन्दर लग सकते हैं। कुछ ऐसे शीतल, स्वभाव के होते हैं जो जाड़े की ऋतु में ही सुखप्रद लगते हैं।

१—क्रमिक पुस्तक माला (५ वीं पुस्तक) : भातखंडे, पृ० ३८।

२—संगीत दर्पण : दामोदर, श्लोक २६, पृ० ७६।

३—रागवेला प्रगानेन रागानाम् हिंसकी भवेत्।
य: स शृणोति स दारिद्री च नश्यति सर्वदा॥
—संगीतमकरन्द : नारद, तृतीय पाद, पृ० १५।

इस प्रकार विविध राग विविध ऋतुओं से सम्बन्धित माने जाते हैं। उदाहरणार्थ मेघ राग पावस ऋतु में ही शोभनीय लगता है क्योंकि उसमें स्वरों की प्रकृति वर्षाऋतु के अनुकूल है। वसन्त राग को वसन्त ऋतु में ही गाने का विधान है। इस राग को वसन्त ऋतु में गाने से वासन्ती सौन्दर्य का दृश्य जैसे प्रत्यक्ष हो जाता है। रामकली राग को सुनकर लगता है जैसे वस्तुतः कोयल कुहुकने लगी। हिंडोल राग सावन के महीने में झूले के हिंडोलों के साथ अत्यन्त ही सुहावना प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि राग और ऋतु की यह घनिष्ठता केवल कपोल कल्पना-मात्र नहीं है वरन् यह यथार्थ सत्य है कि प्रत्येक राग-रागिनी अनन्य प्रभावमयी तभी हो सकती है जब उसमें पद के शब्द, भाव, रस, समय, ऋतु, स्वर, कंठध्वनि, लय, ताल आदि विविध तत्वों का पूर्णतः ध्यान रक्खा जाय। इन्हीं सम्पूर्ण तत्वों के कारण हमारे यहां कुछ राग-रागिनियों को विशेष प्रभावों से युक्त माना गया है। तानसेन द्वारा दीपक राग गाए जाने पर अग्नि का प्रज्वलित होना इतिहास प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त मेघ राग द्वारा वृष्टि होना, मालकोश के प्रभाव से पत्थर का पिघलना, सारंग राग द्वारा पशु का मुग्ध होना, वसन्त राग द्वारा पुष्पों का विकसित होना, भैरव राग द्वारा भक्ति-पूर्ण प्रकृति होना इत्यादि जगत् प्रसिद्ध है। आज के वैज्ञानिक युग में हम भले ही इन कथनों का समर्थन न करें किन्तु इतना तो पूर्ण सत्य है कि भैरव राग में भक्ति पूर्ण पद को सुनकर कुछ समय के लिए चंचल प्रवृत्तियां जैसे शांत हो जाती हैं और मानव हृदय भक्ति-रस में निमग्न हो जाता है। सोहनी राग को सुनकर हृदय जैसे करुणा से भीग उठता है। नट राग श्रोता को वीर रस से आपूर्ण कर देता है। व्यावहारिक दृष्टि से बीन द्वारा सर्प का मुग्ध होना, उस पर नृत्य करना तथा बीन द्वारा मृग का मुग्ध होना तो नित्य प्रति का अनुभव है। यह भी सत्य है कि वे राग जो कि आशा, उमंग, उत्साह हर्ष, आनन्द एवं प्रेरणा के कारण हैं उनके द्वारा निराश बीमारों की चिकित्सा की जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुकूल राग में गाया गया गीत बीमार हृदय को प्रभावित कर उसके स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हो सकता है। उदाहरणार्थ मेघ राग आशा एवं नवजीवन का संदेश देता है अतः यह राग बीमारों के लिए अत्यधिक सहायक माना जाता है।[१] श्री एस० एम० टैगोर ने मेघ राग की इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि मेघ वर्षा ऋतु का राग है और इसका सम्बन्ध अत्यन्त आनन्द भाव के साथ है जैसा आनन्द वर्षाऋतु आने पर भारत में अनेकों मनुष्यों को होता है।[२]

१—"It is a Raga of hope and new life ... This Raga is said to be helpful for patients suffering from tuberculosis.

—The Music of India : H.A. Popley, Page. 71.

2—"Megh is the Raga of the Rainy Season and is allied with the emotion of exubirant joy such as the coming of the rainy season means to so many in India."

—Sir S.M. Tagore : The Music of India H.A. Popley, Page 65

संगीत की उत्पत्ति :—

यह एक विवादग्रस्त विषय है। वस्तुतः संगीत-शास्त्र जितना अधिक प्राचीन है उतना ही अधिक अगाध भी। इसकी उत्पत्ति के विषय में विविध मत हैं। विशेष बात यही है कि अधिकतर मत धर्म की पृष्ठभूमि पर आधारित है। फिर भी इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संगीत की उत्पत्ति विश्व भर में सर्वप्रथम हुई और भारतीय संगीत ही विकसित होकर विश्व का पथ-प्रदर्शक बना। संगीत शास्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न परम्परायें हैं :—

१—वेद-परम्परा
२—आगमों और पुराणों की परम्परा
३—ऋषि प्रोक्त संहिता परम्परा

वेद परम्परा में संगीत की दृष्टि से सामवेद महत्वपूर्ण है क्योंकि संगीत का आदि-स्थल सामवेद ही माना जाता है :—

सामवेदादिदं गीतं सज्जग्राह पितामहः ॥

अर्थात् पितामह ब्रह्मा ने सामवेद से गीत ग्रहण किया। गीत और वाद्य में क्रमशः नारद और स्वाति ने ब्रह्मा से शिक्षा ग्रहण की। इन दोनों से ही भरतमुनि ने गीत और वाद्य को नाटक में प्रयोग करने के लिए सीखा। संगीत और नाटक के आचार्य भरतमुनि का कथन है :—

गान्धर्वं चैव वाद्यं च स्वातिना नारदेन च ।
विस्तार गुणसम्पन्नम् उक्तं लक्षण कर्मतः ॥
अनुवृत्या तथा स्वातेरातोद्यानां समासतः ।
पौष्कराणां प्रवक्ष्यामि निर्वृति संभवं तथा ॥[1]

महर्षि नारद का आदि ग्रन्थ 'नारदीय शिक्षा' है वही सामवेद की शिक्षा है। उमेश जोशी ने संगीत की उत्पत्ति बताते हुए 'शिव प्रदोष' स्तोत्र को उद्धृत करते हुए लिखा है[2]—

अर्थात् ब्रह्मा जी ने जिस संगीत को सोचकर निकाला, भरत मुनि ने महादेव जी के सामने जिसका प्रयोग किया तथा जो मुक्तिदायक है, वह मार्गीय संगीत कहलाता है।

उमेश जोशी ने भी संगीत की उत्पत्ति के सम्वन्ध में इस प्रकार के धार्मिक दृष्टिकोण का वर्णन किया है—

"कहा जाता है कि संगीत पहले ब्रह्मा जी के पास था। .... ब्रह्मा जी ने यह कला शिवजी को दी और शिव के द्वारा देवी सरस्वती को प्राप्त हुई।........ सरस्वती जी से संगीत कला का ज्ञान नारद जी को प्राप्त हुआ, नारद ने स्वर्ग को गन्धर्व, किन्नर, एवं अप्सराओं को संगीत शिक्षा दी। वहां से ही भरत, नारद, और हनुमान प्रभृति ऋषि संगीत कला में पारंगत होकर भूलोक पर संगीत कला के प्रचारार्थ अवतीर्ण हुए।"[१]

आगमों और पुराणों की परम्परा:-

इस परम्परा के अन्तर्गत संगीत के आदि कर्ता महादेव माने जाते हैं। इस परम्परा का एक ग्रंथ गान्धर्व नाम से प्रचलित था जिसमें शिव-पार्वती के संवाद सम्वन्धी ३६००० श्लोक थे किन्तु अव यह ग्रंथ प्राप्य नहीं है। इसी परम्परा में नन्दिकेश्वर कृत 'नन्दिकेश्वर संहिता' भी है—यह ग्रंथ भी अव अप्राप्य है।[२]

ऋषि प्रोक्त संहिता परम्परा :-

इस परम्परा का मुख्य ग्रंथ 'काश्यपीयम्' है। यह ग्रंथ भी अव नहीं मिलता। किन्तु नाटक और संगीत विषयक विचारों की दृष्टि से आगम ग्रंथ महत्वपूर्ण है। ऐसा विद्वानों का विचार है।[३]

इस प्रकार संगीत की उत्पत्ति के विषय में कोई भी निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। संगीत का सम्वन्ध देवी-देवताओं से ही माना गया है यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से भारतवर्ष में संगीत को आत्मशान्ति और ईश्वरोपसना का पवित्र साधन माना जाता रहा है। संगीत का मुख्य सम्वन्ध यहां नैतिकता, ईश्वर-पूजा एवं आध्यात्मिक उन्नति से रहा है। इसीलिए यहां नृत्य, गीत, वाद्य तीनों के अन्तर्गत संगीतकी कलात्मक आभा एवं स्वर-साधना पर विशेष वल दिया जाता है।

वैदिक युग में संगीत :-

संगीत की दृष्टि से वैदिक युग इतना सम्पन्न था कि उसकी छाप संसार में वहुत अधिक पड़ी। ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम ग्रंथ है। इसमें संगीत-सम्वन्धी पर्याप्त सामग्री मिलती है। इसके सभी मंत्र संगीतमय हैं। वैदिक युग में नृत्य, गीत, वाद्य तीनों का ही विविध अवसरों, उत्सवों पर प्रचलन था।

१—भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास : उमेश जोशी, पृ० १।
२—संगीत शास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, पृ० ४।
३—वही, पृ० ४।

मि० अलकरोटार्नी का कथन है—[1]

"इस युग में हमें गायक और वादक एवं नर्तक तीनों प्रकार के कलाकार मिलते हैं। ... ... नृत्य अपनी उच्चता की पराकाष्ठा पर था। वीणा वाद्य का प्रयोग इस युग में होता था। ... ... महिलायें कण्ठ-संगीत में विशेष दिलचस्पी लेती थीं—वे नृत्य भी करती थीं।"

वैदिक काल में संगीत गायन के साथ नृत्यकला भी प्रचलित थी इसका प्रमाण हमें ऋग्वेद में मिलता है—

"नृत्यमतो अमृता" (५।३३।६)

नृत्य तथा क्रीड़ा के प्रमाण अन्य स्थलों पर भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ अष्टम अध्याय में यह कहा जाता है कि "आज हमारा पितृमेध यज्ञ कल्याणकर हो। हम उत्तम रीति से नर्तन और क्रीडन के लिये समर्थ हों।"[2]

इसी प्रकार राजा यम को प्रसन्न करने के लिये वेणु बजाने का संकेत भी किया गया है।[3]

"आर्य स्त्रियां अपना अधिकतर समय नृत्य, गान तथा वाद्य वादन में व्यतीत करती थीं। विविध पर्वों, उत्सवों, पूजा के अवसरों आदि के समय तथा मनोरञ्जन या खेल-कूद के अवसरों पर भी नृत्य, गीत और वाद्यों का महत्वपूर्ण स्थान था।[4]

वैदिक युग के संगीत का शक्तिशाली प्रतीक "समन" है।[5] यह एक प्रकार का वर-वधू महोत्सव कहा जाता था जिसमें सामूहिक नृत्य, गायन व वाद्य वादन का प्रचार था।

संगीत का प्राण तो सामवेद है क्योंकि सामवेद का उद्देश्य ही यज्ञों में देवताओं की स्तुति के लिये संगीतात्मक ऋचाओं को संग्रहीत करना है। इसी वेद के द्वारा संगीत को नियम और विधान में आबद्ध कर दिया गया। इस समय साम-गान का ही अधिक प्रचलन था जैसा कि सामवेद में स्थान-स्थान पर मिलता है—

1—The chapters of Indian Music : Mr. Alkarotarny, Page 15.

२—हिन्दी ऋग्वेद : रामगोविन्द त्रिवेदी (भाषान्तरकार और संपादक), १९५४ ई० पृ० १२३५ सूक्त १८।

३—वही, पृ० १४२८, सूक्त १३५।

4—'Music', ringing and dancing played an important part in the ritual of sacrificial ceremonies, the celeberation of festivals and of course; were indispensable on all occasions of sport or merry making.—Wilson Raghavan, Pisharoti and Vidyabhushan : The Theatre of the Hindus, 1955, page 206.

५—'संहोत्र स्म पुरा नारी समन वाव गच्छति" — ऋग्वेद।

आधुनिक हिन्दी नाटक

[आधुनिक हिन्दी नाटक का संगीत के संदर्भ में विशिष्ट अध्ययन]

डा० गिरीश रस्तोगी

प्राध्यापिका : हिन्दी-विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय

गोरखपुर

"इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ॥ ८ ॥ (४-४)[1]
"इन्द्रमिद्‌गाथिनो बृहदिन्द्रमर्कभिरर्किणः ॥ १ ॥ (३-२)[2]
(गान योग्य बृहत् साम से गायकों ने इन्द्र का स्तवन किया।)

कहा जाता है कि साम-गान में केवल तीन स्वरों का प्रयोग होता था—(१) उदात, (२) अनुदात, (३) स्वरित। पाणिनि और यज्ञवल्क्य के अनुसार इन्हीं तीन स्वरों से सप्त स्वरों की उत्पत्ति हुई।[3]

उदात्त से नि और ग, अनुदात्त से रे और ध, तथा स्वरित से स म प उत्पन्न हुए।

अर्थात् इन सप्त स्वरों का प्रयोग वैदिक काल में सामगान के अन्तर्गत होने लगा था, इसका प्रमाण मिलता है—

"सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः माराङ्कशिक्षा"[4]

इस प्रकार वैदिक युग का संगीत विश्व के प्राचीनतम और पवित्रतम साहित्य तथा संगीत का जीता-जागता उदाहरण है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में संगीत भारतीय जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। यजुर्वेद के एक सूक्त से भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि यज्ञ के समय नृत्य-गीत का प्रचार था तथा शैलष जाति का अस्तित्व था।

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के ३०वें अध्याय में निम्न उद्धरण प्राप्त होता है—

"नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं........"[5]

(अर्थात् नृत्य (ताल लय के साथ नाचने) के लिए सूत को गीत के लिए शैलूष को)।

संगीत और नाटक

नाटक का मूल स्रोत वैदिक मंत्रों को ही माना जाता है। इस युग में नाटक का पृथक् अस्तित्व नहीं था वरन् वह संगीत-नृत्य, वाद्य के अन्तर्गत विद्यमान था। संवाद, नृत्य एवं वाद्य वैदिक काल में प्रचलित थे और ये तीनों ही नाटक के आवश्यक अंग हैं इसमें कोई संदेह नहीं। मैक्समूलर का अनुमान है कि भारतीय नाट्य के आदि स्रोत वेदों में उपलब्ध कर्मकांड के मंत्र हैं।[6] डा० दास गुप्ता का भी मत है कि "वैदिक मंत्रों में नाटकीय तत्व विद्यमान हैं और तत्कालीन धार्मिक संगीत और नृत्य के साथ

१—सामवेद, पृ० ८३।
२—वही, पृ० १६९।
३—पाणिनि शिक्षा : सिद्धान्त-कौमुदी : सं० रामगोपाल शास्त्री, पृ० ८२५।
४—सामवेद
५—यजुर्वेद भाष्यम् : श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामिना निर्मितम् (तृतीय भाग), १९८१ वि० छठा मंत्र, पृ० ६८८।
६—Maxmuller's version of the Rgveda, Vol. 1, Page 173।

नाटक का सम्बन्ध अवश्य रहा है।[१]

वेदों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण में भी रंगशाला तथा संवादों के अभिनय के साथ संगीत के प्रचार का यदा-कदा वर्णन मिलता है जिससे संगीत तथा नाटक के अन्दर जनता की अभिरुचि का ज्ञान होता है। राम के राज्याभिषेक का वर्णन करते समय वाल्मीकि ने लिखा है कि "नटो नर्तकों और गाते हुए गायकों के कर्ण सुखद वचनों को जनता सुन रही थी।"[२]

"नटनर्त्तकसंघाना गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः सुश्राव जनता ततः ॥ १४ ॥

अयोध्याकांड के ही ६८वें सर्ग में राम का वनवास हो जाने के उपरान्त भरत की मानसिक स्थिति को शांत करने के लिए "कोई वीणादिक वजाने लगे, कोई नाचने लगे और कोई-कोई नाटकशास्त्र के खेल खेलने लगे।"[३] इस प्रकार के नृत्य-गान के समारोहों का उल्लेख वाल्मीकि ने स्थान-स्थान पर किया है।

कृष्ण का वंशी-वादन एवं उसकी मंत्र-मुग्धता प्रसिद्ध ही है। इस काल में भी संगीत के साथ-साथ अभिनय का संकेत कहीं-कहीं मिल जाता है। विराट पर्व में अभिमन्यु के विवाहोत्सव पर नटों, मागधों आदि द्वारा अतिथियों के मनोरंजन करने का वर्णन मिलता है।[४] स्वयं युधिष्ठिर द्वारा कलाकारों, नर्तकों आदि को आर्थिक सहायता देने का संकेत किया गया है। हरिवंश पर्व में प्रद्युम्न विवाह के प्रसंग में घन, सुषिर, मुरज आदि तंत्री के वाद्य के मध्य "गंगावतरण" की कथा का अभिनय देव गान्धार में होने लगा।[५] इससे सिद्ध होता है कि महाभारतकाल में नाटक और संगीत का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध था और दोनों का मिश्रित रूप ही जनता को आनन्दित करने में समर्थ हो पाता था।

भागवतपुराण तथा अन्य पुराण भी संगीत और नाटक के प्रचलन की ओर संकेत करते हैं। भागवत पुराण में विजयी कृष्ण के स्वागतार्थ द्वारिका में मनोरंजन सम्बन्धी आयोजन का स्पष्ट उल्लेख है—"नट, नर्तक, गन्धर्व, सूत, मागध, वन्दी आदि ने उत्तम श्लोक गाए—

१—History of Sanskrit Literature : S. N. Das Gupta and S. K Das, Vol. 1. 1947, Page 44.

२—वाल्मीकीय रामायण : पं० महेश दत्त, द्वि० संस्क०, अयोध्या कांड, सर्ग ५, पृ० १८४।

३—वाल्मीकीय रामायण : पं० महेशदत्त, द्वि० संस्करण, अयोध्याकांड, सर्ग ५, पृ० ३८६ श्लोक ४।

४—गायनाख्यानशीलाश्च नटवेतालिकास्तथा।
स्तुवंतस्तानुपातिष्ठन्सताश्च सह मागधैः ॥ २९ ॥
—महाभारत : विराट पर्व : अध्याय ७२, पृ० २९७।

५—महाभारत : हरिवंश पर्व : अध्याय ९१-९७।

"नटनर्तकगन्धर्वाः सूत मागध वन्दिनः ।
गायन्ति चोत्तमः श्लोक चरितान्यद्भुतानि च ॥ २० ॥[१]

'हरिवंशपुराण' में 'आगान्धारराराम्' आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि गान्धार राग महाभारतकाल में प्रचलित था । —ग्राम राग, मूर्च्छना, नृत्य, नाट्य, वाद्य आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है । —नील कंठ कहते हैं—"एवमेप नर्तकी प्रवेशा भरतस्यानुमतः ।"[२]

वायु पुराण में तो संगीत-शास्त्र की आलोचना ही की गयी है । वृहदधर्म पुराण में भी संगीत की विशद आलोचना है । मार्कण्डेय पुराण में ऋतध्वज के अभिनय प्रेमी होने का वर्णन मिलता है । वह कविता, संगीत, नाटक, क्रीड़ा आदि में समय व्यतीत करता था—

कदाचित काव्य संलाप गीत नाटक सम्भवैः ।
रेमे नरेन्द्र पुत्र सो नरेन्द्र तनयैः सह ॥[३]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नट, नर्तक, वादक, गायक, चारणों आदि का उल्लेख मिलता है।" उस समय नट, नर्तक, गायक, वादक कथा सुनाकर जीविका कमाने वाले, कुशी लव (नृत्य के साथ गाने वाले) प्लवक (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), सौमिक, ऐन्द्रजालिक, चारण आदि विद्यमान थे ।[४]

एतेन नट-नर्तकगायकवादकवाग्जीवन कुशीलवप्लवकसौमिक चारणानां
स्त्रीव्यवहारिणां स्त्रियौ गूढ़ा जीवाश्च व्याख्याताः ॥

अर्थशास्त्र यह भी बताता है कि गणिका, दासी तथा अभिनय करने वाली नटियों को गाना, बजाना, अभिनय करना, लिखना तथा चित्रकारी, वीणा, वेणु तथा मृदंग बजाना आदि का प्रबन्ध राज्य की ओर से होना चाहिये ।-[५]

गीतवाद्यपाठ्यनृत्तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणुमृदंगपरिचितज्ञानगन्धमाल्य
संपूहन-सम्पादन-सम्वादन-वैशिककला ज्ञानानि गणिका दासी
रंगोपजीविनीश्च ग्राह्यता राजमंडलादाजीवं कुर्यात् । कौटिल्य
अर्थ शास्त्र ॥४१॥

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय जीवन में संगीत एवं नाटक दोनों का स्थान था जिसमें संगीत प्रधान अवश्य था और नाटक संगीत का ही अंग था तथा उसी रूप में नृत्यादि के द्वारा विकसित हो रहा था । साथ ही

१—भागवतपुराण, स्कन्द १, अध्याय ११ ।
२—भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास : उमेश जोशी, पृ० १०० ।
३—मार्कण्डेय पुराण : अनुवादक अक्षयवट मित्र : संवत् १९६४ का सं० स्करण, अध्याय २०, पृ० ९५, श्लोक संख्या ४ ।
४—कौटिल्य अर्थशास्त्र—अनुवादक प्राणनाथ विद्यालंकार : प्रकरण ४४, पृ० ११२ ।
५—वही, पृ० ११२ ।

अभिनय की कला को राज्य की ओर से प्रश्रय मिल रहा था।

नाटक की दिव्य उत्पत्ति के विषय में यदि सूक्ष्मतः निरीक्षण किया जाय तो यह पूर्ण संकेत उपलब्ध हो जाता है कि नाटक और संगीत का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था। नाट्य का सम्बन्ध आदि महापुरुष भरतमुनि से है। भरत ब्रह्मा के शिष्य कहे जाते हैं। इसी कारण नाट्य शास्त्र में भरत ने ब्रह्मा को प्रधानता दी है। भाव-प्रकाशकार शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने भरत और उनके पुत्रों से कहा—"नाट्य-वेद भरतं—अर्थात् नाट्यवेद का भरण या धारण करो। तभी से उनका नाम भरत पड़ा। भरतमुनि के अनुसार इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने ब्रह्मा से सभी श्रेणी के मनुष्यों के लिए समर्थ पंचवेद की रचना के लिए प्रार्थना की। इस कार्य के लिए ब्रह्मा ने चारों वेदों पर विचार किया और अन्ततः उन्होंने ऋग्वेद से "पाठ्य", साम-वेद से 'गीत', यजुर्वेद से 'अभिनय' (नृत्य सहित) तथा अथर्ववेद से 'रस' लिए और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देने वाले 'नाट्यवेद' की रचना की—

> जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥[1]
> ऋग्यजुः सामवेदभ्यो वेदाश्चाथर्वणः क्रमात्।
> पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः ॥[2]

इस प्रकार देवासुर संग्राम से थके हारे व्यक्तिओं के हृदय को विश्रान्ति प्रदान करने के लिए एवं उनके मनोरंजनार्थ ब्रह्मा ने 'नाट्यवेद' की रचना की। इसी मनोरंजन को ध्यान में रखकर भरत ने नाटक के अन्तर्गत गीत, वाद्य, नृत्य को प्रमुखता प्रदान की।

भरतमुनि ने नाटक-उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा भी दी है जो निम्न रूप में है—

"जब नाट्यकला का निर्माण हो चुका तो इन्द्रादि देवताओं द्वारा उसके अभिनय की असमर्थता प्रकट करने पर ब्रह्मा ने भरतमुनि को नाटक-अभिनय का कार्य सौंपा। देवताओं में स्त्री पात्रों का अभाव था अतः अप्सराओं का सृजन हुआ। भरत मुनि ने देव और अप्सराओं के द्वारा 'अमृतमंथन' नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इससे यह सिद्ध होता है कि अप्सराओं के गान एवं नृत्य को नाटक में स्थान दिया गया। पुनः शिव के परामर्श से 'त्रिपुरदाह' नाटक खेला गया। अभिनय से शिव प्रसन्न हुए, किन्तु नृत्य का अभाव देखकर उन्होंने कहा—

तब स्वयं शिव ने नृत्य किया जिसे अभिनेताओं ने सीखा। इस कथा के द्वारा भी नाटक में संगीत की आवश्यकता व महत्व पर प्रकाश पड़ता है भले ही वह संगीत नृत्य के रूप में रहा हो अथवा गीत एवं वाद्य के रूप में। इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने नाटक को पारलौकिक कल्याण का साधन माना है। नाटक की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि नाट्य क्रीडा, अर्थ, शान्ति, हास्य, युद्ध, काम, वध सभी दृष्टियों से सम्पन्न है—

> धर्मो धर्म प्रवृत्तानां कामः कामार्थसेविनाम्।
> निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया॥
> वलीवानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
> अबौधानां निबोधश्च वैदग्ध्यं विदुषामपि॥
> ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्य्यं दुःखार्दितस्य च।
> अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचैतसाम्॥[1]

इस स्थल पर पुनः उनका कथन है कि नाटक लोकोपदेश का सर्वोत्तम साधन है। न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प, न विद्या, न कला, न योग और न कोई कर्म जो इस नाटक में दृष्टव्य न हो। सब प्रकार के शास्त्र, शिल्प, एवं कर्म नाटक में दृष्टव्य हैं।[2]

नाटक की इन विशेषताओं की दृष्टि से तथा उसके पारलौकिक आनन्द एवं मोक्ष के उद्देश्य को सफलीभूत करने के लिए संगीत सर्वश्रेष्ठ सहायक था क्योंकि संगीत लौकिक पारलौकिक दोनों सुखों के लिए अपने आप में पूर्ण माना जाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि दर्शक तथा अभिनेताओं के बीच तादात्म्य स्थापित करने के लिए एवं 'में' और 'पर' की भावना को मिटाने के लिए भरतमुनि ने संगीत को नाटक में अनिवार्य तत्व स्वीकार किया। केवल गीत में रंजकत्व एवं प्रभावपूर्णता उतनी नहीं होती है। नृत्य और वाद्य मिलकर उसकी रंजनात्मकता में वृद्धि करते हैं। इसी कारण नाटक में संगीत के तीर्यत्रिक रूप—गीत, वाद्य, नृत्य—को स्वीकार किया गया। तात्पर्य यह कि भरतमुनि ने नाटक एवं संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध को स्थापित किया जिसका अनुसरण संस्कृत तथा हिन्दी के नाटककारों ने वर्षों तक किया।

संस्कृत नाटकों में संगीत की परम्परा :—

पूर्व विवेचन में यह दिखाया जा चुका है कि वैदिक काल से ही जन-जीवन के बीच नाटक का किंचित स्वरूप विद्यमान था। वैदिक साहित्य, इतिहास पुराण और लोक गीत आदि प्रेरणा पाकर ही संस्कृत नाटक परिष्कृत रूप में हमारे सम्मुख आए। ऋग्वेद काल में हम देख चुके हैं कि नृत्य, गीत, वाद्य, अभिनय तथा संवाद

१—नाट्यशास्त्र : अध्याय १, पृ० ९, श्लोक सं० १०५-१०७।

२—नाट्यशास्त्र : अध्याय १, पृ० ९, श्लोक सं० ११३-११४।

एक दूसरे से सम्बन्धित थे। संगीत के साथ-साथ नाटक का जन्म हो रहा था। उसका विकास अवश्य स्वतन्त्र रूप में नहीं हो पाया था। लोक-जीवन में प्रचलित नाटक नृत्य एवं गीत से पूर्ण होते थे क्योंकि जनता की रुचि यथार्थ जीवन की ठोस धरातल की ओर उतनी नहीं थी जितनी उत्सव मनाने, आनन्दानुभव करने तथा हर्षातिरेक में मस्त हो जाने की ओर थी। इसी कारण वे नाचकर, गाकर, अभिनय किया करते थे और अपनी मनोरञ्जन प्रिय प्रवृत्ति को संतुष्ट करते थे। भरतमुनि ने जन-जीवन में नाटक की ओर यह विशिष्ट प्रेम-प्रवाह एवं रोचकता देखकर नाटक-कला को नियमों में बांधकर उसका गम्भीर विवेचन किया और उसे एक परिष्कृत तथा विकसित साहित्य का रूप प्रदान किया। डा० दशरथ ओझा का कथन है—

"जन नाटक तो स्वाभाविक रूप में जन-समुदाय में विद्यमान थे ही, केवल इतना ही अवशिष्ट था कि जन-नाटकों का अभिनव संस्कृत रूप उपस्थित किया जाय जिससे समस्त वर्णों एवं सभी जातियों का मनोरञ्जन तथा उन्नयन हो। यही काम भरत मुनि ने किया।"[1]

अस्तु यह नितान्त सत्य है कि जन-समूह की रञ्जन-प्रवृत्ति को देखते समझते हुए सर्वप्रथम भरत ने ही नाट्यशास्त्र में नाटक के साथ-साथ संगीत का भी विशद विवेचन किया।

संगीत की यह धरोहर हमें संस्कृत नाटकों में अपने अक्षुण्ण रूप में प्राप्त होती है। नाट्यकला तथा संगीत कला के शास्त्रीय विवेचन के उपरान्त संस्कृत में साहित्यिक नाटकों की परम्परा विकसित हो चली। इन संस्कृत नाटकों का उद्देश्य भाषा एवं भावों के योग द्वारा उस रस का साधारणीकरण करना व काव्यानन्द की अनुभूति करना था जिसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसी "काव्यानन्द की सृष्टि करने के हेतु संस्कृत नाटककारों ने संगीत का प्रश्रय लिया क्योंकि संगीत मानव-मन का अधिक स्पर्श करता है अत: आनन्दानुभूति का कारण होता है। एक विशेष बात केवल यह है कि इन नाटकों में नृत्य एवं वाद्य का जितना प्रयोग किया गया है उतना गीत का नहीं। विभिन्न उत्सवों के शुभावसर पर प्रजा के नृत्य का वर्णन किया गया है। स्थान-स्थान पर वाद्य-वादन की चर्चा की गयी है। फिर भी सम्पूर्णत: दृष्टि डालने पर यह अवश्य

१—हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, प्र० सं० पृ० १६।

2—"The Sanskrit play does not attempt to present a realistic view of everyday life. It relies largely on evolving the right sentiments (Rasas)- The play's purpose is accomplished of this evoking of sentiments appropriate to the theme is brought about by the grace and stall of the language and gestures.,

—Wilson, Raghavan, Vidyabhushan : The Theatre of the Hindus : Page 214

ज्ञात हो जाता है कि नाटककारों को संगीत-कला का पर्याप्त ज्ञान था और साथ ही जनता के बीच प्रचलित उत्सवों के विषय में तथा जनता की नाचने-गाने की प्रवृत्ति के विषय में ज्ञात था। इसी कारण उन्होंने समयानुसार ताल, लय, स्वर, राग, नृत्य वादन आदि का शास्त्रीय रीति से भी वर्णन किया है।

संस्कृत नाटकों में संगीत का प्रयोग जिन अवसरों पर जिन रूपों में किया गया है वह निम्न प्रकार से हैं—

१—नाटक के प्रारम्भ होने से पूर्व नान्दी के अन्तर्गत अथवा नान्दी के उपरान्त सूत्रधार अथवा नटी के द्वारा गान।

२—राज-दरबार में, वादन तथा गात।

३—विविध उत्सवों पर प्रजागण द्वारा आनन्दातिरेक में नृत्य एवं सहगान उदाहरणार्थ मदनोत्सव आदि।

४—संगीतशाला में नृत्य, गान तथा वादन-शिक्षा।

भरत के नाट्यशास्त्र में विहित नियमों के अनुसार नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व कुछ अन्य कार्यों का सम्पन्न होना अनिवार्य था। उदाहरणार्थ मृदंग की ध्वनि के उपरान्त वाद्य-वादन और पुनः तांडव नृत्य के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश होता था। इस दृष्टि से नाटक से पूर्व संगीत द्वारा दर्शक मण्डली को आकर्षित किया जाता था और नाटक के अनुकूल वातावरण की सृष्टि की जाती थी। पूर्व संगीत द्वारा नाटक की सफलता के लिये ईश्वर-स्तुति की जाती थी। सूत्रधार के रंगमंच पर आने पर भी नट, नर्तक आदि द्वारा संगीत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता था ऐसा कई नाटकों से प्रमाणित होता है। "वेणीसंहार" नाटक के प्रथम अङ्क में सूत्रधार कहता है कि "ये कर्मचारी आर्य विदुराज्ञा से सभी नटों को आज्ञा देते हैं कि वे गाना, बजाना और नृत्य बिना किसी न्यूनता के करते जायें —

"एते खल्वार्यविदुराज्ञया पुरुषाःसकलमेव शैलूषजनं व्याहरन्ति प्रवर्त्यन्तामपरिहीयमानमातोद्यविन्यासादिका विषयः।"[1]

पुनः सूत्रधार कहता है "भाई नटों के साथ सांगोपांग संगीत आरम्भ क्यों नहीं करते?

"तात्किमिति परिपार्श्विक, नारम्भ्यसि कुशीलवैः सह संगीतकमेलकम्।"[2]

इसी प्रकार "मुद्राराक्षस" नाटक में सूत्रधार रंगमंच पर आकर कहता है कि "तब तक इस समय घर जाकर गृहणी को बुलाकर गृह जनों के साथ संगीत आरम्भ करता हूं।"

तद्यावद् इदानीं गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय गृहजनेन सह संगीतकमनुतिष्ठामि।"[3]

१—वेणीसंहार : भट्टनारायण, प्रथम अङ्क, पृ० ९।

२—वही पृ० १२।

३—मुद्राराक्षस : विशाखादत्त, प्रथम अङ्क, पृ० ९।

इसी प्रकार 'मृच्छकटिक' में भी सूत्रधार कहता है कि 'अरे, हमारी संगीतशाला शून्य है।'

'अये, शून्येयमस्मत्संगीतशाला, क्व नु गता कुशीलवा भविष्यन्ति ।'[1]
इन नाटकों के अतिरिक्त कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्'[2] और भास के 'प्रतिमा नाटक'[3] के प्रथम अंक में भी सूत्रधार के कहने हुए नटी द्वारा संगीत प्रयोग का वर्णन किया गया है। यह प्रक्रिया हमें सभी नाटकों में मिलती है ।

संगीत का दूसरा स्वरूप हमें राज-दरबारों में प्राप्त होता है जो राज-दरबारियों की संगीत प्रियता तथा संगीत के प्रचलन का संकेत करता है। नाटक के पात्र राजा व राजकुमारी के रूप में संगीत के अनन्य प्रेमी दिखाये गए हैं । डा० वी० राघवन का कथन इस मत को और भी पुष्ट कर देता है—

'नृत्य और गीत प्राचीन भारत में उच्च कोटि की दरबारी कलाओं में से है। ये नृत्य एवं गीत गावों तथा गलियों में दिखाये जाने वाले लोकगीत एवं लोक नृत्य नहीं थे। राज-महलों में नृत्य के लिए पृथक् शालायें होती थीं।'[4]

कालिदासकृत "मालविकाग्निमित्र" में नायिका मालविका दरबार में राजा के सम्मुख "छलिक" नृत्य करती है। उसका गुरु गणदास नृत्य प्रारम्भ होने से पूर्व दरबार में कहता है—

'महाराज शर्मिष्ठा द्वारा प्रकाशित मध्यम लय समन्वित चतुष्पद गान है, उसी में छलिक नामक अभिनय से चमत्कृत गान प्रस्तुत होगा।'[5]

इस नृत्य के साथ अभिनय, गान, वाद्य तथा मुद्राओं का समन्वित रूप चलता है। अतएव यह ज्ञात होता है कि गान के साथ नृत्य का भी चलन था। 'स्वप्नवासवदत्ता' में राजा उदयन तथा वासवदत्ता के वीणा-वादन का उल्लेख किया गया है । प्रतीहारी कहती है—'श्रृणोत्वार्यः । अद्य भर्तुः सूर्यामुखप्रासादगतेन केनापि वीणा वादिता। तां च श्रुत्वा भर्त्रा भणितम्—घोषवत्याः शब्द इव श्रुयत इति।'[6] पंचम अंक

१—मृच्छकटिक : शूद्रक, प्रथम अंक, पृ० ११।

२—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, कालिदास, पृ० ७०।

३—प्रतिमानाटक : भास, प्रथम अंक, पृ० ४।

४—'Dance and music are highly evolved court-arts in ancient India. They were not the folk arts to be shown on the streets or near the village shrines. The palaces contained seperate halls for Natya."

—Wilson, Raghavan, Vidyabhushan: The theatre of the Hindus, Page 156

५—मालविकाग्निमित्र, पृ० ५६।

६—स्वप्नवासवदत्ता : भास, अंक ६, पृ० २०९ -

में राजा उदयन भी कहते हैं—'अभ्यास के समय दी हुई शिक्षाओं में भी मेरी ओर देखते हुए जिसने हाथ से मिजराव छूट जाने पर विना लय-ताल के वीणा वजाई उसी की याद आ रही है।'[१]

संस्कृत नाटकों में प्रजा के मध्य विभिन्न उत्सवों के आयोजन का उल्लेख है। ये उत्सव जनता नाच-गाकर मनाती थी। प्राकृत नाटक 'कर्पूरमंजरी' में भी वटसावित्रीमहोत्सव के अवसर पर 'चर्चरी' नृत्य का दृश्य विस्तार पूर्वक दिखाया गया है जिसमें ३२ नर्तकी गीत गाती है और गोलाकार में स्थित होकर लयात्मकता के साथ ताल का ध्यान रखते हुए विविध भावों एवं मुद्राओं का प्रदर्शन करती है। नाटककार ने इस दृश्य का अतीव मोहक वर्णन किया है—

अन्य नर्तकियां योगिनी के समान, कण्ठगीति के लय से ताल को नियन्त्रित करते हुए तथा नूपुर की तारध्वनि से युक्त, किंकिणी के झणझण शब्द से संवलित लय-प्रधान नृत्य लीला कर रही हैं।

'किङ्किणीकृत झणज्झणमन्याः कण्ठगीतिलययन्त्रिततालम्।
योगिनीवलयनर्तनलीलां तारनूपुररवं विरचयन्ति॥'[२]

संस्कृत नाटकों में भवभूति के 'मालतीमाधव' के दशम अंक में महोत्सव में वन्धुवर्ग तथा अवलोकितादिजन के नृत्य का उल्लेख मिलता है। कुछ संस्कृत नाटकों से यह भी संकेत मिलता है कि राजमहलों में संगीतशाला का प्रवन्ध रहता था जहाँ संगीत सभा के विविध आयोजन हुआ करते थे। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में 'संगीतशाला' का उल्लेख किया है।[३] भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक में भी द्वितीय अंक में संगीत शाला का नाम आया है।[४]

सखि, संगीत शाला के निकट भगवती कामन्दकी दूसरी अवलोकिता के साथ कुछ मंत्रणा कर रही थीं।

'सखि, संगीतशालापरिसरेऽवलोकिताद्वितीया भगवती कामन्दकी
किमपि मन्त्रयन्त्यासीत्।'

इसी प्रकार 'मृच्छकटिक' नाटक में सूत्रधार द्वारा 'शून्येयमस्यत्संगीतशाला'[५] का संकेत मिलता है।

प्रयोजन की दृष्टि से संस्कृत नाटकों में संगीत का प्रयोग निम्न अर्थों में हुआ है—

२—वही, अंक ५, पृ०
२—कर्पूरमंजरी : राजशेखर, पृ० ६८-६९, श्लोक १७।
३—मालविकाग्निमित्र : प्रथम अंक, पृ० ९।
४—मालती माधव : भवभूति, पृ० ८४।
५—मृच्छकटिक : शूद्रक, पृ० ११।

१—रसानन्द की सृष्टि के लिए
२—लोक-रंजनार्थ
३—वातावरण की सृष्टि के लिए
४—प्रकृति चित्रण अथवा ऋतु-वर्णनार्थ
५—पात्रों की मानसिक भावाभिव्यक्ति के लिए
६—पात्रों की संगीत-प्रियता के प्रदर्शनार्थ

वस्तुत: वैदिक काल में अन्य पुराणों में तथा जन-समुदाय के बीच नाटकों में संगीत का जो रूप विद्यमान था वही संस्कृत नाटकों में उपलब्ध होता है। संस्कृत नाटकों का मुख्य उद्देश्य नाट्यशास्त्रानुसार रसानन्द की सृष्टि करना रहा है अतः संगीत को भी उसी के सहायक रूप में लिया गया है। कारण यह है कि इन नाटकों में हमें 'गान्धर्व' संगीत ही अधिक मिलता है जो अत्यन्त कलात्मक, गंभीर प्रकृति का शुद्ध-पवित्र संगीत होता था तथा जिसका सम्बन्ध देवस्तुति से होता था जिसे मार्गी संगीत भी कहते थे। 'मृच्छकटिक' में नायक चारुदत्त के लिए 'गान्धर्व श्रोतुं गतस्य' का प्रयोग कवि शूद्रक ने किया है।[1] इससे गान्धर्व संगीत के प्रचलन का आभास होता है।

इसके साथ-साथ संस्कृत नाटकों में संगीत का प्रयोग लोकरंजनार्थ भी हुआ है। स्थान-स्थान पर प्रजाजनों के बीच उत्सव विशेष पर नृत्य, गान, वाद्य-वादन इत्यादि का चित्रण इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ है। विशेषता यही है कि लोकरंजन के लिए किसी प्रकार के हल्के अथवा अत्यंत प्रचलित संगीत का प्रयोग नहीं होता था वरन् दर्शक उसी संगीत में आनन्द लेते थे जो उच्च कोटि का होता था।

नाटकों के प्रारम्भ में वाद्य-वादन तथा सूत्रधार अथवा नटी द्वारा गान इत्यादि का मुख्य प्रयोजन वातावरण की सृष्टि करना ही रहा है। इस प्रकार का संगीत दर्शकों को आकृष्ट करके उनके चारों ओर नाटक के विषय से सम्बन्धित वातावरण की ओर ले आता था। राज-दरबारों में भी नृत्य, वादन, गान आदि का जो आयोजन किया गया है वह एक ओर तो राजाओं की संगीत-प्रियता एवं कला-सम्मान का प्रदर्शक है दूसरी ओर दर्शकों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र एवं तत्कालीन संगीत के ज्ञान का कारण है।

संगीत द्वारा प्रकृति-वर्णन अधिक नाटकों में नहीं उपलब्ध होता है। जिन नाटकों में ऋतु-वर्णन के लिए संगीत का प्रयोग किया गया है वह अवश्य प्रशंसनीय है। 'वेणीसंहार' नाटक में संगीत आरम्भ करने के लिए सूत्रधार की आज्ञा होने पर परिपार्श्विक पूछता है—'कतमं समयमाश्रित्य गीयताम्'[2] अर्थात् किस ऋतु के आधार

१—मृच्छकटिक : शूद्रक : पृ० १५१।
२—वेणीसंहार : भट्टनारायण, पृ० ९।

ग्रन्थम कानपुर

● मूल्य

२०.००

● प्रकाशक

ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर—१२

● प्रकाशन-काल

जनवरी, १९६८

● मुद्रक

विवेक प्रिन्टर्स, कानपुर

पर गाया जाय ? सूत्रधार कहता है—'शरत्समयमाश्रित्य प्रवर्त्यतां संगीतकम् ।'[1] (शरत्समय पर आधारित संगीत आरम्भ करो ।)

स्पष्ट है कि ऋतु समय आदि का ध्यान करके संगीत की योजना की जाती थी । भास के 'प्रतिमा नाटक' में सूत्रधार के कहने पर नटी द्वारा गाए गए एक गीत का उल्लेख है जिसमें शरद ऋतु के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है ।[2] इसी प्रकार 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में अत्यन्त मधुर शब्दों में नाटककार कालिदास ने ग्रीष्म ऋतु के आगमन की सूचना दी है । सूत्रधार के कहने से नटी रंगमंच पर गाती है—कि स्त्रियां अतीव कोमलता से हाथ से पकड़कर शिरीष के उन पुष्पों के कर्णफूल बनाती हैं जिनके तन्तुओं की नोकें अत्यन्त कोमल हैं और जो काले भौरों द्वारा धीमे से चूमे गए हैं ।

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेशरशिखानि ।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ।।[3]

संस्कृत के एक-दो नाटकों में ही नृत्य-वादन व गीत का सम्बन्ध पात्रों की मनः स्थिति से दीखता है । 'मालविकाग्निमित्र' में नायिका मालविका जब राजा के सम्मुख दरबार में 'छलिक' नृत्य करती है तब उस नृत्य के साथ उसका गान मालविका की मानसिक स्थिति, उसके हृदय में उठते हुए प्रेमांकुरों का प्रतीक है । राजा के प्रति अपने भावों का समर्पण अभिनय द्वारा सांकेतिक रूप में करते हुए वह गाती है—

'हे नाथ इस जन को स्वानुरागिनी जानना'[4]

इस प्रकार के भावों एवं अन्तर की गहराई को संकेत द्वारा अपने प्रेमी के सम्मुख प्रस्तुत करने का यह कौशल इस नाटक में दृष्टव्य है । इस प्रकार की गहनता का स्वर-प्रदर्शन संस्कृत नाटकों में बहुत कम मिलता है ।

संगीत का अन्तिम प्रयोजन संस्कृत नाटकों में पात्रों की कला-कुशलता तथा संगीत-प्रियता के प्रदर्शनार्थ रहा है । 'स्वप्नवासवदत्ता' का पात्र राजा उदयन कला प्रेमी है । कला-प्रियता व कुशलता का सर्वोत्तम उदाहरण 'मृच्छकटिक' का नायक चारुदत्त है । वह संगीत के साथ-साथ ऋग्वेद तथा सामवेद का सच्चा अनुभवी एवं ज्ञाता है । रेभिल नामक गायक से संगीत सुनने के उपरान्त चारुदत्त का कथन उसकी संगीत-प्रियता के साथ-साथ कवि शूद्रक की कला-प्रियता का भी परिचायक है । वह कहता है कि '(वह गीत) अनुरागवर्धक, मधुर, समतायुक्त, स्पष्ट इत्यादि भावों से युक्त तथा अत्यन्त मनोहर था—'

रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च ।
भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च ।।

१—वेणीसंहार : भट्टनारायण, पृ० ११-१२ ।
२—प्रतिमानाटक : भास : पृ० ४ ।
३—अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास : पृ० ७० ।
४—मालविकाग्निमित्र : कालिदास पृ० ६० ।

एवं उसकी वह मधुर वाणी, स्वरों का उतार-चढ़ाव, शब्दों का अनुगामी वीणा का शब्द, गीत के वर्णों का मूर्च्छना के समय ऊंचे तथा विराम में मृदुस्वर से बोलना तथा सहसा रुककर पुनः लय के साथ दो-दो बार गाए हुए संगीत का बोलना (बड़ा सुन्दर था। सच तो यह है कि गान समय के बीत जाने पर भी मैं उस गीत को सुनता सा जा रहा हूँ'—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं,
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरंगटं तारं विरामं मृदुम्।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं,
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव ॥[1]

चारुदत्त के इस कथन में स्वर, ताल लय, गीत के वर्ण, मूर्च्छना, आरोह-अवरोह तथा संगीत के अमिट प्रभाव का बड़ी सुन्दरता से चयन किया गया है। यह भी सिद्ध होता है कि दर्शकों में शास्त्रीय संगीत को समझने तथा उससे आनन्दित होने की सामर्थ्य थी।

संस्कृत नाटकों में संगीत के नृत्य, वाद्य, गीत व तीनों अंगों की दृष्टि से यदि अवलोकन करें तो हमें नृत्य और वाद्य का ही प्रयोग अधिक दृष्टिगत होता है। गीतों का प्रयोग एवं उनकी संख्या बहुत कम है। एक गीत तो 'मालविकाग्निमित्र' में मालविका 'छलिक' नृत्य के साथ गाती है जिसका उद्धरण ऊपर दे दिया गया है। दूसरा गीत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए नटी गाती है—'ईषदीषच्चुम्बितानि··· ··· ···'। यह विशुद्ध गीत है जिसमें नृत्य का आश्रय नहीं लिया गया है। श्रीहर्ष के 'नागानन्द' नाटक में भी एक गीत प्राप्य है जो पार्वती-स्तुति के रूप में है। वीणा बजाते हुए मलयवती गाती है—

'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यत, भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥'[2]

(खिले हुए कमल के केसर की धूलि की तरह गौरकान्ति को धारण करने वाली ऐ ऐश्वर्यसम्पन्न भगवती गौरी ! आप मेरे ऊपर दया कीजिए जिससे मेरी मनोकामना पूर्ण हो।)

निष्कर्ष यह निकलता है कि संस्कृत नाटकों में शास्त्रीय संगीत तथा संगीत के नर्तन, वादन, गायन, तीनों रूप मिलते हैं, किन्तु नर्तन वादन अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः संस्कृत नाटकों से पूर्व भी हम देख चुके हैं कि नृत्य और वाद्य का ही अधिक प्रचलन था। जन-नाटकों में भी नृत्य की प्रधानता थी यही कारण है कि जन-प्रवृत्ति के प्रतीक स्वरूप नृत्यगान तथा वाद्य को इन नाटककारों ने स्वीकार किया।

१—मृच्छकटिक : शूद्रक : तृतीय अंक, पृ० १५३-१५४।
२—नागानन्दम् : श्रीहर्ष देव ; प्रथम अंक ; संस्करण १९४८ ई० ; पृ० ३३।

संस्कृत के बहुत से नाटकों में तो संगीत का उल्लेख ही नहीं है । इस अभाव तथा विशुद्ध गीत मात्र के अभाव का एक कारण यह हो सकता है कि सभी संस्कृत नाटकों में गद्य-पद्य का सम्मिश्रण किया गया है । पद्यात्मक श्लोकों में लय होने के कारण संगीत का किंचित् सौन्दर्य आ जाता है । डा० कीथ का कथन है—

'वैदिक काल और उसके बाद भी संस्कृत नाटकों में पद्य का प्रयोग मनोरंजन तथा भक्ति के रूप में गीत के महत्व की दृष्टि से होता था । इसके अतिरिक्त हमारे वर्तमान नाटक महाकाव्य की पद्यात्मक प्रणाली से अत्यधिक प्रभावित हैं ।'[१]

सारांश यह कि संस्कृत नाटकों में संगीत की परम्परा विच्छिन्न रूप में प्राप्त होती है । सभी नाटककारों ने सभी नाटकों में संगीत का प्रयोग नहीं किया है । संगीत के भी गीत अंग की अपेक्षा नृत्य तथा वाद्य का प्रयोग अधिक हुआ है । इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं । प्रथम तो यह कि संस्कृत नाटक केवल उच्चवर्ग के लिए थे । नाट्यशास्त्र में संस्कृत नाटकों के लिए विशिष्ट रंगमंच का वर्णन मिलता है ।[२] स्वयं संस्कृत नाटकों से यह प्रमाणित होता है कि वे राजसभा में खेले जाते थे । 'अभिज्ञान-शाकुन्तल'[३] तथा 'रत्नावली'[४] के सूत्रधार राजसभा में ही नाटक खेलते हैं । नाटकों का अभिनय किसी शुभ यात्रा के समय भी होता था । 'उत्तर-रामचरितम्' तथा 'महावीरचरितम्' नाटकों को नाटककार भवभूति कालप्रियनाथ की यात्रा के शुभ अवसर पर अभिनीत करना चाहते हैं ।[५] इन राजसभाओं तथा देवालयों का प्रेक्षक वर्ग विशिष्ट होता था, सामान्य प्रवेश की आज्ञा नहीं थी । वस्तुत: संस्कृत नाटक इतने कलात्मक, सुसंस्कृत एवं सुरचित होते थे कि कला-पारखी प्रेक्षकगण ही उसका आनन्द उठा सकते थे । सच्चरित्र, कला-कुशल, विद्वान्, रसानुभूति में समर्थ, विचारशील, एवं सहृदय प्रेक्षकों की ही आशा की जाती थी ।[६] ऐसे प्रेक्षकों के लिए आवश्यक स्थलों पर प्रयुक्त उच्च कोटि के संगीत की आवश्यकता थी । संस्कृत नाटकों के संगीत में यह गुण विद्यमान है । उनका संगीत भी जन-साधारण के मनोरंजनार्थ नहीं

१—The use of verse in the Sanskrit Drama was in view of the importance of song as a form of amusement as well as in worship both in Vedic times and later and of the fact that our extant dramas draw so largely on epic tradition preserved in vesified texts. —Sanskrit Drama—Kieth 1954—Page 23

२—नाट्यशास्त्र : अध्याय : २-१० ।

३—प्रस्तावना

४—रत्नावली की प्रस्तावना : टीकाकार श्री रामचन्द्र मिश्र ।

५—प्रस्तावना : 'उत्तररामचरितम्' तथा 'महावीरचरितम्' ।

६—नाट्यशास्त्र (चौखंभा) : अध्याय २७ : श्लोक ४९-६२ तक ।

है वरन् दर्शकों के विशेष वर्ग के लिए विशिष्ट रुचि एवं स्तर का संगीत है। कीथ का कथन है कि असभ्य, मूर्ख, नास्तिक, और निम्नवर्गीय पुरुष प्रेक्षकशालाओं में प्रवेश नहीं कर सकते थे।[1] विल्सन का भी मत है कि नाटकों का मनोरंजन उच्च वर्ग या विद्वानों के लिए था।[2] इसके अतिरिक्त यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि दर्शकगण नृत्य तथा वाद्य में अधिक रुचि लेते होंगे, गीत में कम। यही कारण है कि हिन्दी नाटकों के समान न तो संस्कृत नाटकों में संगीत का आधिक्य है और न गीतों का वाहुल्य। नृत्य तथा वाद्य का प्रयोग भी अत्यावश्यक स्थलों पर स्वाभाविक रीति से हुआ है। संस्कृत नाटकों के कथानक तथा वातावरण में जो मर्यादा पायी जाती है वही मर्यादा उनके संगीत में भी प्रतिष्ठित है। कहीं भी सस्ता, चलता हुआ संगीत नहीं है वरन् नृत्य, वाद्य तथा गीत तीनों में क्रमशः शास्त्रीयता, कलात्मकता एवं साहित्यिकता की सुरक्षा की गई है। यही नहीं, कथा को रोचक बनाने के साथ-साथ इनका संगीत कथानक के प्रयोजनों को सफल बनाने में समर्थ हुआ है। इस प्रकार संस्कृत नाटक तत्कालीन समाज में संगीत की स्थिति एवं जन-समाज की रुचि के प्रवर्त्तक हैं।

...स्कृत ड्रामा : पृ० ३७०।

...मेका : दि थियेटर आफ हिन्दूज : पृ० ४।

२ | १९१० से पूर्व हिन्दी नाटकों में संगीत

पूर्व-भारतेन्दु-नाटकों में संगीत–

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी नाटकों के जनक कहे जाते हैं । वास्तव में हिन्दी नाटकों का प्रारम्भ एवं विकास उन्हीं के द्वारा हुआ किन्तु इनसे भी पूर्व व्रजभापा के कुछ नाटक उपलब्ध होते हैं । इनमें रामायण नाटक, हनुमन्नाटक, समयसार नाटक, नेवाज कवि कृत शकुंतला, करुणाभरण नाटक, माधव विनोद, राम करुणाकर नाटक, आनन्दरघुनन्दन नाटक, परम प्रबोध विधु नाटक, प्रवोध चन्द्रोदय आदि गण्य हैं । ये काव्य-नाटक हैं तथा 'आनन्दरघुनन्दन नाटक' के अतिरिक्त अन्य किसी नाटक का भी संगीत की दृष्टि से महत्व नहीं है । इन सभी में तो पद्यों की भरमार है, छन्दवद्धता पर विशेप वल है । केवल 'आनन्दरघुनन्दन नाटक' में संगीत का प्रयोग हुआ है । पूर्व भारतेन्दु नाटकों में संगीत की दृष्टि से अन्य विशेष प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण नाटक अमानत द्वारा रचित 'इन्दरसभा' है । उर्दू तथा व्रजभापा में समन्वित एवं थियेट्रिकल शैली पर रचित यह संगीत प्रधान नाटक नाटकों में संगीत की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है । सर्वप्रथम हम 'आनन्दरघुनन्दन नाटक' में प्रयुक्त संगीत पर विचार करेंगे क्योंकि यह नाटक सभी दृष्टियों से मौलिकता से परिपूर्ण है तथा पूर्व भारतेन्दु नाटकों में अपना प्रथम स्थान रखता है ।

'आनन्द रघुनन्दन नाटक' की सर्वप्रथम मौलिकता है संगीत का प्रचुर प्रयोग । इसका प्रारम्भ ही सूत्रधार के भजन द्वारा होता है । तथा अन्त भी भजन से हुआ है । यह नान्दी पाठ तथा भरत वाक्य की ही परम्परा का परिणाम है । इसके उपरान्त सम्पूर्ण नाटक में शास्त्रीय संगीत, लोक-गीत एवं प्रादेशिक संगीत की मनोहर छटा दृष्टिगत होती है । यह नाटक यद्यपि गीत प्रधान है किन्तु यथा समय नृत्य को भी स्थान दिया गया है । इस प्रकार गीत, ताल, नृत्य, आदि को सम्यक् रीति से प्रस्तुत किया गया है । लेखक महाराज विश्वनाथ सिंह ने नायिका भेद के अन्तर्गत नायिकाओं का वर्णन अत्यन्त काव्यमय भापा में किया है । वे पद निश्चय ही गेयता की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं । यथा, स्वकीया नायिका का वर्णन—

> या के शील चुवत सो नैनन ।
> सपुचत चलति मंजु मुख मोरति, उर अति प्रेम खुलत कछु वैनन ॥
> कीनेहुं पति अपकार गनति नहिं पग परिपरि आपुहिं समुझावैं ।
> विश्वनाथ प्रभु समुझन लायक यह सुकिया को अनुपम भावै ॥[1]

१—आनन्दरघुनन्दन : महाराज विश्वनाथ सिंह, प्र० सं० १८८१ ई०, पृ० ११६ ।

महत्वपूर्ण है क्योंकि आजकल संगीत लोक-पक्ष पर गांव-गांव, प्रान्त-प्रान्त में प्रचलित गीतों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है । निम्न गीत मैथिली भाषा में लिखा गया है :

करमन छोड़ा दोइ गोट ऐलखिनि ।
चारु भुजे यक तिरे मरलेखिनि ।
घातिनि छोड़े तुरित उड़ोलखिनि ।
भुवनहितकर जाग सहित हम सव लोगवन कर जियरा वेचवखिनि ।
नरम अंग 'विसुनाथ' वरावर दोड़ गोंट छोड़ा वर वल पलखिनि ॥[१]

उपर्युक्त गीत समूह-गान के रूप में गाया गया प्रतीत होता है। एक अन्य गीत इसी भाषा में प्रथम अंक के अन्तर्गत प्राप्त होता है ।

मुनि के संग दुइ नैना ऐलिछि ।
सुंदर रूप जादूगर छधि से पयरा की पुतरीक माडगि वनीलिछि ।
हो पडाय कहुं एतै ऐलहु से विरतांत जहां सुन वलिछि ।
अव भूपति विशुनाथ होइ जै जै कछु करैक करु मन मवालिछि ॥[२]

लोकगीत के उदाहरण भी दर्शनीय हैं । हमारे भारतीय गृहों में प्राय: मंगलगीत ढोलक और मंजीरे के साथ गाए जाते हैं । ग्रामीण जनता में इसकी अधिक प्रथा पायी जाती है । इस नाटक में वृजभाषा में विरचित मंगलगान प्रथम अंक में नेपथ्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है :

ललकत्त रही कुंवर लखिवे को सुन्यो होत वर व्याह हो ।
अव न अमात आनन्द उर काहू मुनि परभाव अथाह हो ।
नृप दिगजान वीज सुख तरु को वोयो सुकृत सु हाथ हो ।
सोई यहि अवसर मंह अद्भुत फलो चहत विश्वनाथ हो ॥[३]

इन पंक्तियों में अन्तिम का 'हो' अत्यन्त माधुर्यपूर्ण होने के कारण लोकगीत की सरलता एवं आनन्दमय तन्मयता की उत्पत्ति करने में समर्थ है । यही नहीं, रामचन्द्र के राजतिलक के समय अप्सरायें अंग्रेजी के पद भी गाती हैं :

ए King हितकारी My dear very,
Liberal and brave wish tree
Good spread my sin top-Lord
Good all टैम विसुनाथ of God.[४]

यद्यपि नाटक की दृष्टि से राम के युग में उन्हीं के सम्मुख अंग्रेजी या अरबी के पद

१—वही, पृ० १४ ।
२—वही, पृ० १५ ।
३—आनन्दरघुनन्दन : महाराज विश्वनाथ सिंह, प्र० सं० १८८१ ई० पृ० २१ ।
४—वही, पृ० १२१ ।

गवाना अनुपयुक्त है तथा देश-काल-दोष है किन्तु संगीत की दृष्टि से अवश्य विविधता पायी जाती है । सरल संगीत, शास्त्रीय संगीत, प्रान्तीय तथा लोकगीत आदि के कारण यह प्रथम नाटक है जो मौलिकतम एवं वैचित्र्यपूर्ण दृष्टिगत होता है ।

संगीत की दृष्टि से 'इन्दरसभा' अन्य विशुद्ध गीतात्मक नाटक है जिसके अनुकरण पर अन्य नाटक लिखे गए तथा जो तत्कालीन जनता का अत्यन्त लोकप्रिय नाटक सिद्ध हो गया था। गज़ल, शास्त्रीय संगीत, तथा नृत्य के समन्वय से यह रचना पूर्णतः संगीत प्रधान हो गयी है । शास्त्रीय संगीत के अनुसार इस नाटक में निम्न-लिखित राग मिलते हैं—

(१) खम्माच, (२) बहार, (३) देश, (४) काफी, (५) भैरवी, (६) विहाग इन सभी रागों में बद्ध गीतों के अध्ययन द्वारा यह ज्ञात होता है कि किसी भी गीत को राग विशेष के साथ शास्त्रीय विधि के अनुकूल सम्बद्ध किया गया है । उदाहरणार्थ वसन्त ऋतु का सौंदर्य बड़े कौशल से राग बहार में बांधा गया है,[1] क्योंकि बहार राग हर्ष, आनन्द और प्रफुल्लता का प्रतीक माना जाता है। इ[illegible] र राग [illegible]फी के आधार पर अमानत ने होली की रचना की है । अ[illegible]फी राग में गायी जाती है। निम्न पंक्तियों में स्थायी और अन्तरे की शोभा दर्शनीय है।

लाज रख ले श्याम हमारी, मैं चेरी हूं तिहारी ।
जरा दे समझकर गारी
(अन्तरा) अबीर गुलाल न मुख पर डारो, न मारो पिचकारी ।
आधी देह सब देख पड़ेगी सारी भिजोओ न सारी
कहेंगे लोग मतवारी
तुम चातुर होरी के खेलेया, हम डरपोंक अनारी ।
ताक झाक लगा मत मोहन, जाऊं तोरी बलिहारी
न कर मोंहि जान से आरी
लाख कही तुम एक न मानी, मिनती करिके हारी ।
याही घरी उस्ताद से जाकर कहि हों हकीकत सारी
कहां जाओगे गिरधारी ।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि पारस्परिक छेड़-छाड़, कृत्रिम क्रोध, होली की स्वाभाविक क्रीड़ा, तथा इन सब के साथ हृदय में आनन्द की मीठी-मीठी अनुभूति का चित्रण बड़ कुशलता से इस पद में किया गया है ।

राग भैरवी में कई धुनें 'इन्दरसभा में प्राप्त होता हैं, किन्तु भैरवी की धुन में बंधी हुई निम्न होरी भाषा तथा भाव के समन्वयात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से निरूपम है—

१—इन्दरसभा : अमानत : १० वां सं०, १९०६ ई०, पृ० ३।
२—वही, पृ० ११-१२ ।

जर जाये गुइयां ऐसी होरी, विन सइयां देह सुलगत मोरी
फाग सुभाग पिया संग मागो, सब चुरियां हम तोरी।
सुरख चुनरिया उड़ावो न सजनी, तन मन आग लगोरी।
बिन सइयां देह सुलगत मोरी
अबीर गुलाल मिलाओ खाक में, कैसो फाग कैसी होरी
आंगन के विच रंग भरि गागर, देखो पटक भर जोरी
विन सइयां देह सुलगत मोरी
बिन पिया मुख पर मार के थापर, खूब गुलाल मलोरी
नयनन की पिचकारी वनाके, अंसुवन रंग में वोरी
विन सइयां देह सुलगत मोरी
ठग मारी यों ठाढ़ी हूं उन विन, जैसे कीन्हीं है चोरी
का मुख ले उस्ताद के जाऊं, जिया ने आफत तोरी।
विन सइयां देह सुलगत मोरी।[1]

गीत के प्रकार :

इस शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त 'इन्दरसभा' में गीतों के अन्य कुछ प्रकार पाए जाते हैं जिनके अन्तर्गत 'होरी', 'ठुमरी' तथा 'गजलें' हैं जो इस नाटक में प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। 'होरी' तो शब्द-चयन एवं भावों की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक व सहज हैं।

पा लागें कर जोरी, श्याम मोसे खेलो न होरी,
गौवें चरावन मैं निकसी हूं, सास ननद की चोरी,
सगरी चुनरी रंग में न भिजोओ, इतनी सुनो बात मोरी
श्याम मोसे खेलो न होरी।[2]

ये सम्पूर्ण पद नृत्य की दृष्टि से भी अत्यन्त उपयुक्त एवं मनोहर हैं। आगे इसी पद में 'छीन झपट मोरे हाथ से गागर जोर से वहियां मरोरी' अथवा 'अवीर गुलाल लपटि गयो सुख मां सारी रंग मा वोरी' पंक्तियां नृत्य की मुद्राओं का सुन्दरतम उदाहरण हैं—इनमें हाव-भाव का सौन्दर्य विद्यमान है।

गजल इस नाटक का मुख्य अंग है। उर्दू के कारण इन गजलों में अपना सहज सौन्दर्य है। ये गजलें कहीं-कहीं रागों के आधार पर भी लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ राग 'देश' की धुन में एक गज़ल प्रस्तुत की गई है।[3] वस्तुत: देखा जाय तो इन गज़लों में शायरी व मुशायरे का वातावरण सम्मिलित है। शायरी की दृष्टि से कहीं-कहीं गज़ल दर्शनीय है।

१—इन्दरसभा : अमानत : १० वां सं०, १९०६ ई०, पृ० ३।
२—वही, पृ० ३-४।
३—वही, पृ० १२।

लहू बहता है गैरों का हमारा दम निकलता है।
गले पर फेरता खंजर नहीं जल्लाद क्या कीजे।
हमारी कब्र पर ठोकर लगाकर यार कहता है।
मिला हो खाक में जो खुद उसे बरबाद क्या कीजे।

कहीं-कहीं गजलें अत्यन्त शृंगारिक व अश्लील हो गयी हैं।[1] वियोग-वर्णन में गज़ल में वीभत्सता भी दृष्टिगत होती है।[2] मुख्यत: इन गज़लों का उद्देश्य नारी का रूप-वर्णन शृंगारिक चेष्टायें तथा अन्य भावनाओं का चित्रण करना है। इस प्रकार का अश्लीलत्व, शोखी, मस्ती, शृंगार-चेष्टा आदि मुसलमानी सभ्यता के प्रभाव के फल-स्वरूप हैं। उर्दू शायरी में प्रमुखत: शोखी, मस्ती व 'वाह-वाही' ही आवश्यक गुण होते हैं। ठुमरी के लिए कुछ पद अत्यन्त माधुर्यपूर्ण और सरस हैं। निम्नांकित पद ठुमरी गाने के ढंग, राग तथा भाव को स्पष्ट करने में समर्थ हैं—[3]

मोरी अंखियां फरकन लागीं, कहां गयो यार किधर गई सखियां
अंखियां फरकन लागीं
देह फुंकत है जिय हरकत है, प्रीत लगा के मजा हम चखियां
अंखियां फरकन लागीं
नैनन में दिल्दार बसत है, ये अंखियां अलमास परखियां
अंखियां फरकन लागीं
बल बल जाउं मैं उस्ताद के, बीच सभा में मोरि पति रखियां
अंखिमां फरकन लागीं

× × ×

सुधि लाग रही तोरी आठ पहर, तन मन की नहिं मोहिं खाक ख़बर
सुधि लाग रही
निशि बासर मोहिं कल न पड़त है, दिखला दे झलक कहुं एक नजर।
सुधि लाग रही
अरज करत मोरा जियरा डरत है, दिल धरकत देह कंपत थर थर।
सुधि लागि रही
हर का पता उस्ताद लगाये, बौरी सी फिरत हूं जिधर तिधर।
सुधि लागि रही

यह दोनों ठुमरी धुन पर्व में गायी गयी हैं। इन दोनों पदों को देखकर एक बात स्पष्ट होती है कि दोनों पदों में राग का मुख्यांग क्रमश: 'अंखियां फरकन लागी'

१—इन्दरसभा : अमानत : १० वां सं०, १९०६ ई०, पृ० ४-५।
२—वही, पृ० ८।
३—वही, पृ० २०-२१।

प्राक्कथन

अत्यन्त प्राचीन काल से जनता की अभिरुचि तथा भरतमुनि द्वारा विहित नियमों के कारण नाटक में संगीत की स्थिति अनिवार्य रही है। संगीत नाटकों का इतना महत्वपूर्ण अंग रहा है कि नाटक-साहित्य को संगीत से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। नाटकों का यह संगीत तत्कालीन दर्शकों की रुचि, नाटककारों की नाट्यकला एवं संगीत-कला तथा प्रचलित परम्परा का पूर्ण चित्र उपस्थित करने में समर्थ है। नाटकों में संगीत की यह अनिवार्यता होने पर भी विद्वानों तथा आलोचकों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ। नाटकों के गीत-पक्ष पर तो विचार किया गया किन्तु उनके संगीत-पक्ष की सदैव उपेक्षा ही की गयी। संगीत के अन्तर्गत गीत वाद्य, नृत्य तीनों तो आते ही हैं, साथ ही शास्त्रीय संगीत एवं लोक-संगीत आदि की मर्यादायें भी उसमें आ जाती हैं। गीतों के साथ शास्त्रीय राग-रागिनियों एवं तालों का उल्लेख, हिन्दी नाटकों में प्रारम्भ ही से होता रहा है। गीत के विविध प्रकार- ठुमरी, दादरा गज़ल आदि बिरहा, कजरी, चैता जैसे मधुरतम लोक गीतों का प्रचुर प्रयोग नाटकों में होता रहा है। यही नहीं, नृत्य के प्रकार, उसके हाव-भाव एवं मुद्राओं तथा साथ-साथ वाद्य संगीत से भी परिस्थिति के अनुसार सहायता ली जाती रही है। इस प्रकार हिन्दी नाटकों में संगीत की अमूल्य सामग्री है किन्तु चूँकि नाटकों के इस आवश्यक अंग की ओर शोध-कर्ताओं की दृष्टि कभी नहीं गयी अतः नाटक, अभिनय एवं संगीत में गहरी रुचि होने के कारण मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

इस विषय पर कार्य आरम्भ करने पर यह अनुभव हुआ कि विषय रोचक अवश्य है किन्तु साथ ही दुष्कर भी है। एक ओर नाट्य-कला और दूसरी ओर संगीत-कला का विशद शास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित था साथ ही दोनों कलाओं की दृष्टि से संगीत पक्ष व्याख्या एंव आलोचना करना एक समस्या बन गयी। संगीत की दृष्टि से सम्पूर्ण सामग्री पर विचार करने और उससे भी अधिक नाटकीयता की दृष्टि से प्रयुक्त संगीत की उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता निर्धारित करने के लिए संगीतकार और नाटककार दोनों की दृष्टि आवश्यक थी। गुरुजनों की प्रेरणा एवं सुझाव तथा अपने निरन्तर, परिश्रम एवं लगन के द्वारा अन्ततः यह कार्य पूर्ण होकर इस रूप में प्रस्तुत है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध हिन्दी-साहित्य को नई देन है। नाटक-संगीत की सामग्री चयन करना, संगीत, काव्य, नाटकीय तत्व एवं अभिनय की दृष्टि से उसका विश्लेषण एवं समीक्षा करना शोध-क्षेत्र में सर्वथा मौलिक कार्य है। अन्त में नाटकों में प्रयुक्त

और 'सुधि लाग रही' है । राग और ताल का सम्पूर्ण सौन्दर्य इसी रागांग पर निर्भर है ।

इस प्रकार पूर्व भारतेन्दु कालीन नाटकों का संगीत की दृष्टि से व्यक्तिगत महत्व तो अधिक नहीं है किन्तु परम्परा एवं इतिहास की दृष्टि से इस काल का नाटक संगीत भी महत्वपूर्ण है क्योंकि एक ओर तो इस काल में ही 'आनन्दरघुनन्दन' नाटक के द्वारा नाटकों के अन्तर्गत प्रादेशिक गीत, लोकगीत एवं नृत्य की नींव पड़ी, दूसरी ओर 'इन्दरसभा' के द्वारा शास्त्रीय राग-बद्धता एवं गज़ल की परम्परा का विकास हुआ। यह परम्परा आगामी नाटकों में निरंतर प्रवाहित होती रही । यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में कहीं-कहीं लोक-गीतों की सरल तथा मधुर छटा दृष्टिगत हो जाती है ।[1] साथ ही नृत्य एवं तालों का प्रयोग भी उनमें मिलता है। दूसरी ओर भारतेन्दु तथा अन्य नाटककार 'इन्दरसभा' के मोहक संगीत के आकर्षण से अछूते न रह सके। 'इन्दरसभा' को भ्रष्ट नाटक मानते हुए भी उसकी कला से भारतेन्दु प्रभावित हुए फलतः उनके 'नील देवी' और 'भारत-दुर्दशा' नाटकों में गज़लों की प्रचुरता लक्षित होती है : ठुमरी और होरी का प्रयोग भी उनके नाटकों में हुआ है। जिसका सूत्रपात 'इन्दरसभा' में ही हो गया था ।[2] अतएव 'इन्दरसभा' ही हिन्दी नाटकों की प्रथम संगीतात्मक कड़ी है । जिसकी शृंखला में आगामी नाटक बंधे हुए हैं। इसी नाटक की गेयता ने आगामी हिन्दी नाटकों में संगीत को, विशेषकर गीतों को अनिवार्य स्थान दिला दिया। इसी कारण 'आनन्दरघुनन्दन' नाटक की अपेक्षा इस नाटक का अधिक महत्व है क्योंकि इसी के प्रभावस्वरूप एवं इसके अनुकरण पर थियेट्रिकल नाटक लिखे व खेले जाने लगे जिनमें शृंगारिक गीतों, नृत्यों तथा उर्दू की प्रधानता बनी रही । यही नहीं अपने हिन्दी नाटकों में ही जो गीतों का बाहुल्य, उर्दू शैली का संगीत, वेश्या तथा अप्सरा नृत्यों की प्रधानता एवं शृंगारमय वातावरण हम देखते हैं वह इसी की देन है जिसमें किंचित् सुधार करने का भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने निरन्तर प्रयास किया तथा नाटक-संगीत को शास्त्रीय, साहित्यिक एवं सोद्देश्य स्वरूप प्रदान करने का गंभीर कार्य किया ।

भारतेन्दु-नाटकों में संगीत :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाटक-संगीत एक ऐसा मोड़ है जहां से प्राचीन परम्परायें विच्छृंखल हो जाती हैं और नवीन मर्यादायें जन्म लेती हैं। हिन्दी नाटक-क्षेत्र में यह युग संघर्ष का युग था। एक ओर पारसी कम्पनियों के असाहित्यिक एवं अश्लील नाटक-संगीत के द्वारा वातावरण दूषित हो रहा था जिन पर 'इन्दरसभा' की संगीत-शैली का प्रभाव था तथा गजलों और वेश्या-नृत्यों की भरमार थी। दूसरी ओर ब्रज-भाषा नाटकों की पद्यात्मकता का दृश्य सामने था। ऐसी स्थिति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

१—अध्याय २, पृ० ७३।

२—अध्याय २, पृ० ७४

ने जहाँ हिन्दी नाटक-कला को जन्म दिया, वहाँ उसके अन्तर्गत संगीत-कला की भी प्रतिष्ठा की जिसका प्रादुर्भाव "आनन्दरघुनन्दन" तथा "इन्दरसभा" नाटकों द्वारा हो चुका था। उन्होंने अपनी नाट्यकला एवं संगीत-प्रियता द्वारा नई दिशा का निर्माण किया तथा दृश्य काव्य में पारसी नाटकों के चलताऊ संगीत के स्थान पर हिन्दी नाटकों में शास्त्रीय संगीत और लोक-संगीत की स्थापना की।

"आनन्दरघुनन्दन" में संगीत का यह रूप आ चुका था। भारतेन्दु ने उसको और अधिक बहुमुखी एवं प्रशस्त बनाया। एक ओर उन्होंने शास्त्रीय राग-रागिनियों ताल आदि का कलात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया और दूसरी ओर ग्रामीण छन्दों में बद्ध मधुर जन-गीतों का सरल तथा स्वाभाविक रूप सामने रखा।

संगीत के प्रयोग की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अधिकतर नाटक संगीत-मय हैं। उन्होंने संगीत के गीत अङ्ग को ही प्रधानता दी है, नृत्य तथा वाद्य को नहीं क्योंकि उनका मुख्योद्देश्य अपने नाटकों द्वारा यथार्थ का उद्‌घाटन करना एवं जन-रुचि का परिष्कार करना था, संगीत द्वारा मनोरंजन मात्र करना नहीं। इस उद्देश्य में गीत ही सर्वाधिक सहायता दे सकते थे क्योंकि गीतों के द्वारा नाटककार विविध समस्याओं को विविध रूप से नाटकों में प्रस्तुत करने में सफल हो सकता है। अत-एव गीत-संख्या की दृष्टि से उनके नाटकों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं;

१— गीतप्रधान नाटक

२— अपेक्षाकृत कम संख्या के गीत वाले नाटक

३—गीतरहित नाटक।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत "सती-प्रताप", "चन्द्रावली" तथा "भारत-जननी" प्रमुख हैं। विशेषत: "चन्द्रावली" और "भारत-जननी" गीतों की बहुलता के कारण गीतमय ही लगते हैं। "भारत-जननी" के प्रथम पाँच-छः पृष्ठों में गीत ही गीत हैं, संवाद नाममात्र को नहीं। "सती-प्रताप" में भी प्रथम दृश्य केवल गीतों पर ही आधारित है। द्वितीय दृश्य में सखियाँ तीन गीत एक साथ गाती हैं। पुन: तृतीय दृश्य का आरम्भ नेपथ्यगीत से होता है। इस प्रकार प्रत्येक दृश्य में गीतों की भरमार है।

द्वितीय वर्ग में "भारत-दुर्दशा", "नीलदेवी", "विद्यासुन्दर", "प्रेमयोगिनी" "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", "सत्यहरिश्चन्द्र", और "अन्धेर नगरी" नाटक आते हैं। इन सभी के गीत अत्यन्त समयानुकूल, संक्षिप्त तथा कथा को गति प्रदान करने वाले हैं। इनमें से सत्य "हरिश्चन्द्र" में विस्तृत नाटक होते हुए भी दो ही गीत हैं जिनमें से एक गीत में राजा की स्तुति है।[1] और दूसरा गीत पिशाच-

---

१— भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १) ब्रजरत्नदास (संकलनकर्त्ता और सम्पादक) प्र० सं० पृ० २७२।

गणों, द्वारा श्मशान में गाया गया है।[१] "प्रेम-जोगिनी" तीस पृष्ठ की नाटिका है किन्तु गीत उसमें एक ही है जिसमें एक गायक परदेशी काशी के आडम्बर का वर्णन करता है।[२] 'अन्धेर-नगरी' में दो ही गीत हैं। प्रथम एक भजन है[३] और दूसरा गीत प्रहसन का अभिन्न अंग है।[४] इसी प्रकार 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में चार गीत हैं जिनका उद्देश्य तत्कालीन दुःप्रवृत्तियों का चित्रण करना है। वस्तुतः गीतों का यह अभाव इसी कारण है क्योंकि ये नाटक तत्कालीन समस्याओं, विषमताओं से अधिक सम्वन्धित हैं। भावुकता से नाटककार ने अपने उद्देश्य को वोझिल नहीं किया है वरन् कम गीतों से ही अपने संदेश और उस वातावरण का अत्यन्त प्रभावशाली, मार्मिक तथा सांकेतिक चित्रण संगीत की पृष्ठभूमि लेकर कर दिया है।

तृतीय वर्ग में उनका केवल एक नाटक "विषस्य विषमौषधम्" आता है। अंग्रेजी के प्रति व्यंग्य करना ही इस नाटक का उद्देश्य रहा है।

प्रश्न यह उठता है कि भारतेन्दु जी के प्रथम वर्गीय नाटकों में गीतों की यह बहुलता क्यों है? अन्य नाटकों में क्यों नहीं? वस्तुतः भारतेन्दु जी पूर्व परम्परा से भी प्रभावित रहे हैं। 'इन्दरसभा' तथा थियेट्रिकल नाटकों में जो गीत-संख्या अधिक होती थी, उसी के फलस्वरूप भारतेन्दु भी इस दोष से वच न सके। इसके अतिरिक्त उनके प्रथम वर्गीय नाटकों में भाव प्रधानता अधिक है। 'चन्द्रावली' भाव-प्रधान, प्रेम और विरह से पूर्ण नाटिका है अतः नायिका चन्द्रावली की भावुकता के कारण तथा रीतिकालीन शृंगार-भावना से प्रभावित होने के कारण उन्होंने स्थान-स्थान पर पद गवा दिए हैं जिनसे चन्द्रावली के प्रेम की अतिशयता तथा वियोग-जन्य भाव व्यक्त होते हैं। 'भारत-जननी' काव्य-नाट्य ही है अतः उसमें गीतों का आधिक्य स्वाभाविक है। इसके विपरीत उनके द्वितीय वर्ग के नाटक प्रायः समस्या-प्रधान हैं। इनमें लेखक का मुख्योद्देश्य तत्कालीन समस्याओं एवं विषमताओं का व्यंगात्मक चित्रण करना रहा है अतः इस यथार्थ सत्य के कारण गीत जहां अनिवार्य समझे गए हैं वहां ही उनका प्रयोग किया गया है। यह भी हो सकता है कि स्वयं भारतेन्दु जी वाद में गीत-आधिक्य के पक्षपाती न रहे हों तथा जन-रुचि का परिष्कार करने एवं उपयुक्त संगीत को प्रस्तुत करने की ओर उनका विशेष ध्यान रहा हो। यही कारण है कि 'सत्य-हरिश्चन्द' जैसे विस्तृत नाटक में भी गीत-वाहुल्य नहीं है वरन् कथा को अधिक महत्व दिया गया है।

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १) व्रजरत्नदास (संकलन कर्त्ता और संपादक) प्र० सं०, पृ० २९९।

३—वही, पृ० ३३३-३३४।

४—वही, पृ० ६५९।

५—वही, पृ० ६७०।

संगीत प्रयोग के इस साधारण विवेचन के उपरान्त यह देखेंगे कि भारतेन्दु जी ने नाट्य-संगीत को क्या मोड़ दिया तथा किस प्रकार के संगीत का सफलतापूर्वक प्रयोग किया ? अस्तु—

शास्त्रीय राग-रागनियां :

संगीत की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों में अक्षय कोष है। अपने समय की परिस्थिति, वातावरण और परम्परा के मध्य उनका नाट्य-संगीत नवीन आकर्षण तथा सौंदर्य से युक्त है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में दोनों प्रकार के संगीत का उपयोग किया है—शास्त्रीय और सुगम। शास्त्रीय संगीत से उन्होंने विविध राग-रागनियों को अपनाया है जिनमें गीतों को बद्ध करके उन्होंने अपने संगीत-ज्ञान तथा कलाकार की प्रतिभा का परिचय दिया है। मुख्यत: निम्न शास्त्रीय राग उनके नाटकों में पाये जाते हैं—

१—सोरठ २—विहाग ३—कलिंगड़ा ४—देस ५—भैरव ६—श्रीराग ७—काफी ८—चैती-गौरी ९—पीलू खेमटा १०—संकरा ११—काफी घनाश्री १२—बसन्त १३—परज कलिंगडा १४—मलार १५—झिझौटी १६—जंगला १७—बहार १८—गौरी १९—पूरबी २०—राग चैती २१—राग कन्हरा।

इन रागों में से कुछ रागों का प्रयोग भारतेन्दु ने अधिक गीतों के साथ किया है, यथा-सोरठ, विहाग, कलिंगड़ा, काफी, चैती-गौरी। शास्त्रीय दृष्टि से प्रत्येक राग का समय, ऋतु तथा गीत की प्रकृति से गहन सम्बन्ध है ऐसी भारतीय संगीताचार्यों की धारणा रही है। उदाहरणार्थ राग भैरव प्रात:काल ईश-वन्दना के लिए सबसे अधिक प्रभावशाली होता है, राग कापली शृंगार प्रधान रचनाओं के लिए उपयुक्त होता है। इसी प्रकार अन्य रागों के विषय में भी नियम है। इस कसौटी पर भारतेन्दु का संगीत खरा उतरता है। यद्यपि उन्होंने प्रत्येक गीत व राग के साथ समय का संकेत अधिकतर स्थलों पर नहीं किया है और न संवादों के द्वारा ही समय का अनुमान लगाया जा सकता है फिर भी गीत की प्रकृति के अनुकूल रागों का चुनाव करने में वह कुशल हैं। राग विहाग गम्भीर प्रकृति का राग है। भारतेन्दु ने इस राग में निम्न गीत बांधा है—

'कहां करुणानिधि केशव सोए'

'नीलदेवी' नाटक से उनका संगीत-कौशल का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। राग कलिगड़ा की माधुर्यमयी प्रकृति के अनुरूप उन्होंने जिन सरस गीतों, मधुमय वातावरण तथा पात्र की मन:स्थिति का ध्यान रक्खा है वह दर्शनीय है। रात्रि के नीरव वातावरण में नेपथ्य से गायी गयी निम्न लोरी दूर देश में लड़ने के लिये गए हुए सिपाही देवीसिंह के हृदय में उथल-पुथल मचाने में, उसके सोए भावों को सहसा द्वेलित करने में पूर्णत: समर्थ है, यही संगीत का मुख्य गुण है—

नीलदेवी : भारतेन्दु ग्रंथावली : (भाग १), पृ० ५३६।

"विरहिन विरही पाहरु चोर,
इन कहं छन रैन हूं हाय कल न।"[१]

'पाहरू' शब्द में संगीतात्मकता इतनी अधिक है कि राग कलिगड़ा में वह और भी मोहक हो जाती है। इस गीत में भातृ-वात्सल्य तथा करुण रस का अपूर्व सामंजस्य है। इसके अतिरिक्त राग कलिगड़ा का गायन-समय रात्रि का 'अन्तिम प्रहर ही माना जाता है।"[२]

"भारत-दुर्दशा" नाटक में मदिरा द्वारा गाए गीत के लिए काफी राग का प्रयोग किया गया है जो काफी राग की शृंगारमयी प्रकृति के अनुरूप ही है।[३] 'भारत-जननी' में भारत-दुर्गा द्वारा राग वसन्त में निम्न गीत गाया जाता है—

"किन देखहु यह रितु-पति प्रकास।
फूली सरसों वनि करि उजास॥
खेतन में पकि रहे लखहु धान।
पियरान लगे भरि स्वाद पान॥[४]

वसन्तराग पुष्पमयी प्रकृति के अनुकूल होता है तथा वसन्त ऋतु में गाया जाता है।[५] यद्यपि गीत गंभीर प्रकृति का है, करुण-रस के उपयुक्त है, जवकि राग वसन्त हर्ष-आनन्द का प्रतीक है किन्तु गीत में वसन्त ऋतु की ओर संकेत करके भारतेन्दु ने अपने ज्ञान का सहज ही संकेत दे दिया है। इसी नाटक में सूत्रधार द्वारा मङ्गलाचरण को भैरव राग में वद्ध किया गया है। भैरव धार्मिक प्रकृति तथा भक्तिरस का राग है।[६] इस नाटक में भारतलक्ष्मी भारत-माता को जगाते हुये राग मलार में निम्न गीत गाती है—

लखौ किन भारतवासिन की गति।
मदिरा मत्त भये से सोअत व्है अचेत तजि सब मति॥[७]

राग मलार वर्षा ऋतु का राग है—इसी समानता को लाने के लिए भारतेन्दु ने इस गीत में वर्षा ऋतु का रूपक बांधा है। "सती-प्रताप" के प्रथम दृश्य में तीन अप्सराओं का समूह गीत रागिनी वहार में वद्ध किया गया है क्योंकि गीत में प्रकृति के यौवन-सौन्दर्य का ही चित्रण है—

१—नीलदेवी : भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १) पृ० ५२७।
२—भारतीय श्रुतिस्वर-रागशास्त्र : पं० फिरोज़ फ्रामजी, सन् १९३५ ई० पृ०१९८
३—भारत-दुर्दशा : भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १) पृ० ४७३।
४—भारत जननी : भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १ पृ० ५०२।
५—संगीत दर्पण : पं० दामोदर : पृ० ७७, श्लोक सं० २७।
६—संगीत शिक्षा (भाग)२) : श्री कृष्ण रातजनकर, १९३२ वि०, पृ० ७३।
७—भारत-जननी : भारतेन्दु ग्रंथावली : (भाग १), पृ० ५०६।

नवल वन फूलों द्रुम बेली।
लहलह लहकहिं महमहकहिं मधुर सुगन्धहिं रेली।[१]

इसी प्रकार बन्दना के उपयुक्त प्रातः कालीन राग भैरव में ही वैतालिक राजा हरिचन्द्र की स्तुति करते गाते हैं—

रवि-कुल रवि निसि बीती प्रजा-कमल-गन फूले।
मंद परे रिपुगन तारा सम जन-मय-तम उनमूले॥[२]

इसी प्रकार चैत्र मास से सम्बन्धित चैता लोकगीत को भारतेन्दु ने राग चैती-गौरी में बांध कर संगीत और काव्य का अपूर्व समन्वय कर दिया है—

फूलन लागे राम बन नवल गुलाब।
फूलन लागे राम-महुआ फूले आम बैराने डारहि डार
भवरवा झूलन लागे राम।[३]

इस गीत में 'चैता' लोकगीत के समान ही लय, माधुर्य, शब्द-चयन इत्यादि का सामूहिक, स्वाभाविक और सरल सौंदर्य है।

सुगम संगीत में गीतों के वे विविध प्रकार आ जाते हैं जो भारतेन्दु-नाटकों में पर्याप्त संख्या में प्राप्य हैं। अस्तु—

गीतों के प्रकार :—

गीतों के निम्न प्रकार भारतेन्दु-नाटकों में प्रयुक्त हुए हैं—

१—ठुमरी २—गज़ल ३—भजन ४—कीर्तन ५—होरी ६—छावनी ७—बधाई

ठुमरी का प्रयोग अधिक अवसरों पर हुआ है। भारतेन्दु ने कहीं-कहीं तो गीत के भाव और प्रकृति की शृंगारिता, उन्माद, चांचल्य आदि को देखते हुए उसका संयोग ठुमरी से कर दिया है जो दर्शनीय है—'नीलदेवी' में नायिका एक गायिका का वेश धारण कर शराब में झूमते अमीर की आज्ञा से तीन गीत गाती है। तीनों ही गीत ठुमरी की चाल में हैं[४] तथा रचना की दृष्टि से भी गायिकाओं के हाव-भाव तथा मुद्राओं के अनुरूप हैं—

१—हां मोसे सेजिया चढ़लि नहिं जाई हो।
पिय बिनु सांपिन सी डसे विरह रैन।[५]
२ जाओ जाओ काहे आओ प्यारे कतराए हो।[६]
३—हां गरवा लगावै गिरधारी हो।[७]

१—भारतेन्दु ग्रंथावली : (भाग १), पृ० ६७९-६८०।
२—वही, पृ० ६८२।
३—सत्य हरिश्चन्द्र : भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १) पृ० २७२।
४—देखिए, प्रथम अध्याय, पृ०
५—नीलदेवी : भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १) पृ० ५४३।
६—वही पृ० ५४४।
७—वही, पृ० ५४५।

इन गीतों में 'हा', 'हो', 'जाओ जाओ', 'प्यारे', 'सेजरिया', 'गरवा' इत्यादि शब्द तदनुकूल वातावरण, अभिनय, भावोद्दीपन करने में समर्थ हैं तथा 'हो' के कारण सम पर आने का विशेष ध्वन्यात्मक सौन्दर्य आ जाता है। जो ठुमरी का विशेष गुण माना जाता है।

तत्कालीन पारसी नाटकों में गज़ल तथा उर्दू शेरो शायरी से युक्त सस्ते गीतों की प्रचुरता के कारण भारतेन्दु ने गज़ल का प्रयोग एक-दो स्थलों पर ही किया है, वह भी पात्र की प्रकृति तथा परिस्थिति का ध्यान रखते हुए। 'भारत-दुर्दशा' में 'आलस्य' अपना परिचय गज़ल गाकर देता है—

दुनियां में हाथ पैर नहीं हिलाना अच्छा।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा।
फाकों से मरिए पर न कोई काम कीजिए।
दुनियां नहीं अच्छी है जमाना नहीं अच्छा।[1]

इस स्थल पर गज़ल का प्रयोग भारतेन्दु के संगीत-ज्ञान एवं प्रतिभा को स्पष्ट करता है क्योंकि गज़ल का गायन धीमी गति से ही होता है अतएव 'आलस्य' के प्रतीक पात्र के लिए गज़ल अत्युपयुक्त है।

भजन का प्रयोग अधिकतर मंगलाचरण के रूप में हुआ है जो कि उनके सभी नाटकों का आवश्यक अंग है। कीर्तन नारद—जैसे पात्र की विशेषता बनकर नाटकों में प्रयुक्त हुआ है। ऐसे गीतों की रचना प्रचलित प्रणाली के आधार पर ही हुई है तथा उनका संगीत भी कीर्तन की सर्वसाधारण गायन-प्रणाली पर आधारित है। उदाहरणार्थ—'सती प्रताप' में नाचते और वीणा बजाते नारद का गायन—'चाल नामकीर्तन महाराष्ट्रीय कटाव' पर हुआ है—[2]

जय केशव करुण-कंदा।
धय नारायण गोविन्दा।

नारदा का प्रस्थान भी 'बाडल भजन की चाल' पर गाए गए निम्न कीर्तन से होता है—

बोलो कृष्ण कृष्ण राम राम परम मधुर नाम।[3]

होरी का प्रयोग भारतेन्दु ने विशुद्ध होली के चित्रण को लेकर नहीं किया है किन्तु होरी का एक रूपक बांधकर किया है जिससे उनके अभीष्ट की सिद्धि भी हो गई है और 'होरी' का प्रयोग भी हो गया है। जैसे 'भारत-जननी' में भाग्य और अभाग्य के संघर्ष को होली की झकझोरी के रूप में रूपक द्वारा चित्रित किया है। विशेषता यह है कि शब्दों का चयन इतना सारगर्भित, कोमल, सरस, लयपूर्ण तथा होली के

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृ० ४८०।
२—वही, पृ० ६९२-९३।
३—वही, पृ० ६९३-९४।

उत्सव से सम्बन्धित है कि भारतेन्दु की काव्य-कुशलता एवं संगीतज्ञता उसमें मुखर हो उठती है। यह होरी इस प्रकार है—

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी-अपनी जय सब चाहत दौड़ परी दुहुं ओरी।
दुंद सखि बहुत बढ़ो री।[1]

इस होरी में 'कुमकुमा', 'रंग', 'पिचकारी', 'गुलाल' इत्यादि शब्द होली का दृश्य उपस्थित कर देते हैं। दोष केवल यही है कि अत्यधिक विस्तृत होने के कारण इस 'होरी' से नाटकीयता में बाधा पड़ती है।

लावनी का सुन्दरतम प्रयोग 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' नाटकों में हुआ है। 'भारत-दुर्दशा' का तो आरंभ ही लावनी से होता है। यह लावनी नाटक के कथानक का अनिवार्य अंग है क्योंकि इसी में भारत की दुर्दशा का अत्यन्त करुण एवं प्रभावशाली चित्र उपस्थित किया गया है—

रोवहु सब मिलिके आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥[2]

दूसरी 'लावनी' 'नीलदेवी' नाटक के सातवें दृश्य में कैद में मूर्छित सूर्यदेव के आगे एक देवता द्वारा गवायी गई है।[3]

बधाई गीत तात्कालिक परम्परा का परिणाम है। मांगलिक अवसरों पर अप्सराओं अथवा वेतालिकों द्वारा बधाई गीत उपस्थित कराए गए हैं उदाहरणार्थ— 'सती-प्रताप' में प्रसन्न यमराज द्वारा सत्यवान की प्राण-वायु लौटाने पर अप्सरायें आनन्द मग्न हो गाती आती हैं—

आओ सब मिलि प्रेम बधाई।[4]

गीत के उन प्रकारों के अतिरिक्त लोकगीत का सरल, सरस और स्वाभाविक स्वरूप भी भारतेन्दु-नाटकों में मिलता है। लोकगीत-रचना में भारतेन्दु जी सिद्धहस्त हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। 'भारत-जननी' नाटक में टूटे देवालय में निद्रावस्था में उदास बैठी भारत-जननी को जगाने में असमर्थ भारत-दुर्गा जो गीत गाती हैं उसमें एक ओर भारत के प्रति घोर निराशा, उसकी असह्य दुर्दशा का सांकेतिक चित्रण किया गया है, दूसरी ओर स्वाभाविक शब्दावली का सौंदर्य, लय, ध्वनि और लोकगीत की सरलता उसमें बसी हुई है, यथा—

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृ० ५०३।
२—वही, पृ० ४६९-४७०।
३—वही, पृ० ५३१-५३२।
४—वही, पृ० ७०७।

अब हम जात हो परदेसवां कठिन फिर होइहैं मिलनवां हो रामा।
अरे मुखहू न कोई बोले कोई न आदर देय मोरे रामा।
अरे सपनेहु न मोर पियरवा रे भुजभर मोंहि लेय।
अरे अवहूं न सोचत लोगवा मति सब गयी बोराय हो रामा।[१]

'अरे', 'हो रामा', 'परदेसवा', 'मिलनवा', 'लोगवां', 'पियरवा'[२] आदि शब्द लोक-गीत-माधुर्य एवं लय से युक्त हैं तथा गीत में गति, ताल और प्रवाह की सृष्टि करते हैं।

ताल, वाद्य और नृत्य

संगीत के इन तीनों ही अंगों का प्रयोग भारतेन्दु-नाटकों में अधिक नहीं हुआ है। गीत के साथ ताल का निर्देश कुछ ही स्थलों पर किया गया है। 'भारत-दुर्दशा' के कई गीतों में से केवल मदिरा द्वारा गाए गए गीत के साथ ताल धमार का उल्लेख हुआ है। ताल-निर्देश का सर्वाधिक ध्यान 'सती-प्रताप' में रखा गया है जिसके अधिकतर गीत राग और ताल के उल्लेख से युक्त हैं। प्रमुखतः निम्नांकित तालों का उल्लेख उनके नाटकों में हुआ है—

(१) तिताल, (२) धमार, (३) इकताल, (४) आड़ाताल, (५) चर्चरी। इनमें से तिताल का प्रयोग अधिक हुआ है। सोलह मात्राओं की इस ताल का प्रयोग 'विद्यासुंदर',[३] 'नीलदेवी',[४] 'सती-प्रताप',[५] नाटकों में हुआ है। 'सती-प्रताप' में ही नारद के कीर्तन के लिए चाल भैरव के साथ इकताल और वाडल मजन की चाल के लिए आडा ताल का संकेत नाटककार ने किया हैं।[६] ताल चर्चरी का प्रयोग 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में पुरोहित द्वारा गाए गए राग कान्हरा में बद्ध गीत के साथ किया गया है।[७]

वाद्य-संगीत भी यद्यपि स्वतंत्र रूप में भारतेन्दु नाटकों में प्रयुक्त नहीं हुआ है फिर भी विवेचन की दृष्टि से निम्न वाद्यों का प्रयोग उन्होंने यथावसर किया है—

(१) वीणा, (२) वेणु, (३) सारंगी।

वीणा का प्रयोग तो नारद-पात्र की चारित्रिक विशेपता के कारण हो गया है उदा-

---

१—भारतेन्दु ग्रन्थाथली (भाग १) पृ० ५०५।
२—वही, पृ० ४८३।
३—वही, पृ० ८।
४—वही, पृ० ५४२।
५—वही, पृ० ६८१।
६—वही, पृ० ६९३-६९४।
७—वही, पृ० ७२।

हरणार्थ 'सती-प्रताप'[1] में और 'श्रीचन्द्रावली'[2] में नारद वीणा बजाते और गाते आते हैं। इसी प्रकार वेणु का प्रयोग भी कृष्ण के कारण स्वभावत: हो गया है यथा 'श्रीचन्द्रावली' में पृष्ठभूमि से कृष्ण की वेणु की ध्वनि सुनायी पड़ती है ।[3] सारंगी वाद्य का प्रयोग गीत के सहायक रूप में हुआ है। 'श्रीचन्द्रावली' की जोगन सभी गीत सारंगी बजाकर गाती हैं। स्वयं भारतेन्दु जी ने एक स्थल पर यह संकेत दिया है कि 'जब जब गावेंगी सारंगी बजाकर गावेंगी ।[4] सारंगी का यह प्रयोग भारतेन्दु काल में प्रचलित शास्त्रीय संगीत-पद्धति के प्रभावस्वरूप है क्योंकि भारतीय शैली में शास्त्रीय गायन में तानपूरे के अतिरिक्त संगत देने के लिए सारंगी का महत्वपूर्ण स्थान है जिसका प्रयोग आज भी किया जाता है।

नृत्य भी स्वच्छन्द रूप में उनके नाटकों में नहीं मिलता है । नृत्य के दो ही रूप मिलते हैं—

१—अप्सरा नृत्य

२—पात्र-परिचय के साथ नृत्य

'सती-प्रताप' के अन्त में अप्सरा-नृत्य के साथ यवनिका गिरती है ।[5] नृत्य का दूसरा रूप अधिक प्रयुक्त हुआ है । 'भारत-दुर्दशा' में विविध प्रतीकात्मक चरित्र नृत्य तथा गीत द्वारा अपना परिचय देते हुए रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। उदाहरणार्थ 'अन्धकार' का स्खलित नृत्य करते हुए आना[6] तथा 'सत्यानाश' और 'भारत-दुर्दशा' का पात्र रूप में नाचते हुए प्रवेश करना ।[7] इसी प्रकार 'सती-प्रताप' में यमदूत गण नाचते-गाते आते हैं ।[8] तात्पर्य यह कि इनसे नृत्य की किसी विशेष प्रणाली का अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि नृत्य के इस रूप के प्रयोग में नाटककार का उद्देश्य पात्र-प्रवृत्ति को प्रस्तुत करना तथा अभिनय के लिए अधिक स्वतंत्रता प्रदान कर नाटक को आकर्षण एवं मनोरंजक बनाने का जितना रहा है उतना नृत्य-कला का प्रदर्शन करना नहीं। अत: ये नृत्य साधारणतम कोटि के हैं।

संगीत का प्रयोजन

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह सरलता पूर्वक ज्ञेय है कि भारतेन्दु की दृष्टि से नाटक में संगीत की उपयोगिता क्या और क्यों थी ? मुख्यत: उन्होंने

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) : पृ० ६९२ ।
२—वही, पृ० ४१७ ।
३—वही, पृ० ४१९ ।
४—वही, पृ० ४५३ ।
५—वही, पृ० ७०८ ।
६—वही, पृ० ४८३ ।
७—वही, पृ० ४७६-४७४ ।
८—वही, पृ० ७०२ ।

कुछ गीतों की स्वरलिपि दी गयी है जो नाट्य-साहित्य की एक नयी देन है। नाटक-गीतों के साथ जिन रागों और तालों का उल्लेख किया गया है उनकी शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से परीक्षा करना तथा तालों की मात्राओं के अनुसार गीतों को घटित करके दिखाना प्रथम एवं मौलिक प्रयास है। इन सब विशेषताओं को देखने के उपरान्त लेखिका की यह निश्चित धारणा है कि हिन्दी नाटककारों में संगीत कला को पहचानने की दृष्टि थी। भले ही वे शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से उच्च कोटि के कलाकार न हों, किन्तु संगीत-सम्बन्धी सिद्धान्तों, एवं उसके विविध स्वरूपों तथा प्रभाव से वे निश्चित ही अवगत थे। साथ ही इस तथ्य को भी नहीं भुलाया जा सकता कि ये पहले नाटककार थे, बाद में संगीतकार।

इस प्रबन्ध में १९१० ई से १९६० ई० तक के हिन्दी नाटकों को लिया गया हैं। नाटकों के इस काल को लेने का एक महत्वपूर्ण कारण है, वह यह कि प्रायः विद्वद्वर्ग में यह भ्रम फैला हुआ है कि प्रसाद के नाटकों के समय तक तो नाटकों में संगीत का स्थान रहा किन्तु उनके बाद से संगीत सर्वथा बहिष्कृत हो गया। सत्य कुछ और ही है। १९३५ ई० के बाद भी हिन्दी नाटकों में संगीत की निश्चित योजना मिलती है तथा संगीत के नवीन प्रयोग भी मिलते हैं अतएव विकास और परम्परा तथा अवांछित भ्रम को दूर करने की दृष्टि से नाटकों के इस काल को लेना उचित समझा गया। यह अवश्य है कि १९१० ई० से पूर्व अर्थात् भारतेन्दु और भारतेन्दु-कालीन नाटकों में संगीत की भरमार है किन्तु इस तथ्य को सभी जानते हैं और स्वीकार करते हैं। साथ ही उपर्युक्त काल-सीमा को बांधने पर भी विकास और परम्परा की दृष्टि से १९१० ई० से पूर्व नाटकों पर विचार करना आवश्यक था ही। अतएव सत्य तो यह है कि इस सीमा-निर्धारण के होने पर भी नाटकों के प्रारम्भिक काल से वर्तमान काल तक संगीत-परम्परा का पूर्ण चित्र सम्मुख आ जाता है। इस प्रकार इस प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी-नाटकों में संगीत की परम्परा और विकास, संगीत की सामग्री, उसकी शास्त्रीय एवं नाटकीय उपयुक्तता और अनुपयुक्तता तथा संगीत के प्रति तत्कालीन जनता और नाटककारों के दृष्टिकोण को विद्वद्जनों के सम्मुख प्रस्तुत करना है।

इस प्रबन्ध में केवल पूर्ण नाटकों को ही लिया गया है, एकांकी, गीतिनाट्य, रेडियो-नाटक आदि को नहीं। सुस्पष्ट तथा गंभीर रूप से अध्ययन और विश्लेषण करने के लिए यह सीमा बांधना आवश्यक था।

समस्त सामग्री का सुचारु रूप से विवेचन करने के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध को सात अध्यायों में बांटा गया है। प्रथम अध्याय में संगीत के अर्थ, उसके आधार तथा संगीत के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है क्योंकि नाट्य-संगीत पर विचार करने के लिये संगीत के स्वरूप पर प्रकाश डालना आवश्यक था। इसी अध्याय में जन-जीवन में अभिनय तथा संगीत के मिश्रित रूप एवं संस्कृत नाटकों में संगीत की स्थिति तथा

निम्न उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए नाटकों में संगीत का प्रयोग किया है—

१—नाटक के नीरस वातावरण को दूर करने तथा आकर्षण में वृद्धि करने के लिए।

२—कथा-प्रसंग को बढ़ाने के लिए।

३—पात्रों के मनोभावों-हर्ष-शोक, आशा-निराशा आदि तथा चरित्र-गत विशेषताओं की अभिव्यक्ति के लिए।

४—करुण, शृंगार, वीर, वीभत्स, अद्भुत आदि भावों के उद्दीपन के लिए।

५—हास्य तथा कटु व्यंग का संकेत देने के लिए।

६—किसी मुख्य गंभीर समस्या का अंकन करने के लिए।

७—प्रणयी की उन्मादावस्था का चित्रण करने के लिए।

८—प्रकृति वर्णन के लिए।

९—पात्रों का शारीरिक सौन्दर्य की शोभा-वर्णन के लिए।

१०—पात्रों का गीतात्मक परिचय देने के लिए।

११—मंगलाचरण, प्रार्थना तथा भगवद्भजन के रूप में।

१२—महिमा-वर्णन के लिए तथा बधाई देने के लिए।

१३—दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए।

नाटक में संगीत के प्रयोग का प्रमुख उद्देश्य नाटक की रोचकता में वृद्धि करना ही है। 'प्रेम जोगिनी', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'सती-प्रताप' आदि नाटकों के गीत इस दृष्टि से सफल हैं। उनके गीत नाटकीय कार्य-व्यापार को अवरुद्ध नहीं करते वरन् नाटकीयता की सृष्टि करते हैं। 'सती-प्रताप' के दूसरे दृश्यारम्भ में राग पीलू धमार में नेपथ्य से गाया गया गीत नाटकीय सौन्दर्य की दृष्टि से अतीव महत्व पूर्ण है—

'क्यों फकीर बन आया रे मेरे द्वारे जोगी'[1]

जोगी के भेष धारण किए तपोवन में बैठे हुए सत्यवान के हृदय में संघर्ष उत्पन्न करने के कारण गीत सुन्दर है ही किन्तु साथ ही एकान्त वातावरण में नेपथ्य से आती हुई गीत-ध्वनि नाटक के नीरस वातावरण को दूर कर उसे मोहक एवं आकर्षक बना देती है। इसके पश्चात् सखियों द्वार गाए गए गीत[2] तपोवन के प्राकृतिक दृश्य में अत्यन्त मनोहर प्रतीत होते हैं।

कथा को विस्तृत करने में तो भारतेन्दु जी का संगीत सहायक हुआ ही है किन्तु कहीं-कहीं कथा की गति के प्रेरक के रूप में अथवा कथा को आवश्यक एवं आकस्मिक मोड़ देने के रूप में भी संगीत का सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'नीलदेवी' नाटक में नायिका नीलदेवी अपने शत्रु अमीर की हत्या करने के लिए एक वेश्या का रूप धारण

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृ० ६८१।

२—सती-प्रताप : पृ० ६८२।

करती है और उसकी मजलिस में वैठकर गाती है।[1] ये गीत वेश्या-गीत के रूप में शृंगारपूर्ण हाव-भाव से युक्त हैं किन्तु इसी गीत के द्वारा वह अमीर को मुग्ध करती है, मद्यपान कराती है और उसकी मूर्छितावस्था में उसकी हत्या करती है। इस प्रकार यहां गीत द्वारा हत्या का प्रयत्न करना तथा उसमें सफल होना कथा का अनिवार्य अंग है। गीत के द्वारा ही कथा में आने वाली घटना आगे बढ़ती है और कथानक का अन्त करने में सफलता मिलती है। इस प्रकार का संगीत कथा-प्रसंग को गति भी देता है और नाटकीय आकर्षण को द्विगुणित करता है। इस दृष्टि से 'प्रेम जोगिनी' सती-प्रताप और 'नीलदेवी' के गीत सफल हैं।

पात्रों की मानसिक स्थिति तथा चारित्रिक विशेषताओं की व्यंजनार्थ संगीत अमूल्य अस्त्र है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण 'नीलदेवी' का निम्न गीत है। पहरा देते हुए देवीसिंह गाता है–

प्यारी बिन कटत न कारी रैन।
पल छिन न परत जिय हाय चैन ॥[2]

नेपथ्य से लोरी की मीठी धुन सुनने के उपरान्त, दूर देश में लड़ने के लिए गए हुए सिपाही के हृदय की यह वेचैनी जितनी स्वाभाविक है उतनी ही सत्य और समीचीन भी। देवीसिंह का सम्पूर्ण चरित्र उसके मानस में उठनेवाली कितनी ही भावनाओं को केवल इस गीत से ही समझ लिया जा सकता है। 'सती-प्रताप' में तीसरे दृश्य में (पृष्ठ ६८८) पर गायी ठुमरी तथा लावनी द्वारा सावित्री की चारित्रिक विशेषताओं तथा सत्यवान के प्रति उसके आकर्षण का ज्ञान होता है। 'चन्द्रावली' के गीत नायिका के प्रेम की अतिशयता तथा उसके वियोग-जन्य भावों को प्रकट करते हैं। 'सत्यहरिश्चन्द्र' में वैतालिकों के नेपथ्य-गीत[3] द्वारा राजा हरिश्चन्द्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

'भारत-दुर्दशा' तथा 'भारत जननी' के अधिकतर गीत करुण रस के परिपाक में सहायक हैं। 'चन्द्रावली' के गीत शृंगार-उद्दीपन के पूर्णतः अनुकूल हैं। 'विद्या सुन्दर' में भी कुछ गीत[4] शृंगार के वियोग पक्ष का चित्र उपस्थित करते हैं।

हास्य और व्यंग की सृष्टि के लिए संगीत के प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण 'अंधेर नगरी चौपट राजा' नाटक है। इस नाटक का प्रमुख गीत 'अंधेर नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा'[5] जहां एक ओर हास्य की सृष्टि करता है वहां

१—सती-प्रताप प्रथम अंक : पृ० ६५९।
२—नीलदेवी : पांचवां दृश्य : पृ० ५२८।
३—सत्यहरिश्चन्द्र : द्वितीय अंक : पृ० २७२।
४—वही, प्रथम अंक : पृ० १२।
५—वही, पांचवां अंक : प० ६७०।

छिपे हुए तीखे व्यंग को भी उपस्थित करता है। इस प्रकार का तीखा व्यंग्य 'भारत-दुर्दशा' नाटक में यत्र-तत्र प्राप्त होता है। कोरे हास्य के लिए भारतेन्दु ने संगीत का प्रयोग नहीं किया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के गीत[१] कटु व्यंग से आपूर्ण हैं।

भारतेन्दु ने अधिकतर अपने नाटक की मुख्य समस्या को संगीत के आश्रय से बड़ी सरलतापूर्वक व्यक्त कर दिया है। निश्चय ही वे मानव-हृदय पर संगीत के प्रभाव के ज्ञानी थे। राष्ट्रभाषा के प्रतिनिधि कवि के रूप में 'भारत-दुर्दशा' के प्रथम गीत में ही समस्या अंकित है।—

आवहु सब मिल कर रोवहु भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥[२]

राष्ट्रीय भावना का उद्दीपक यह गीत केवल इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें एक ओर तो भारत की दुर्दशा पर कवि के अनन्त क्षोभ की व्यंजना है दूसरी ओर इस लावनी में नाटक का पूर्ण कथानक, उसका मुख्य लक्ष्य तथा नाटक का अन्तरतम वातावरण उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार 'भारत-जननी' में होली के माध्यम अथवा रूपक द्वारा भारत की दीन दशा का चित्रण किया गया है।[३] 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के गीतों में प्राय: समस्या को ही अंकित किया गया है। 'प्रेम जोगिनी' में गीत द्वारा काशी के पाखण्ड की ओर संकेत किया गया है।[४]

प्रणयी की उन्मादावस्था का चित्रण करने के लिए संगीत के प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण 'चन्द्रावली नाटिका' है। इसके अधिकतर गीत प्रेम में उन्मत्त बावरी सी चन्द्रावली के अतिशय प्रेम के व्यंजक हैं। 'सती-प्रताप' में जोगिनी सावित्री की वियोगी अवस्था का बड़ा ही काव्यात्मक चित्रण है जो नेपथ्य से वैतालिक गान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[५]

प्रकृति-वर्णन के लिए संगीत का प्रयोग यद्यपि अधिक नहीं हुआ है फिर भी यह भारतेन्दु के कवि रूप का प्रभाव है। 'सती प्रताप'[६] नाटक में ही इस प्रकार के गीत उपलब्ध होते हैं।

संगीत पात्रों की शारीरिक शोभा के वर्णन हेतु भी माध्यम रहा है। 'विद्या-सुन्दर' में हीरा मालिन नायक के आगे नायिका के सौंदर्य का और नायिका के आगे नायक का सुन्दर छवि का संगीतमय वर्णन करती है।[७] इन गीतों का नाटक से विशेष

१—सत्यहरिश्चन्द्र : तृतीय अंक : पृ० ८२-८३।
२—वही, प्रथम अंक : पृ० ४६९-४७०।
३—भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १) : पृ० ५०३।
४—वही, दूसरा गर्भाङ्क : पृ० ३३३।
५—वही, तीसरा दृश्य : पृ० ६८६।
६—वही, वही, पहला दृश्य : पृ० ६७९-६८०।
७—वही, पृ० ८ तथा पृ० ११।

सम्बन्ध नहीं है। श्री चन्द्रावली [१] 'नाटिका और 'सती-प्रताप' [२] में भी इस प्रकार के गीत हैं। मुख्यत: इन गीतों का उद्देश्य नायक-नायिका के हृदय में प्रेम-भाव को उत्पन्न करना अथवा उनके मन:स्थित प्रणय को प्रकट करना है।

पात्रों का परिचय देने के लिए संगीत का प्रयोग भारतेन्दु ने अनेक स्थलों पर किया है। इस प्रकार के सबसे अधिक गीत 'भारत-दुर्दशा' नाटक में उपलब्ध होते हैं। भारत-दुर्दैव, सत्यानाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार [३] आदि जैसे आदि जैसे पात्र अपने-अपने गायन द्वारा अपना परिचय देते हुए प्रवेश करते हैं और चले जाते है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक में पिशाच और डाकिनीगण श्मशान घाट पर गाने-बजाने के द्वारा अपना परिचय देते हैं। [४] नाटकीयता व रोचकता की दृष्टि से यह गीत उपयुक्त है। इसी प्रकार 'सती-प्रताप' सत्यवान का प्राण-हरण करने के लिये आए हुए यमदूतगण परिचयात्मक गीत गाते आते हैं। [५] अभिनय के लिये इससे पर्याप्त सुविधा मिल जाती है।

नाटकों में मंगलाचरण, प्रार्थना तथा स्तुति सम्बन्धी गीत भारतेन्दु पर संस्कृत नाटकों की परम्परा का प्रभाव है। भगवद्भजन कुछ नाटकों में कीर्तन के श्रम में है। नारद के पात्र रूप में होने के कारण 'सती-प्रताप' में कीर्तन का सुन्दरतम रूप दृष्टिगत होता है। [६] 'अंधेर नगरी' का आरम्भ भी भजन से ही होता है। 'नीलदेवी' में प्रार्थना का उच्चतम स्वरूप है। [७]

महिमा-वर्णन के लिए संगीत के प्रयोग में भारतेन्दु पर रीतिकालीन कवियों का प्रभाव लक्षित होता है। 'सती प्रताप' में अप्सरायें सावित्री के पातिव्रत-धर्म की महिमा गाती है। [८] 'सत्य हरिश्चन्द्र' में नेपथ्य में वैतालिक राजा हरिश्चन्द्र की महिमा का ज्ञान करते हैं। [९] बधाई के रूप में संगीत का प्रयोग कुछ ही स्थलों पर हुआ है। 'नीलदेवी' [१०] और सती-प्रताप [११] में इस प्रकार के गीत मिलते हैं।

दर्शकों का मनोरञ्जन करना नाटकों का एक उद्देश्य है जिसमें संगीत सर्वाधिक सहायता देता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को मानकर गीत की उपादेयता पर सदैव ध्यान दिया है। किन्तु उनके गीत कोरे मनोरञ्जन को लेकर नहीं चले हैं। ये सोद्देश्य हैं। वे कथा-प्रेरक भी हैं, अभिनयार्थ भी हैं, तथा मन की स्थिति एवं

१—भारतेन्दु ग्रंथावली : (भाग १) चतुर्थ अंक : पृ० ४५३-४५४।
२—वही, दूसरा दृश्य : पृ० ६८३।
३—भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) : तीसरा अंक पृ० ४७२-४७४।
४—वही, चतुर्थ अंक : पृ० २९९।
५—वही, सातवां अंक : पृ० ७०२।
६—वही, पृ० ६९२-६९३।
७ वही, आठवां दृश्य : पृ० ५३६-५३७।
८—वही, सातवां दृश्य : पृ० ७०७-७०८।
९—वही, पृ० २७२।
१०—वही, पृ० ७०२।
११—वही, पृ० ७०७।

मुख्य समस्या के व्यंजक भी हैं।" परिस्थिति विशेष के अनुकूल गाए हुए गीत न केवल रसानुभूति में सहायक होते हैं वरन् पात्र के चरित्र का उद्घाटन करने में भी समर्थ होते हैं। वीर से वीर योद्धा भी युद्ध की भीषणता के पश्चात् शान्ति के समय कुछ गुनगुनाकर अपने हृदय को विश्राम देना चाहता है। कठोर से कठोर प्राणी संगीत के आवेश में अपनी पाषाण प्रकृति को भुला देता है। विरहणियां गीत गा-गाकर ही अपने दुखद क्षणों को भूलने में समर्थ होती हैं। गीत की उपयोगिता निर्विवाद है।"[१] कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतेन्दु के गीतों में ये सभी विशेषतायें मिलती हैं, अतएव उनके गीत उपयोगी हैं।

भारतेन्दु-नाटकों में संगीत और काव्य :

भारतेन्दु के नाट्य-गीत संगीत की दृष्टि से उपयुक्त हैं अथवा नहीं, इसके लिये उनकी भाषा, छंद, अलंकार तथा भावानुकूलता की परीक्षा आवश्यक है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, तो उनके सभी नाटक-गीत व्रजभाषा में विरचित हैं। चूंकि व्रजभाषा स्वयं कोमलता, लोच, माधुर्य एवं प्रवाह के कारण संगीत के अधिक निकट होती है जिसका कारण संयुक्ताक्षरों का अभाव तथा लोचपूर्ण शब्दों का प्रयोग होना है। अतएव यह सौंदर्य स्वभावत: ही इनके गीतों में विद्यमान है फिर भी कहीं-कहीं ध्वन्यात्मक शब्द, पुनरुक्ति तथा अन्य संगीत-प्रधान शब्द—रे, री, हो, रामा, अरे आदि के प्रयोग द्वारा उनके गीत संगीतप्रधान हैं उदाहरणार्थ[१]—

> **फूलन लागे राम वन नवल गुलववा।**
> **फूलन लागे राम-महुआ फले आम बौराने डारहि डार**
> **भंवरवा झूलन लागे राम।**

तीन पंक्ति के इस गीत में "झूलन लागे राम" विशेष मुखड़ा है जिसकी पुनरुक्ति संगीत उत्पन्न करती है तथा "भंवरवां" जैसे अनुस्वारयुक्त शब्द एवं "गुलववा" जैसे लोचयुक्त शब्द के कारण गीत में ध्वनि-माधुर्य तथा लय है। होली के गीत में "कुमकुमा", "गुलाब की झोरी", "छवीलिनी रंग रंगो री", "झूमका झूमि रहो री" जैसी ध्वनिपूर्ण शब्दावली है।[३] प्रत्येक स्थायी पंक्ति के अंत में "री" के प्रयोग से गीत में लय का संचार हुआ है। इसी प्रकार "विंदिया", "ललन"[४] "छिन"[५] "सेजिया"[६] "गरवा"[७], "लोयन", "जोगिनिया" और सोहिनिया"[८], "वयन"[९]

१—हिन्दी नाटक : बच्चन सिंह : पृ० ५९-६०।
२—सती प्रताप : भारतेन्दु ग्रन्थावली : (भाग १) पृ० ६७९-६८०।
३—भारत-जननी : भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृ० ५०४-५०५।
४—नीलदेवी : वही, पृ० ५२७। ५—वही, पृ० ५२८।
६—वही, पृ० ५४३। ७—वही, पृ० ५४५।
८—श्री चन्द्रावली : भारतेन्दु ग्रंथावली (भाग १), पृ० ४५३।
९—भारत जननी : वही, पृ० ५०२।

इत्यादि जैसे कोमल एवं अनुस्वारयुक्त शब्दों द्वारा उनके गीतों में अनुपम माधुर्य का अनुभव होता है। "वैदकी हिंसा हिंसा न भवति" में एक स्थल पर भारतेन्दु ने गीत में व्रजभाषा, उर्दू और अंग्रेजी का सम्मिश्रण कर दिया है क्योंकि यह गीत मदिरा से उन्मत्त राजा और मंत्री नाचते हुए गाते हैं। उन्मत्त व्यक्ति कुछ भी बोल सकता है, गा सकता है इसी कारण भाषा का यह सम्मिश्रण सार्थक ही है। गीत में मदिरोन्मत्त व्यक्ति के प्रलाप, अभिनय, नृत्य और गीत को स्वर देने का नाटककार ने प्रयास किया है, यथा—

पीले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम हरी रस का रे।
तननुं तननुं तननुं में है गाने का चसका रे॥
निनि धध पप मम गग रिरि सासा भरले सुर अपने वस प्यारे।
धिधिकट धिधिकट धिधिकट धाधा वजे मृदंग धाप कसका रे॥

× × ×

वहार आयो है भर दे वहाए गुलगूं से पैमाना
रहै लाखों वरस साकी तेरा आवाद मैखाना॥[१]

इस गीत में भजन (प्रथम पंक्ति में), तराना (द्वितीय पंक्ति), सरगम (तृतीय पंक्ति) मृदंग के बोल (चौथी पंक्ति), तदुपरान्त उर्दू शायरी और अंग्रेजी गीत का एक साथ सम्मिश्रण है। भजन, तराना, सरगम, बोल, शायरी सभी संगीत के ही अंग हैं अतएव गीत में जहाँ संगीतात्मकता बनी रही है, वहाँ इस विविध संगीत द्वारा जनता का मनोरंजन भी होता है, मदिरोन्मत्त पात्र को अभिनय करने की स्वतन्त्रता भी मिलती है और इस सबके साथ उन्माद और पतन की दुर्दशा का चित्रण करने वाले नाटक के मुख्योद्देश्य में भी गीत सहायक होता है। अतएव भारतेन्दु केवल संगीत के लिये संगीत का प्रयोग नहीं करते थे वरन् अभिनय और संगीत की व्यावहारिक उपयोगिता का भी नाटक की दृष्टि से विशेष ध्यान रखते थे।

जहां तक छन्दों का प्रश्न है तो भारतेन्दु के सभी नाट्य-गीत मात्रिक छन्दों में बद्ध हैं अत: उनमें "गति, ताल, लय का समन्वय है। छन्दों में विशेषत: उन्होंने "पद" का प्रयोग किया है जो कि टेक के कारण अत्यन्त संगीतमय होता है। उदाहरणार्थ—

मन की कासों पीर सुनाऊं ?[२]

इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार उनके गीत गजल, लावनी, चैता, होरी, कीर्तन तथा ठुमरी की चाल पर विरचित हैं जिनके उद्धरण स्थान-स्थान पर दिए जा चुके हैं।

१—वही, पृ० ८७।
२—श्रीचन्द्रावली : पृ० ४६३।

उनके नाट्य-गीतों में रसों की विविधता है। मुख्यतः निम्न रसों में गीत प्राप्य हैं—

१—शृंगार रस २—करुण रस ३—हास्य रस ४—वात्सल्य रस ५—अद्भुत रस ३—वीभत्स रस ७—वीर रस।

शृंगार के वियोग पक्ष के गीत अधिक हैं यथा 'चन्द्रावली में। करुण' रस का सर्वोत्तम उदाहरण 'भारत दुर्दशा' की लावनी हैं।[1] इसके अतिरिक्त 'भारत-जननी' में भी करुण रस गीत है। हास्य रस के गीत 'अंधेर नगरी' में दृष्टव्य है। यह गीत हास्य रस में होते हुए भी केवल हास्य के लिए नहीं है वरन् उसमें कटु व्यंग्य है जो कथानक का अभिन्न अंग है तथा जिसके अभाव में नाटक अपूर्ण है। वात्सल्य रस का गीत 'मोरी' के रूप में केवल 'नीलदेवी' में उपलब्ध होता है।[2] अद्भुत रस के गीत 'सती-प्रताप' में [3] और वीररस के गीत 'सत्य हरिश्चन्द्र' में वहां उपलब्ध होते हैं जहां चांडाल वेश-भूषा में हरिश्चन्द्र के विचारमग्न होने पर श्मशान में पिशाच और डाकिनीगण आकर गाने लगते हैं—[4] वीर रस का गीत 'नीलदेवी' में सोमदेव द्वारा गाया गया है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार प्रत्येक नाटक के प्रत्येक गीत में रस परिवर्तन होता रहा है। विशेषता यही है कि अधिकतर नाटकों का संगीत रस-परिपाक में सहायक है। 'चन्द्रावली' के गीत नाटिका के मुख्य रस शृंगार के वियोग पक्ष का परिपाक करने में सहायता देते हैं। उसी प्रकार 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत जननि' के गीत करुण रस का परिपाक करने में पूर्णतः समर्थ हैं।

अलंकार उनके गीतों का महत्वपूर्ण अंग है। भारतेन्दु कवि थे और रीतिकालीन काव्य का प्रभाव उन पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। जैसा कि वच्चन सिंह का कथन है कि रीतिकाल की काव्यपरम्परा उन्हें विरासत के रूप में मिली थी।[5] किन्तु यह अवश्य है कि भारतेन्दु के नाट्य-गीत काव्यात्मक होने पर भी अलंकारों से वोझिल नहीं हैं। उन्होंने प्रायः अनुप्रास उपमा, और उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग गीतों में किया है। वह प्रयोग भी साधन रूप में होने के कारण संगीत में वाधक नहीं होता। अनुप्रास की छटा गीत के सौन्दर्य को वढ़ाती है, यथा—

नवल वन फूलीं द्रुम वेली।
लहलह लहकहिं महमहकहिं मधुर सुगन्धहि रेली ॥[6]

१—श्रीचन्द्रावली : पृ० ४६९-४७०।
२—वही, पृ० ५२७।
३—वही, पृ० ६७९-८०:
४—वही, पृ० २६९।
५—हिन्दी नाटक : पृ० १९
६—सती-प्रताप : भारतेन्दु ग्रंथावली (भाग १) पृ० ६७९-८०।

रूपक का सर्वोत्तम उदाहरण 'भारत जननी' की होरी है जिसमें होरी के रूपक द्वारा भाग्य-अभाग्य के संघर्ष का चित्रण कर भारतेन्दु ने अपनी काव्यकला और संगीतकला का परिचय दिया है। उपमा का प्रयोग गीत को मधुरतम बना देता है—

हां मोसे सेजिया चढ़लि नहिं जाई हो।
पिय बिनु सांपिन सी डसे विरह रैन।

अलंकारों का यह स्वाभाविक सौंदर्य उनके प्रायः गीतों में विद्यमान है। 'चन्द्रावली' के गीत काव्यात्मकता के उत्कृष्ट रूप हैं। बिना अलंकार के भी गीत कितना संगीत-मय हो सकता है यह 'नीलदेवी' के निम्न गीत से स्पष्ट होता है—

सोओ सुख निंदिया प्यारे लालन

× × ×

भई आधी रात वन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात,
जड़ प्रकृति भई मनु थिर लखात
पातहु नहिं पावत तरुन हलन,
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत हाय।

इस प्रकार भारतेन्दु के नाट्य-गीतों में काव्य तथा संगीत सम्बन्धी ये विशेषतायें होते हुए भी उनकी सबसे अधिक आवश्यकता रंगमंच की दृष्टि से अपेक्षिणीय है क्योंकि रंगमंच या अभिनय नाटक का मुख्यांग है। रंगमंच की दृष्टि से उनके संगीत में निम्न दोष दृष्टिगत होते हैं—

१—गीतों की बहुलता
२—गीत का विस्तार
३—कई गीतों का एक साथ गायन
४—एक ही पात्र द्वारा कई गीतों का एक साथ गायन

गीतों की बाहुल्यता उनके विविध नाटकों में दिखाई जा चुकी है जिनसे अभिनय में अत्यधिक बाधा पड़ती है, नाटकीयता तथा कथा के जिज्ञासा तत्व का विनाश हो जाता है। 'चन्द्रावली' और 'भारत-जननी' इसी कारण सफल नाटक नहीं कहे जा सकते।

कहीं-कहीं गीत अधिक लम्बे हो गए हैं उदाहरण के लिए 'सती-प्रताप' के तृतीय दृश्य में वैतालिकों का नेपथ्य गान जिसमें सत्यवान के ध्यान में मग्न जोगिन रूपिणी सावित्री की वियोग-दशा का वर्णन है। भारत जननी की होरी भी बहुत विस्तृत है। 'प्रेम जोगिनी' का एक ही गीत ३४ पंक्तियों का है। गीत का विस्तार संगीत और अभिनय दोनों के सौंदर्य को नष्ट कर देता है तथा दर्शकों को ऊबाने का कार्य करता है।

कई गीतों का एक साथ गायन 'सती-प्रताप', 'भारत-भारती', 'चन्द्रावली' नाटकों में स्थान-स्थान पर हुआ है। इसी प्रकार 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' में एक ही पात्र द्वारा तीन गीत गवाए गए हैं। इससे पात्र का चरित्र-चित्रण भी शिथिल हो जाता है और रंगमंचीय दृष्टि से अस्वाभाविक भी प्रतीत होता है।

इन सभी दोषों के होने पर भी भारतेन्दु के अधिकतर गीत संक्षिप्त, प्रसंगानुकूल तथा अभिनयपूर्ण हैं। कुछ गीत तो दो या चार पंक्ति के ही हैं एवं अत्यन्त मनोहर हैं जैसे 'सती-प्रताप' में केवल दो पंक्तियों का गीत—

विदेसिया वे प्रीति की रीति न जानी।
प्रीति की रीति कठिन अति प्यारे कोई विरले पहचानी ॥[१]

'नीलदेवी' के अधिकतर गीत छोटे किन्तु सारगर्भित हैं।

अतएव उपर्युक्त कुछ दोषों के अतिरिक्त भारतेन्दु के उत्कृष्ट गीत नाटक-साहित्य को अमूल्य देन हैं क्योंकि उनके गीत उनकी सुन्दर रुचि तथा शास्त्रीय ज्ञान के परिचायक हैं जिसने पारसी कम्पनियों द्वारा फैलाए गए दूषित वातावरण और हल्के-पुल्के संगीत के अशुद्ध मार्ग को शुद्ध किया। उन्होंने नाटक-संगीत को बाजारू स्थिति से उठाकर पक्के राग-रागिनियों एवं जन-संगीत द्वारा उसका पुनरुद्धार किया। सस्ते, असाहित्यिक गीतों के स्थान पर उन्होंने उच्चकोटि के कलात्मक गीति-काव्य की प्रतिष्ठा की। यही कारण है कि अपने अनुवादित नाटकों में भी उन्होंने अपनी संगीत-प्रियता की छाप छोड़ दी है। 'मुद्राराक्षस' के परिशिष्ट में उन्होंने शास्त्रीय रागों में बंधे हुए सुन्दर गीतों को समाविष्ट किया है जो कि नाटक की गद्यात्मक नीरसता को दूर कर सकेंगे।

सारांशत: भारतेन्दु ने नाटक में उच्चकोटि के संगीत तथा आवश्यकतानुकूल उसके प्रयोग के महत्वपूर्ण स्थान की स्थापना की। स्वयं उनके द्वारा प्रयुक्त संगीत से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें संगीत के अनन्य आकर्षण, उसके अभीष्ट प्रभाव, उसकी मनोवैज्ञानिकता तथा अनुपम सौन्दर्य का कितना ज्ञान था। इसी कारण उस समय की बड़ी से बड़ी समस्याओं को उन्होंने संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किया। यही नहीं, भारतेन्दु गीतों के विषयों में अनेकरूपता लाए। उनसे पूर्व गीत भक्ति और शृंगार तक ही सीमित थे। भारतेन्दु ने इसके साथ-साथ देशभक्ति, मदिरा, फूट-वैर, जन्मभूमि-दुर्दशा, मांस-भक्षण, वात्सल्य, पति-भक्ति, सन्देश, जागरण, मिलन-विरह, व्यंग-हास्य आदि को भी अपने गीतों में वाणी दी। भाव-क्षेत्र में वे नाट्य-गीतों को मानव-जीवन के यथार्थ पहलू के अधिक निकट लाए। अपने चेतना-उद्बोधक गीतों की सृष्टि करके वे जन-जीवन के निकट आए। यही कारण है कि उन्होंने न केवल शास्त्रीय रागों द्वारा संगीत की प्रतिष्ठा की वरन् ग्राम-गीतों को नाटक-साहित्य की अमूल्य निधि बना दिया। इस प्रकार भाषा, भाव, विषय, कला, संगीत तथा अभिनय

१—सती-प्रताप : भारतेन्दु ग्रंथावली : (भाग १) पृ० ६८१।

सभी दृष्टि से उनका संगीत नाटकों में उपस्थित समस्याओं, व्यंगों तथा वातावरण को और भी अधिक सम्पन्नता देता है। उनका यह प्रयास आगामी नाटककारों का पथ-प्रदर्शक बन गया।

भारतेन्दु के समकालीन नाटकों में संगीत :

भारतेन्दु ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा से हिन्दी नाटकों में संगीत के जिस महत्व की स्थापना की थी उसी का अनुगमन उनके समकालीन नाटककारों ने किया। यही नहीं, उन नाटककारों ने अपनी प्रतिभा एवं कला की समुचित अभिव्यंजना की। एक ओर उन्होंने संगीत की शास्त्रीय परम्परा को अपनाया और दूसरी ओर सुगम-संगीत तथा जन-गीतों का सरस स्वरूप भी। गीत के विविध प्रकार उनके नाटकों में मिलते हैं जो संगीत और साहित्य को दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। ताल, वाद्य और नृत्य का वैविध्य जो भारतेन्दु में न था, वह इनमें उपलब्ध होता है। नाटक के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उन्होंने संगीत को अपना सहायक बनाया। एक प्रकार से भारतेन्दु के अदम्य उत्साह तथा अप्रतिम प्रयत्न को उनके समकालीन नाटककारों ने सफलीभूत करने के लिए और भी परिश्रम किया। उन्होंने नाटकों में संगीत की परम्परा को अविच्छिन्न ही नहीं रक्खा वरन् उसे प्रवर्द्धित करके अनेकरूपता प्रदान की और साथ ही संगीत के नए-नए प्रयोग भी किए।

भारतेन्दु-काल के प्रतिनिधि नाटककार बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, श्री निवासदास, राधाकृष्णदास, अम्बिका दत्त व्यास, किशोरीलाल गोस्वामी, शालिग्राम वैश्य, राधाचरण गोस्वामी, खड्‌गबहादुर भल्ल, देवकीनन्दन त्रिपाठी आदि हैं। इन्होंने तथा अन्य नाटककारों ने अपने नाटकों में संगीत तथा नाटक का जो अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है उसके द्वारा तत्कालीन रुचि, प्रवृत्ति तथा संगीत की महत्ता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। नाटकों के अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि नाटककारों ने संगीत को अनिवार्य तत्व स्वीकार कर लिया था अथवा वे संगीत के बिना नाटक को अपूर्ण मानते थे क्योंकि प्रायः सभी नाटकों में संगीत किन्हीं रूपों में अवश्य मिलता है। यहां तक कि कुछ नाटकों में तो संगीत है, कथानक का अभाव है मानों तत्कालीन दर्शक-जन नाटक की अपेक्षा संगीत में अधिक रुचि लेते हों।

संगीत की दृष्टि से इस काल के नाटकों को हम निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१—गीत प्रधान नाटक

२—अपेक्षाकृत कम गीत वाले नाटक

३—गीत रहित नाटक

प्रथम प्रकार के नाटकों में कथानक का पूर्णतः अभाव है तथा नाटकीयता के स्थान पर संगीत और काव्य की प्रमुखता है। गीतों की संख्या इन नाटकों में इतनी

परम्परा का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भारतेन्दु से पूर्व ब्रजभाषा नाटकों में प्रमुखतः 'आनन्द-रघुनन्दन' तथा 'इन्दरसभा' पर संगीत की दृष्टि से विचार किया गया है। तदुपरान्त भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र ने किस प्रकार नाटक-संगीत के गिरते हुए स्तर को ऊंचा उठाया एवं नाटक में शास्त्रीय और लोक संगीत की मर्यादा प्रतिष्ठित की तथा साथ ही भारतेन्दु के समकालीन नाटकों में संगीत-पक्ष का किस प्रकार विकास हुआ ? नाटकों में किन राग-रागिनियों, तालों, गीत के प्रकारों, लोकगीतों, वाद्यों एवं नृत्य का प्रयोग हुआ और इन सबका क्या प्रयोजन रहा ? इत्यादि दृष्टि से विवेचन करके शोध-प्रबन्ध की पृष्ठभूमि तैयार की गयी है।

तृतीय अध्याय में जयशंकर प्रसाद के नाटक संगीत की विशद व्याख्या एवं समीक्षा की गयी है। १९१० ई० के नाटककारों में सर्वप्रथम स्थान प्रसाद का ही है। उन्होंने नाट्य-संगीत को, संगीत, काव्य तथा नाटक की दृष्टि से विशिष्ट मोड़ देने का प्रयास किया। उसमें उन्होंने भारतीय मर्यादा, आदर्श और गौरव को संस्थापित किया, इसी महत्व के कारण प्रसाद के नाट्य-संगीत पर पृथक् रूप में विचार किया गया है। इससे उनकी नवीनता, विशेषता, कलात्मकता देखी जा सकेगी।

प्रसाद के समकालीन (१९१०-१९३५) नाटकों से लेकर आगामी नाटकों (१९३५-१९६०) में संगीत की स्थिति एवं उसके इतिहास पर चतुर्थ अध्याय में प्रकाश डाला गया है। स्पष्ट विवेचन तथा विशद अध्ययन की दृष्टि से यह विभाजन आवश्यक हो गया। इसी कारण विभाजन की इस प्रणाली का अनुसरण सप्तम अध्याय तक किया गया है। इस अध्याय में रङ्गमंचीय और साहित्यिक नाटकों में संगीत की परम्परा और विकास तथा प्रभाव का वर्णन मात्र है। रङ्गमंचीय नाटकों में संगीत-परम्परा का चित्रण १९३५ ई० तक ही किया गया है क्योंकि उसके बाद उनकी परम्परा समाप्त प्राय हो जाती है। पृथ्वीराज कपूर थियेटर्स द्वारा 'आहुति' 'गद्दार', 'पठान', 'दीवार', 'पैसा' आदि नाटक खेले अवश्य जाते रहे किन्तु उनमें संगीत को विशेष स्थान नहीं दिया गया। 'गद्दार' में तो संगीत है ही नहीं। अन्य नाटकों में भी संगीत का प्रयोग गिने-चुने स्थलों पर नाटकीय सौन्दर्य की दृष्टि से किया गया है। उदाहरणार्थ 'पैसा' में 'पैसा ही रङ्ग-रूप है पैसा ही माल है' गीत द्वारा[1] कथानुकूल परिस्थिति का निर्माण किया गया है। अन्य नाटकों में भी इसी प्रकार नाटकीय प्रभाव की सृष्टि के लिए कहीं-कहीं ही संगीत की झलक मात्र है।

१—पैसा : लालचन्द्र विस्मिल और पृथ्वीराज कपूर, प्र० अंक, पृ० ३१।

अधिक हैं कि कई पृष्ठ तक निरन्तर गीत ही गीत चलते रहते हैं जो नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ "नन्दविदा" के प्रत्येक पृष्ठ पर गीत हैं जिसके कारण गीतों की संख्या ५६ तक पहुँच गयी है जब कि नाटक केवल पचास पृष्ठ का है। इस प्रकार के आद्यन्त गीतमय नाटकों में "संजनासुन्दरी", "संयोगिता स्वयंवर" (श्रीनिवासदास), "महारास" (खड्गबहादुर मल्ल), "नाट्यसंभव" (किशोरीलाल गोस्वामी) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन सभी नाटकों में बीस-पचीस से कम गीत नहीं हैं।

दूसरी ओर ऐसे नाटक भी प्राप्त होते हैं जिनमें गीत कम अथवा उपयुक्त संख्या में हैं अतएव नाटकों के कथानक से उनका निकटवर्ती सम्बन्ध है। इस प्रकार के नाटकों में गीत साधन बनकर आए हैं साध्य नहीं। "मोरध्वज", और "पुरुविक्रम" (शालिग्राम वैश्य), "द्वापर की राज्यक्रान्ति" (किशोरीदास वाजपेयी), अमरसिंह राठौर (राधाचरण गोस्वामी), "ललिता नाटिका" (अम्बिकादत्त व्यास), "भारत-ललना" (खड्गबहादुर मल्ल), "श्रीदामा" (राधाचरण गोस्वामी), "तप्ता संवरण" (श्रीनिवास दास) आदि नाटकों में गीतों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। यहाँ तक कि "श्रीदामा" में केवल चार गीत हैं और "तप्ता संवरण" में तो दो ही गीत हैं। अन्य नाटकों में आठ-दस गीतों से अधिक संख्या नहीं है। अतएव नाटकों में यह धारा भी साथ-साथ प्रवाहित हो रही थी।

तीसरी ओर नाटकों का एक ऐसा वर्ग भी है जो पूर्णतः संगीतरहित है। गीत, वाद्य, नृत्य तीनों के नाम पर उनमें कुछ भी नहीं है। "शिक्षा-दान" और "बृहन्नला" (बालकृष्ण भट्ट), "कलि-कौतुक" (प्रतापनारायण मिश्र), "मन की उमंग" (अम्बिकादत्त व्यास), "विधवा विवाह" (काशीनाथ खत्री), "शीलसावित्री" (कन्हैयालाल भरतपुर) नाटक संगीत-विहीन हैं।

इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से भारतेन्दु कालीन नाटकों में संगीत सम्बन्धी ये तीन प्रकार के प्रयास चल रहे थे। तीनों में नाटकों का वही वर्ग प्रधान रहा है जिसमें संगीत का आधिक्य है। भारतेन्दु को "चन्द्रावली" के समान काव्यात्मकता और गीत इन नाटकों के प्राण रहे हैं। गीतों में उनके समकालीन नाटककार उनसे भी बहुत आगे बढ़ गए हैं। इन नाटकों के इस स्वरूप को देखकर उन जन-नाटकों का स्मरण हो जाता है जो मुख्यतः संगीत पर ही आधारित रहते थे। निश्चय ही इस परम्परा की नींव इतनी गहरी थी कि इस काल के उपरान्त भी नाटककार इस प्रभाव से अछूते न रह सके।

संगीत की दृष्टि से इस काल के नाटकों का जब हम परीक्षण करते हैं तो विविध प्रकार के शास्त्रीय रागों के प्रयोग, गीतों के अनेक प्रकार, ताल, वाद्य तथा नृत्य सम्बन्धी विशेषताओं का ज्ञान होता है जिनके विवेचन एवं परीक्षा द्वारा इस काल के नाटककारों के संगीत सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं सम्यक् ज्ञान का परिचय मिलता है।

राग - रागिनियां :

शास्त्रीय दृष्टि से प्रमुखतः निम्नलिखित राग-रागनियों का प्रयोग तत्कालीन नाटकों में उपलब्ध होता है—

१—भैरवी, २—विलावल, ३—भैरों, ४—खम्माच, ५—देस, ६—विहाग, ७—वागेश्री, ८—पीलू, ९—गौरी, १०—जोगिया, ११—निहाल दे, १२—मेघमलार, १३—कलिगड़ा, १४—सिन्दूरा, १५—काफी, १६—वरवा, १७—झिझौटी, १८—सोरठ, १९—पराज, २०—कल्याण, २१—मशीद खानी कान्हरा, २२—सारंग, २३—सिंधु-भैरवी, २४-असावरी, २५—वियोगवेली, २६—मारू, २७—मुलतानी, २८—ईमन, २९—जैतश्री, ३०—विरहिनी, ३१—हम्मीर, ३२—सूहा, ३३—चांचरीक, ३४—ललित, ३५—सोहिनी, ३६—शहाना, ३७—वहार, ३८—वसन्त, ३९—जै जैवन्ती, ४०—सोरठ ४१—नट, ४२—सरगम, ४३—पूरवी, ४४—ख्याल रंगत, ४५—रामकली, ४६—धनाश्री

उपर्युक्त रागो से जहां एक ओर उस युग में संगीत के शास्त्रीय रूप के विकास का अभास होता है वहाँ दूसरी ओर उस युगीन नाटकारों की संगीत-रुचि के विकास का अनुमान भी लगाया जा सकता है। अधिकतर नाटककारों ने भैरवी, विहाग, सौरठ, देस, खम्माच, काफी, कलिगड़ा, रागों का ही प्रयोग किया है। मुख्य वात यह है कि इस काल के नाटकों के गीतों के साथ मिश्रित रागों का निर्देश भी यदा-कदा किया गया है। एक गीत के लिये दो रागों के मिश्रित रूप को लेने का कार्य उस गीत के मोहक तत्व, आकर्षण एवं भाव के अप्रितम प्रभावोन्मेष के लिये किया जाता है। इस प्रकार के मिश्रित राग निम्न है—

१—मलार गोड़, २—देस मलार, ३—सिंधु-भैरवी, ४—सिंध काफी, ५—कलिगरा-गोरी, ६—कलिगरा-सिंध काफी, ७—गारा ईरानी, ८—परज कलिगड़ा, ९—यमन-भैरवी, १०—यमन-खमाच, ११—असावरी-जोगिया, १२—सारंग-मल्हार, १३—टोगी-भैरवी, १४—वागेश्री-असावरी, १५—देस असावरी, १६—भैरवी-असावरी।

इस काल के नाटकों में शास्त्रीय संगीत के दो अन्य महत्वपूर्ण अंगों का दर्शन होता है—(१) तराना (२) ध्रुपद।

ध्रुपद भारतेन्दु के नाटकों में भी प्राप्य है किन्तु तराना का प्रयोग नवीन है तथा प्रगति का सूचक है। नाटक 'नाट्यसंभव' में भरतमुनि के चेले रैवतक और दमनक मनोरंजन के लिये गाते है—

> तारे दानी तुम ततत दिरना
> तदीयनरे तदीयनरे तारेदानी चलतो—
> यनातनुम तुमनुम यनायलाय ननन तेना ॥
> द्रतुं द्रनुं द्रतन दिरना ॥[1]

१—नाट्यसम्भव : किशोरीलाल गोस्वामी, प्रथम सं० पृ० २२।

यह तराना शरद ऋतु के सुहावने वातावरण में प्रातःकाल मुलतानी तिताल में बद्ध किया गया है। 'माधवानलकामकन्दला' नाटक में नायिका कामकन्दला यमनकल्याण में तराना गाती है और नृत्य भी करती है।

दीम दीम तना रे, दीम दीम तना, तना नादर दरतन त्रों त्रों, तनना,
तनदरन, दीम दीम तना, तनदरन दीम दीम तना, तनदरना, तनदरना ॥१॥[१]

इसी नाटक में दूसरा तराना नायिका द्वारा ही नायक माधव को प्रसन्न करने के हेतु राग भूकल्याण में गवाया गया है।[२] एक और तराना कामकन्दला वाद्यों के साथ गाती है जिसके लिए नाटककार ने 'राग तराना' का प्रयोग किया है।

तोनो, तयेंना, तननदिर दिर तानो ॥[३]

'ध्रुपद' का प्रयोग 'रणधीर प्रेममोहिनी' में देखा जा सकता है। नायिका प्रेममोहिनी अपने प्रिय रणधीर के प्रति प्रेम भाव को व्यक्त करती हुई राग विहाग में यह ध्रुपद गाती है—

"मो मन पिय गुन रह्यो भुलाय।"[४]

इसके अतिरिक्त अम्बिकादत्त व्यास[५] तथा खड्गवहादुर मल्ल[६] ने भी अपने नाटकों में ध्रुपद का प्रयोग किया है।

भारतेन्दु के नाटकों में हमने देखा था कि राग विशेष के साथ समय या ऋतु का निर्देश नहीं किया गया था। इस काल के नाटकों में यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं मिलती है। ऋतु-निर्देश तो बहुत कम किया गया है किन्तु राग के साथ समय का उल्लेख करने का ध्यान कुछ नाटककारों ने कहीं-कहीं रखा है। इससे स्पष्ट होता है कि नाटककार राग और समय के पारस्परिक सम्बन्ध के महत्व का अनुभव करने लगे थे। इस काल में राग के साथ समय निर्देश का सर्वाधिक ध्यान खड्गवहादुर मल्ल ने रक्खा है। उदाहरणार्थ उन्होंने निम्न रागों के साथ निम्न समय दिया है—

राग गौरी — चांदनी रात[७]
राग विहाग — अर्द्धरात्रि[८]

१—माधवानलकामकन्दला : शालिग्राम वैश्य : सं० १९६१ वि०, प्रथम अं०, पृ०१५।
२—माधवानलकामकन्दला : शालिग्राम वैश्य : सं० १९६१ वि० प्रथम सं०, पृ० २५।
३—वही, द्वितीय अंक : पृ० ८९।
४—रणधीर प्रेममोहिनी : श्रीनिवास दास, १९७२ वि०, पंचम गर्भांक : तृतीय अंक : पृ० १०४।
५-ललिता नाटिका : सं० १९४० वि०, पृ० ३५।
६—हरितालिका नाटिका : प्रथम सं० पृ० १।
७—महारास : प्र० सं० प्रथम अंक : पृ० ४।
८—वही, द्वितीय अंक : पृ० २३।

राग सोहिनी — अर्द्धरात्रि[1]
शहाना — रात्रि[2]
राग झिंझौटी — रात्रि[3]
राग कलंगरा — रात्रि[4]

संगीत की शास्त्रीय विधि की दृष्टि से इन रागों के साथ दिया गया समय समुपयुक्त है। राग गौरी रात्रि के तृतीय प्रहर में गाया जाता है।[5] विहाग का गायन रात्रि को ही होता है।[6] इसी प्रकार झिंझौटी, सोहनी, शहाना तथा कलिंगरा राग रात्रि में गेय माने जाते हैं।[7]

अन्य नाटककारों ने भी कुछ स्थलों पर समय-सिद्धान्त का पालन किया है। 'ललिता नाटिका' में नेपथ्य से वीणावादन प्रातःकाल राग भैरव में कराया जाता है।[8] राग भैरव प्रातःकालीन राग ही माना जाता है।[9] नाटक 'अंजनासुन्दरी' में सखी वसन्तमाला वसन्त ऋतु का वर्णन करती हुई राग वसन्त में ही गाती है।[10] हर्ष और आनन्द का प्रतीक वसन्त राग वसन्त ऋतु के ही उपयुक्त है।[11] अंजनासुन्दरी' नाटक में अंजना के पुत्र जन्म के शुभावसर पर गांधर्व गण अरुणोदय के समय राग भैरव में स्तुति करते हैं[12] जो कि संगीतशास्त्रानुकूल ही है।

किन्तु जहां एक ओर इस प्रकार राग, समय तथा ऋतु के सिद्धान्त का पालन किया गया है, वहां इसके अपवाद भी हैं। कहीं-कही रागों के साथ जो समय दिया गया है, वह शास्त्रीय दृष्टि से गलत है। उदाहरणार्थ कुछ नाटकों में पीलू के साथ रात्रि[13] खमाच के साथ प्रातः[14] तथा असावरी के साथ रात्रि[15] का समय दिया गया है।

१—महारास : द्वि० अंक : पृ० २४।
२—वही, तृतीय अंक : पृ० ४६।
३—वही, चतुर्थ अंक : पृ० ६६।
४—हरितालिका नाटिका : पृ० २०-२१।
५—संगीतदर्पण : दामोदर : पृ० ७६, श्लोक २४।
६—संगीत-सुधा (हाथरस), पृ० १३।
७—भारतीय श्रुति-स्वर-रागशास्त्र : पं० फिरोज़ फ्रामजी, १९३५ ई० पृ० १९८।
८—ललिता नाटिका : अम्बिकादत्त व्यास, द्वितीय अंक : पृ० ३३।
९—संगीत पारिजात : पृ० ९२।
१०—अंजनासुन्दरी : कन्हैयालाल भरतपुर, १९०० ई०, द्वि० अंक, पृ० १३।
११—संगीतदर्पण : पृ० ७७।
१२—वही, पंचम अंक, पृ० ९८।
१३—हरितालिका नाटिका : पृ० २३।
१४—वही, पृ० ३५।
१५—अंजनासुन्दरी : कन्हैयालाल भरतपुर, पृ० १३।

जब कि शास्त्रीय दृष्टि से भारतीय संगीताचार्यों ने क्रमश: पीलू राग के लिए दिन,[1] खमाच के लिए रात्रि[2] तथा आसावरी के लिए दिन[3] का निर्देश दिया है।

गीतों के प्रकार :–

गीत के अन्य अनेक विविध प्रकार भारतेन्दु के समकालीन नाटकों में दृष्टिगत होते हैं। भारतेन्दु में उतनी विविधता नहीं थी किन्तु उन्होंने उचित स्थान पर श्रेष्ठ गीतों की कई रूपों में आयोजना की थी। उनके समकालीन नाटककारों ने तत्कालीन संगीत-क्षेत्र में प्रचलित गीत के अन्य आकर्षक प्रकारों को भी अपनाया और नाटक के वातावरण में उनसे सहयोग लिया। प्रमुख रूप से गीतों के निम्न प्रकार इस काल के नाटकों में उपलब्ध होते हैं—

१—भजन २—कीर्तन ३—प्रभाती ४—गज़ल ५—ठुमरी ६—दादरा ७—ख्याल ८—रेखता ९—खेमटा १०—विवाह-गीत ११—सोहर १२—बिदाई-गीत १३—झूलना १४—माड १५—कहरवा १६—धुन विरहिनी १७—होली १८—कजरी १९—लावनी २०—घुरिया मलार २१—रसिया २२—वधाई-गीत २३—डफाली (मियां का गीत) २४—कौआली २५—बारहमासा २६—सरगम।

उपर्युक्त गीत-प्रकारों में से भजन, कीर्तन, गज़ल, ठुमरी, दादरा, खेमटा, होली, लावनी, मलार तथा कजरी का प्रयोग अधिकतर किया गया है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने संगीत-क्षेत्र से जन-गीत की सरल, सरस, स्वाभाविक परम्परा को नाटक के वातावरण में लाने, जन-जागरण की भावना को जागृति करने तथा नाटक-साहित्य को जन-जीवन के अधिकतम निकट लाने का जो प्रयास आरम्भ किया था, उस प्रयास एवं लक्ष्य की और उनके समकालीन नाटककार पर्याप्त प्रयत्नशील दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने जन-गीतों की अनेक प्रणालियों, भाषा, गीत के स्वरूपों एवं उसके स्वाभाविक रंजकत्व को यथावसर नाटकों में स्थान दिया है। सोहर, बारहमासा, कजरी, रसिया, झूलना, तथा धोबी-मालिन-पनिहारी आदि के गीत उनके इस प्रयास एवं साहस पर प्रकाश डालते हैं। इन जन-गीतों के कुछ उदाहरण तत्कालीन नाटककारों की संगीत-कुशलता के ज्ञान के लिए पर्याप्त होंगे।

पनिहारियों के सुमधुर गीत का आभास शालिग्राम वैश्य द्वारा विरचित 'माधवानलकामकन्दला' नाटक में होता है। विदूषक पनिहारियों के गीत तथा उनके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि वे यह रागिनी गाती चली जाती थी—[4]

हिलमिल पनियां, चलौ री ननदिया, हिलमिल पनियां।
शिर पर घड़ा घड़े पर झारी, शीतल जल ले चलो अमनियां।

१—हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक माला (भाग ३) पृ० ६१२।
२—भारतीय श्रुति-स्वर-रागशास्त्र : पृ० १९८।
३—वही, पृ० १९७।
४—माधवानलकामन्दला : शालिग्राम वैश्य : प्रथम अंक : पृ० २५।

किसके मारण कारण तानी, नयनशयन की तीर कमनियां ।
हम तो दर्श पर्श के भूखे, जुलम करै मत हम पर जनियां ।।

'सोहर' नामक मंगल गीत अब भी पुत्र-जन्म पर हिन्दू घरानों में गाए जाते हैं। वन्दोदीन दीक्षित के 'सीता-स्वयम्वर' नाटक में राम के जन्म पर शुभगायें सोहर गाती हैं।—

(अ) सरयू तीर अयोध्या सो परम सोहावन हो ।
ललना रूप रानि कौशल्या पूत जायो पावन हो ।।[1]

(ब) कौशलेश दशरथ के द्वारे गह गह नौबत झरन लगी ।
झांगड़ ४ घड़ घड़ घाघड़ घड धाधम के परन लगीं ।
ततथेई २ ताथेई २ जहं तहं गणिका करन लगीं ।
लहि समाज की छवि देवहु के तन मन धन को हरन लगीं ।।[2]

ग्रामीण-जगत में बारहमासा का अत्यधिक महत्व है। बारह मास के आधार पर अपनी भावनाओं व वेदनाओं का वर्णन होने के कारण 'बारहमासा' गीत बहुत विस्तृत होते हैं। 'माधवानलकामकन्दला' में नायिका कामकन्दला विरहिणी रूप में बारहमासा गाती है—

सखी बार मास गए बीत, न आए मीत, लगी कहीं प्रीत, कहो क्या करूं
आता है जी में विष घोल घाल पी मरना ।

आषाढ़ मास आ लगा, किसको कहूं सगा, पिया दे दगा, गए घर से ।
प्रीतम प्यारे बिन जिया हमारा तरसे ।

उठती है विरह की हूक, जाता तन सूक, पपिहे की कूक, जमी आदर से ।
पी पी पुकार नयनों से मेघ सा बरसै ।।[3]

दोहा, कवित्त के मिश्रण द्वारा यह गीत बहुत लम्बा है। नाटकीय दृष्टि से ऐसे गीत अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं क्योंकि उससे कथानक की नाटकीयता बाधित होती है।

तुम सबसे पुजाओ महाराज, मेरे वाले मियां
पहिले पुजाओ मियां भुंजवा औ तेली,
दुसरे काछी कलवार मेरे वाला मियां ॥[1]

विवाह के समय के कई गीत बड़े ही सुन्दर वातावरण की सृष्टि करते हैं। वृद्ध के विवाह पर उपटन के समय स्त्रियां गाती हैं—

बूढ़ा बनरा बैठा है उपटन
नाती प्यारा बैठा है उपटन
लावे पोती सुहागिनी कर ताली बजाय मुख सुमुकाय
सो दादा बैठा उपटन माथे तेल फुलेल सो बाबा है उपटन ॥[2]

पुनः बन्ने के सौदर्न्य तथा साज-सज्जा का वर्णन करते हुए स्त्रियां गाती हैं—

बन्ना से बन्नी मजेदार झमाझम रे बना।
माथे पर सेहरा बंधाओ रे बना।[3]

घोड़े पर सवार बन्ने के परछन का गीत भी दर्शनीय है—बूढ़े वर के प्रति व्यंग का तीखापन ही इन गीतों का मुख्य सौन्दर्य है—

न मेरी लाड़ों गहना चाहे न कपड़ा सिंगार मेरी बीबी आपी चांदनी
बनरा बनरी चौंके बैठे जैसे दिन औ रात
गात निहार बनी का बूढ़ा वर मोछन मुसुकात
मुखड़े हलदी हाथों मेंहदी दो नयनों में काजल
प्रेम की मदिरा पीकर नौशा हुआ समा में पागल ॥[4]

जब वर कन्या चौक में जाते हैं तब—

सासू के अंगने आओ बनरे।
गौरी का हाथ धरा दूंगी।
सुन्दर सुरूप सुनैनी बनी से बनरे का व्याह करा दूंगी।
देने औ लेने की चिन्ता न करना खोट के बदले खरा दूंगी ॥[5]

लोकगीत की परम्परा का अन्य सुन्दर उदाहरण 'सीता स्वयम्वर' नाटक में दृष्टव्य है। राम के जन्म पर दरबार में राजा के सामने ढाढ़ी व ढाढिन आकर नाचते गाते हैं—

राजाजू के दरबार ढाढिन नाचै रंग भरी।
सारी भी ल्यौंगी लहगा भी ल्यौंगी ल्यौंगी री अंगिया बूटेदार ॥[6]

१—कलजुगी जनेऊ : देवकीनन्दन त्रिपाठी : प्र० सं०, पृ० १३।
२—कामिनी-मदन : हरिहर प्रसाद : तृतीय अंक : दृश्य २ : पृ० ४२।
३—वही, पृ० ४३। ४—वही, दृश्य ४ : पृ० ४५।
५—कामिनी-मदन : हरिहर प्रसाद : दृश्य ४ : पृ० ४६।
६—वही, द्वितीय अंक, दृश्य ९ : पृ० २५।

यह गीत जहां एक ओर महलों की परम्परा एवं वातावरण को सामने लाता है वहां दूसरी ओर दर्शकों का मनोरञ्जन भी करता है और जन-गीत का परिचय भी देता है।

कजली का प्रयोग इस काल में प्रचुर मात्रा में किया गया है। लड्गबहादुर मल्ल किशोरीलाल गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास आदि ने अपने-अपने नाटकों में कजली को अधिक स्थान दिया है। खड्गबहादुर मल्ल के 'भारत-आरत' नाटक में कल्लो द्वारा गायी गयी कजली लय तथा शब्द-चयन की दृष्टि से दृष्टव्य है—

तिरवा तुपकिया तरवरिया लै का करिहौं रामा।
हरि-हरि हमका राजा लै दे पैंजनियां रे हरी॥
टिकुली सेंदुरवा लै दे गाजीपुर की चुरिवा रामा।
हरि-हरि धोतिया रंगा दे बैजनियां रे हरी॥[१]

किशोरीलाल गोस्वामी ने कजरी का प्रयोग समूह-गान तथा युगल-गान के रूप में किया है। एक स्थान पर सखियां तथा नायिका मिलकर कजरी गाती हैं।[२] दूसरे स्थान पर नायक वीरेन्द्र तथा नायिका मयंकमंजरी कजली का युगल गान करते हैं—

म०—झूले झमकि हिंडोला भरिलाए बदरा।
भरि लाए बदरा भरि धाए बदरा॥

वी०—सारी सुरुख सुहावै सिर धानी चदरा।
वहै पुरवा पवन पापी खोवै हदा॥[३]

'झूलना' का तात्पर्य झूले के गीत से है। श्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयम्वर'[४] में किशोरीलाल गोस्वामी की 'मयंकमंजरी'[५] में, 'झूलना' के उदाहरण मिलते हैं। 'मयंकमंजरी' का झूलना झूले से सम्बन्धित नहीं है वरन् 'झूलना' की लय पर एक ईश्वर-महिमा का गीत है। इसके अतिरिक्त खेमटा, रेखता तथा लावनी आदि गीत के प्रकार भी इस काल के नाटकों में यदा-कदा आए हैं। खेमटा का प्रयोग विविध राग-रागिनियों के साथ किया गया है—खेमटा-भालू, खेमटा-भैरवी, खेमटा-देश खेमटा-गारा झिंझौटी, खेमटा-कलिंगड़ा इत्यादि। 'लावनी' तो भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रयुक्त की गयी थी और उनके युग में भी उसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। 'रेखता' अपेक्षाकृत कम उपयोग में लाया गया है। 'सीताहरण' नाटक में प्रथम अंक के अंतर्गत वियोगी राम सीता को वन-वन में ढूंढ़ते हुए 'रेखता' गाते हैं—

१—भारत-आरत : प्र० सं०, १८८५ ई०, पृ० २१-२२।
२—मयंक मंजरी : प्रथम अंक : पृ० १२।
३—मयंकमंजरी : द्वितीय अंक : पृ० ३१।
४—संयोगिता स्वयम्वर : श्रीनिवास दास : प्र० सं०, द्वि० अंक, पृ० ४८।
५—वही तृतीय अंक, पृ० १०७।

निरखी कहीं विपिन में मो प्राण की प्यारी ।
सहि जात न हृदय में ताको वियोग भारी ।।[1]

इसी प्रकार 'नन्दविदा' नाटक में ग्वाल बाल 'रेखता' गाते हुए कृष्ण के साथ जाते हैं-

'चल देखिए विपिन में कैसी बहार छायी ।
बेला गुलाव तुर्रा कहिं मालती नवाई ।।[2]

गीत के विभिन्न प्रकारों में 'ठुमरी' का विशेष चलन था ऐसा अनेक उद्धरणों से ज्ञात होता है । ठुमरी का प्रयोग शास्त्रीय राग-रागिनियों के साथ स्थान-स्थान पर किया गया है यथा—ठुमरी राग वसन्त, ठुमरी असावरी, ठुमरी सम्माच, ठुमरी भैरवी इत्यादि । ठुमरी का गायन वेश्याओं के द्वारा भी कराया गया है । 'वेश्या नाटक' के अन्तर्गत ईदन वेश्या कई स्थलों पर ठुमरी गाती है—

कोई कछु कहै मन लगा रे ।
राम जपन को माला लीन्हीं तन गुदड़ी मन धागा रे ।[3]

अथवा

ऐसी किसकी मौज हुयी ।
मौसमे बरसात हुई अब्र में बहार हुई ।।[4]

'भारत-आरत' नाटक में नसीरन वेश्या द्वारा गायी गयी ठुमरी श्रृंगारपूर्ण छेड़-छाड़ से युक्त है—

मैं का जिनि छेड़ो मैं तो देत दुहाई रे ।
हटो चलो कैसी मेरी नींद गवाई रे ।।[5]

कहीं-कहीं पात्र अपना परिचय देते हुए ठुमरी गाते हैं । 'भारत-ललना' नाटक में मूर्खता, कलह और निद्रा पात्र गाते हैं—

पिया मोरी नाहक निंदिया जगाई रे ।
सोती थी मैं अपने महल में कीनी ढीठ वरियाई रे ।।
सौंह करति हौ बनि ना पैली, हठ छाड़ु बहियां कसाई रे ।।[6]

इस ठुमरी द्वारा एक ओर श्रृंगारमयी मधुर ठुमरी का आनन्द आता है और दूसरी ओर तीनों पात्रों की अधम प्रवृत्ति की सांकेतिक व्यंजना होती है । साहित्यिक एवं संगीत की दृष्टि से यह ठुमरी सुन्दर है । ठुमरी का प्रयोग कन्हैयालाल भरतपुर की 'अंजनासुन्दरी' में अधिक हुआ है । प्रिय-स्मृति में खोई अंजना को रिझाने के लिए उसकी सखियां ठुमरी राग असावरी में गाती हैं—

१—सीताहरण नाटक : वन्दोदीन दीक्षित : प्र० सं०, १८९५ ई०, पृ० ५९ ।
२—नन्दविदा : वलदेव प्रसाद मिश्र : प्र० सं०, प्रथम अंक, पृ० ६ ।
३—वेश्या नाटक : पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा : प्र० सं० : पृ० ३१-३२ ।
४—वही, पृ० ३२ ।
५—भारत-आरत : खड्गबहादुर मल्ल : प्र० सं० : प्रथम अंक : पृ० १९ ।
६—भारत-ललना : वही, प्र० सं०, प्र० अंक, पृ० ६ ।

१ - कर ले श्रृंगार चतुर अलबेली, साजन के घर भी जाना होगा ।
पिया प्रकृति को देख सयानी, रंग में रंग मिलाना भी होगा ।
अचपल चपल चतुरता करके, प्रीतम प्रीति बढ़ाना भी होगा ।
सास ननद के बोल सहोगी मन में बात गुहाना भी होगा ॥[1]

२— तू तो वहुत रही बाबुल के, गोरी चल तोरे पिया ने बुलाई ।
भोरी भोरी बतियां करके बहुरि रिझाई माईं ॥[2]

खड्गबहादुर मल्ल के नाटकों में भी 'ठुमरी' प्रचुरता से प्रयुक्त हुई है । ठुमरी झिझौटी[3] ठुमरी सिंध काफी[4] का प्रयोग हुआ है । ठुमरी के प्रयोग की एक अन्य रीति इस काल के नाटकों में ली गई जिसका स्वरूप 'मल्ल' के नाटकों में प्राप्य है, वह है 'लखनऊ के चाल की ठुमरी' । यह तत्कालीन वातावरण का ही प्रभाव है । रीति-काल में जिस प्रकार मुगलों की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य तथा रुचि का प्रभाव भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य पर पड़ रहा था, वह अभी तक चल रहा था । संगीत की भी यही स्थिति थी । 'कल्पवृक्ष' नाटक के आरम्भ से पूर्व नटी 'ठुमरी लखनऊ की चाल' में गाती है—

पिया सों मिलन चली जाति गुजरिया ।
हिय हुलसावति राति उजरिया ॥
कारी डरारी रैन बीति गई ।
बिसरि गई दई मोरी बदरिया ॥
बैरिन सासु ननद घर नाहीं ।
निरभय भई प्यारे की अटरिया ॥[5]

इसी 'चाल' की दूसरी ठुमरी नाटक 'महारास' (मल्ल) में कृष्ण की बांसुरी सुनकर दौड़ती आती राधा व सखियां गाती हैं—

आज मुरली बिहारी ने बजाई री'[6]

'ठुमरी' के अतिरिक्त गजल तथा उर्दू शेरों-शायरी का भी इस काल के नाटकों पर पर्याप्त प्रभाव है । 'जैसा काम वैसा परिणाम' नाटक में उर्दू शायरी का प्रवाह है ।[7] 'भारत-ललना'[8] 'भारत-आरत',[9] रणधीर प्रेममोहिनी',[10] 'कामिनी-मदन'[11] आदि

१—वही, : द्वितीय अंक : पृ० १४ । २—वही, : द्वि० अंक : पृ० १३ ।
३—महारास : प्र० सं० : प्रथम अंक : पृ० १९ तथा २८ ।
४—वही, तृतीय अंक : पृ० ४८ ।
५—कल्पवृक्ष : खड्गबहादुर मल्ल : १८८८ ई०, पृ० ४ ।
६—वही, प्रथम अंक, पृ० ६ ।
७—बालकृष्ण भट्ट नाटकावली : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० १०५-६ ।
८—भारत-ललना : खड्गबहादुर मल्ल, पृ० १० ।
९—भारत-आरत : वही, पृ० १८ ।
१०—श्रीनिवास ग्रन्थावली : सम्पादक डा० श्रीकृष्णलाल, प्र० सं०, पृ० ८५ ।
११ कामिनी-मदन : हरिहर प्रसाद : पृ० सं०, पृ० ११ ।

इस प्रकार रङ्गमंचीय नाटकों की पूर्व-प्रचलित परम्परा से ये नाटक सर्वथा भिन्न हैं। वस्तुतः पृथ्वीराज कपूर ने नाट्यकला को, अभिनय को जितना महत्व दिया उतना संगीत को नहीं, जब कि उनके पूर्व रङ्गमंचीय नाटकों में अभिनय और नाट्यकला के स्थान पर संगीत की प्रधानता थी। ये नाटक प्रमुखतया मनोरंजनात्मक थे जब कि पृथ्वीराज कपूर के नाटक अभिनयात्मक और कलात्मक भी थे।

पंचम अध्याय में १९१० से १९६० तक के सम्पूर्ण हिन्दी नाटकों में प्रयुक्त संगीत सम्बन्धी सामग्री का उल्लेख, विवरण तथा संगीत की दृष्टि से परीक्षा की गयी है। सम्पूर्ण नाटकों में किन-किन शास्त्रीय रागों और तालों का उल्लेख गीतों के साथ हुआ है? शास्त्रीय राग-ऋतु-समय-सिद्धान्त तथा भाव की दृष्टि से प्रत्येक गीत के साथ राग-विशेष का उल्लेख समीचीन है या नहीं? इस दृष्टि से शास्त्रीय संगीत की परीक्षा की गयी है। साथ ही सम्पूर्ण नाटकों में वाद्य-संगीत, नृत्य-कला तथा लोक-संगीत पर विस्तृत रूप में विचार किया गया है। किन-किन वाद्यों का प्रयोग हुआ है? नृत्य कौन-कौन से प्रयुक्त हुए हैं, लोक-गीत कौन-कौन से हैं? आदि सामग्री इस अध्याय में एकत्रित की गयी है।

छठे अध्याय में समस्त संगीत-सामग्री पर नाटकीय उपयोगिता की दृष्टि से विचार किया गया है। निर्धारित काल के सम्पूर्ण नाटकों के संगीत का नाटकीय तत्वों-कथावस्तु, पात्र, देश-काल, भाषा, उद्देश्य, से क्या सम्बन्ध है? उन तत्वों में सङ्गीत कितनी और किस रूप में सहायता देता है? किन स्थलों पर संगीत द्वारा नाटकीय सौन्दर्य की वृद्धि होती है? और कहां उसमें बाधा पड़ती है? आदि दृष्टि से नाट्य-संगीत का विस्तृत वर्णन और समीक्षा की गयी है।

सप्तम अध्याय हिन्दी नाटक-संगीत की भाषागत, तथा छन्द एवं अलंकारगत विशेषताओं पर आधारित है। यों तो नाटक-गीतों के काव्य-पक्ष पर लेखक और आलोचक लिखते ही रहे हैं किन्तु यहां विशेष रूप से संगीत की दृष्टि से भाषा की उपयुक्तता, छन्द की भावानुकूलता तथा अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग का अध्ययन किया गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक-गीतों के काव्य-पक्ष की संगीत की दृष्टि से तुलनात्मक विवेचना करना लेखिका का मौलिक प्रयास है।

अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत कुछ नाटक-गीतों की स्वरलिपि दी गयी है। ये गीत कुछ प्रसाद-युग के हैं और कुछ प्रसादोत्तर काल के। यह स्वरलिपि उन्हीं रागों एवं तालों के आधार पर दी गयी है जिन रागों और तालों का उल्लेख उन गीतों के साथ स्वयं नाटककारों ने किया है अतः इस स्वरलिपि द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि हिन्दी नाटककार सङ्गीतकार भी थे। कुछ अपवाद अवश्य हैं किन्तु हिन्दी नाटकों में शास्त्रीय संगीत की प्रतिष्ठा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः प्रसाद के नाटकों के अन्त में उनके गीतों की स्वरलिपि देखकर ही मुझे यह

नाटकों में गजल तथा उर्दू गीतों का प्रयोग किया गया है।

अन्य विशेषतायें :

भारतेन्दु-कालीन नाटकों में संगीत-सम्बन्धी विविध उद्धरणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि गायन विभिन्न पात्रों द्वारा अनेक रीतियों से कराया गया है यथा—

१—समूह-गान २—युगल गान ३—वैयक्तिक-गान।

गायन की एक अन्य रीति का भी प्रयोग हुआ है जिस पर फिल्मी वातावरण तथा गायन का प्रभाव है। यद्यपि ऐसे गीत नाटकीय सौंदर्य में सहायक होते हैं। 'मयंक-मंजरी' नाटक के द्वितीय अंक में नायिका तथा सखी झूला-झूलती हुई गा रही है इसी बीच में सहसा नायिका का प्रिय नायक विरेन्द्र प्रवेश करता है तथा उसी स्वर में गाने लगता है। 'घुरिया मलार' में गाए गए इस गीत का उदाहरण दृष्टव्य है—

सौदामिनी—नभ में उमड़ि घुमड़ि घन छाए।
पड़ें बूंद छिति हरी भरी भइ, चपला चमकि डराए॥
कामिनी—बोलत मोर चकोर सोर करि, कोकिल कूक मचाए।
करि झिल्लीगन घोर सोर इत, बीरवधू छितराए॥
मयंकमंजरी—सुरभि सनी समीर धीर हरि दुरि दुरि वसन दुराए।
पिया-पिया कहि रटत-पपीहा, पिया कौन बिलमाए॥
वीरेन्द्र—छिन-छिन बीतत मोंहि कल्पसम, तुव दरसन बिन पाए।
नैन निगोड़े नीर बहावैं, वपु बरसात बनाए॥[1]

गीतों के गायन में किसी के लिए कोई बन्धन नहीं है। नाटक का प्रत्येक पात्र गाने के लिये स्वतन्त्र हैं। सभी नाटकों में गीत स्त्री-पुरुष दोनों गाते हैं। नायिका, सखियां, नर्तकी, अप्सरा, वैश्या, दासी, मालिन, धोबिन, पनिहारिन, नटी, ढाढिन इत्यादि तथा नायक, विदूषक, खलनायक, गवैये, नर्तक, अन्य सहायक पुरुष पात्र सभी गाते हैं। प्राय: तो गीतों के साथ शास्त्रीय राग-रागनियों का सम्बन्ध है।

कहीं-कहीं नाटककारों ने एक और प्रणाली भी अपनायी है। वह यह है कि किसी गीत के साथ किसी अन्य गीत की पंक्ति देकर उसकी धुन पर रचना की गयी है। उदाहरणार्थ 'अमरसिंह राठौर' नाटक के प्रथम दृश्य में ही दो वैतालिक राग भैरों में गाते प्रवेश करते हैं। राग भैरों के साथ लेखक का निर्देश है—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोई' की ध्वनि में।[2] इसी के बाद दूसरा गीत राग खम्माच 'वृन्दावन मेरा सांवलिया' की धुन में गाया जाता है।[3] नाटक 'कामिनी-मदन' में कामिनी 'दिले नादां को हम' तर्ज पर गाती है—

१—मयंकमंजरी : किशोरी लाल गोस्वामी : पृ० १२।
२—अमरसिंह राठौर : राधाचरण गोस्वामी : प्र० सं०, प्र० दृश्य, पृ० ३।
३—अमरसिंह राठौर : राधाचरण गोस्वामी : प्र० दृश्य : पृ० ४।

दुख आपद को मानो उठाए जायेंगे ।

चुपके सहेंगे कुछ न कहेंगे, परमेश्वर को हम गोहराए जायेंगे ॥[1]

अन्य स्थल पर नायक मदन 'प्यारी बिनु कटत न कारी रैन' की तर्ज पर गाता है—

'प्यारी सुनु मन की सांची बात'[2]

स्पष्ट है कि इस प्रकार के गीतों की रचना लेखक द्वारा निर्धारित-गीत की तर्ज के आधार पर ही की जाती है। इस प्रकार के तर्ज-निर्देशन का प्रचलन भारतेन्दु काल में बहुत है। स्वयं भारतेन्दु ने भी इसका प्रयोग किया है, किन्तु समकालीन नाटकों में यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ी दिखती है। इस बात का अवश्य ध्यान रखा गया है कि जिस तर्ज के अनुकूल गीत-रचना की गयी है, वह तर्ज उस समय अधिक प्रचलित तथा रुचि कर रही हो ताकि तर्ज का अनुमान शीघ्र हो सके।

ताल

ताल की दृष्टि से भी यह युग धनी है। भारतेन्दु ने भी यद्यपि ताल-निर्देश किया था किन्तु उनमें तालों की उतनी विविधता नहीं थी। उनके युगीन नाटककारों ने प्रायः गीत एवं रागों के साथ तालों का उल्लेख करने का ध्यान रखा है। संक्षेप में इस युग में जिन प्रमुख तालों का उल्लेख प्राप्य है वह इस प्रकार है—१—ध्रुपद, २—कहरवा, ३—तिताला, ४—होरी ज्यजाति ठेका, ५—कौवाली ठेका, ६—ठेका होरी, ७—रूपक ताल, ८—इकताल, ९—चौताल, १०—ताल खड़ी, ११—कतारखानी, १२—झपताल, १३—दादरा।

फिर भी इस काल के नाटककारों ने शास्त्रीय राग-रागिनियों में जितनी सतर्कता दिखायी है उतनी तालों में नहीं। कई-स्थलों में नाटकों में गीत के साथ राग का उल्लेख तो किया गया है किन्तु ताल का नहीं। किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, कन्हैलाल भरतपुर, राधाकृष्ण दास, वन्दोदीन दीक्षित आदि के नाटक इसके प्रमाण हैं। खड्गबहादुर मल्ल के नाटकों में तालों का बाहुल्य है। उन्हीं के नाटकों में अन्य तालों के साथ साथ 'कतारखानी' ताल का बाहुल्य है। शृंगाररस प्रधान नाटक 'महारास' में इस ताल का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया गया है।

वाद्य

यद्यपि भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-कालीन नाटकों में वाद्य-वादन को अधिक महत्व नहीं दिया गया है फिर भी इस काल में नाटकों के अन्तर्गत अनेक वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे यह ज्ञात होता है कि शास्त्रीय राग तथा मुख-गायन अथवा गीतों के साथ वाद्यों का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। वाद्यों का प्रयोग इस काल में स्वतन्त्र वादन अथवा पृष्ठभूमि के रूप में कम है—गायन तथा नृत्य के साथ ही उसका वर्णन अधिक मिलता है। संभवतः तत्कालीन दर्शक-गण स्वतन्त्र वाद्य-वादन

१—कामिनी मदन : हरिहर प्रसाद, प्र० अंक, पृ० २।

२—वही, प्र० अंक, पृ० १६।

में उतना आनन्द नहीं ले पाते थे। न वाद्य-वादन के प्रयोगों की सूक्ष्मतम कलाओं का उस समय उतना प्रारम्भ ही हो पाया होगा। तात्पर्य यह है इस काल के नाटकों में वाद्यों का प्रयोग गीत के सौन्दर्य, नृत्य की प्रतिमा में वृद्धि करने तथा वातावरण को प्रभावोन्मेषी बनाने के लिए हुआ है। यह नितान्त सत्य है कि वाद्य, ताल, स्वर तथा लय से समन्वित होकर गीत की शोभा अनन्त हो जाती है और श्रोताओं के मर्म को स्पर्श करने की उसकी प्रभावशीलता त्रिगुणी हो जाती है। जिन प्रमुख वाद्यों का उल्लेख इस युग के नाटकों में किया गया है वे निम्न हैं—

१—तंबूरा,, २—मृदंग, ३—सारंगी, ४—तबला, ५—वीणा, ६—रबाव, ७—बीन, ८—उपंग, ९—सितार, १०—मंजीरा, ११—ढोलक, १२—वंशी, १३—ढोल, १४—डुग्गी, १५—रवाना, १६—शंख, १७—मारू, १८—झांझ

इन वाद्यों में सर्वाधिक प्रयोग तम्बूरा, सितार, वीणा, सारंगी, और वंशी का हुआ है। वीणा का प्रयोग प्राय: नारद के पात्र रूप में होने के कारण हुआ है, उसी प्रकार वंशी का प्रयोग कृष्ण-पात्र के साथ हुआ है। वीणा का उल्लेख कहीं-कहीं स्वतन्त्र वादन के रूप में भी मिल जाता है। तंबूरे का उपयोग शास्त्रीय गायन के साथ किया गया है। 'मयंकमंजरी' में सखी सौदामिनी अकेले तंबूरा लेकर गाती है।[1] कहीं-कहीं दो या अधिक वाद्यों का एक साथ उपयोग कराया गया है। मयंकमंजरी के गाने के साथ कामिनी और सौदामिनी सखियां 'मृदंग तथा तंबूरा' बजाती हैं।[2] 'महारास' नाटक में बीन, रबाब, मृदंग, उपंग, सितार, मंजीर, ढोलक, सारंगी आदि वाद्यों के साथ गोपियों के साथ कृष्ण के रासमंडल नृत्य का उल्लेख मिलता है। कुछ नाटकों में कुछ स्थलों पर वाद्यों के नाम न देकर केवल 'वाद्य-वादन' का संकेत कर दिया गया है। यथा-'माधवानलकामकन्दला' में वाद्यों के साथ कामकन्दला तर्राना गाती है।[4] 'महारास' में 'किन्नर और गन्धर्ववधू बाजे बजा-बजा कर गाते हैं।'[5] 'कल्पवृक्ष नाटक' में इन्द्रसभा में चैत्ररथ पुत्रों सहित अनेक बाजे बजाते एक स्वर से राग विहाग में गाते हैं।[6] वीणा का प्रयोग नारद के अतिरिक्त गायन के साथ भी किया गया है। 'तप्ता संवरण' में विरहिणी तप्ता वीणा-बजाकर राग विहाग गाती है।[7] 'नाट्यसंभवे' नाटक में भरत वीणा बजाते हैं तथा दोनों शिष्य मृदंग बजाकर गाते हैं।[8] मारु वाद्य

१—मयंकमंजरी : किशोरीलाल गोस्वामी, प्र० अंक, पृ० ६।

२—वही, पृ० ७।

३—महारास : खड्गबहादुर मल्ल, प्र० अंक, पृ० १८।

४—माधवानलकामकन्दला : सालिग्राम वैश्य, द्वि० अंक, पृ० ८९।

५—महारास : चतुर्थ अंक, पृ० ५७।

६—कल्पवृक्ष नाटक : खड्गबहादुर मल्ल : द्वितीय अंक : पृ० २६।

७—तप्ता संवरण : श्री निवास दास : प्र० सं० तृतीय अंक, पृ० २३।

८—नाट्यसंभव : किशोरीलाल गोस्वामी : प्रथम अंक, चतुर्थ दृश्य : पृ० ३९।

का प्रयोग युद्ध के लिये तत्पर वीरों के गीत के साथ प्राय: किया गया है। यथा 'पुरुविक्रम' नाटक में।[१] उपयुक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि गीत की प्रकृति के अनुरूप वाद्य-प्रयोग का उन्होंने ध्यान रखा है। उदाहरणार्थ कीर्तन तथा लोकगीतों के साथ झांझ, वंशी, मंजीरा, रवाना ढोलक, बीन आदि युद्ध-प्रेरित उत्साह-गान के साथ शंख तथा भारू शास्त्रीय रागों के साथ तंबूरा, वीणा, सितार, सारंगी, तबला, मृदंग इत्यादि। यह नाटककार के वाद्य-वादन सम्बन्धी कौशल का परिचय देने में समर्थ हैं।

नृत्य :

संस्कृत नाटकों में नृत्यशाला तथा कहीं-कहीं नृत्य का उल्लेख मिला था। भारतेन्दु के नाटकों में उच्च कोटि के नृत्यों का अभाव था। उनके समकालीन नाटकों में अपेक्षाकृत नृत्य का प्रयोग अधिक किया गया है और साथ ही नृत्य के श्रेष्ठ प्रकारों का संकेत किया गया है। इस काल में नृत्य के निम्न प्रकार उपलब्ध होते हैं—
१—रास-नृत्य २—वेश्या-नृत्य अथवा नर्तकी नृत्य (दरबारी नृत्य) ३—भाव नृत्य ४—अप्सरा नृत्य ५—साधारण नृत्य।

रास-नृत्य का वर्णन प्राय: कृष्ण और गोपियों की रासमंडली के साथ ही किया गया है। यह रास नृत्य एक बड़े समूहिक रूप में आनन्द, उल्लास तथा भक्ति का प्रतीक माना गया है। विविध वाद्यों तथा गीत के साथ चांदनी रात में अत्यन्त मनोहर इस नृत्य का उल्लेख 'मल्ल' के 'महारास' नाटक में मिलता है। इस नृत्य के साथ गोपियां राग सिंध काफी ताल कतारखानी में निम्न गीत गाती हैं—

> **स्याम छबि मेरे मन अटकी।**
> **बिसरत नाहिं सखी वह मूरति को नागर नट की॥**[२]

चतुर्थ अंक में पुन: विचित्र बाजे तथा वंशी के साथ रास-नृत्य का वर्णन है। गोपियां राग परज इकताला में निम्न गीत गाती हैं—

> **रास रचत तियन संग, लखि उर उपजत उमंग,**
> **मोहन ब्रजराज आज वृन्दावन मांही।**
>
> × × ×
>
> **भौंह मटक, मुरली खटक, चारु चटक, ग्रीव लटक,**
> **कुंडल की झलक लाल बिसरत छिन नाहीं॥**[३]

नृत्य सम्बन्धी इस गीत में भाव-प्रदर्शन की अपूर्व क्षमता है। नृत्य के लिये इसी प्रकार के हाव-भाव तथा मुद्राओं से पूर्ण गीत की अपेक्षा होती है। नाटककारों ने इस पक्ष का ध्यान रखा है। रास-मंडल-नृत्य की भांति नृत्य करने का उल्लेख अम्बिकादत्त

व्यास के नाटक 'भारत सौभाग्य' में भी किया गया है। उत्साह, शिक्षा, एकता, राज-भक्ति, दया, उदारता, आदि पात्र उत्साह पात्र को वीच में कर रासमंडल की भांति नाचते हैं। नेपथ्य से 'होरी काफी' का गीत गाया जाता है—

जुविली रंग में हम मस्त भए हैं यार भूले सब संसार।[1]

इस नृत्य के साथ ही नाटक का अन्त होता है। वेश्या-नृत्य का आलम्वन उन नाटकों में अधिकतर लिया गया है जिनका कथानक वैश्याओं की दुर्प्रवृत्ति, मदिरा-पान-दोष कुमार्गियों के जीवन तथा सेठों-अमीरों-जमीदारों-वादशाहों आदि से सम्वधित है। शाही-दरवारों में विजयानन्द मनाने के लिये, वधाई के लिये तथा मनोरंजनार्थ नर्तकी-नृत्य का उस काल में प्रचलन था। 'महाराणा प्रताप सिंह' नाटक में राणा की विजय के आनन्द में नर्तकीगण नाचती-गाती हैं—

'गाओ-गाओ आनन्द वधाइयां।[2]

इसी प्रकार चतुर्थ अंक के तृतीय गर्भांक में अकवर के शाही दरवार में कई नर्तकियां गान और नृत्य कर रही हैं—

वढ़े औज इस तख्त का या इलाही।
दुरखशां रहे कौकवे बख्ते शाही॥[3]

'सीतास्वयंवर' नाटक में भी राजा दशरथ के दरवार में गायक व नर्तक साज-वाज मिलाकर नृत्य-गान करते हैं।[4] इसका उद्देश्य राजा की प्रशंसा तथा उसकी शुभ-कामना करना है।

भाव-नृत्य के उदाहरण इस युग में अधिक नहीं मिलते। यह उच्च कोटि का नृत्य है जो शास्त्रीय रीति पर आधारित है जिसमें भावों, मुद्राओं तथा पैर की वंधी हुई गति व नूपुरों की मंजी हुई ध्वनि की आवश्यकता होती है। संभवत: दर्शकों में इस प्रकार की रुचि का विकास नहीं हो पाया था। इस नृत्य का सर्वोत्तम स्वरूप 'माधवानलकामकन्दला' में उपलब्ध होता है। पहले नायिका कामकन्दला राजा काम-सेन के नृत्य-भवन में नृत्य करती है।[5] पुन: द्वितीय स्थान पर युवक नायक माधव के प्रति अपने आकर्षण को व्यक्त करती हुई आनन्द में मग्न नृत्य करती हुई राग काफी में गाती हैं—

मेरो चित चकोर भरमायो, धरणि पर चन्द्र कहां ते आयो।[6]

१—भारत-सौभाग्य : अम्विकादत्त व्यास, १८८७ ई०, पृ० ४५।
२—महाराणा प्रतापसिंह : राधाकृष्णदास, सातवां संस्करण, सप्तम अंक, पृ० १३४।
३—वही, पृ० ५२।
४—सीतास्वयंवर : वन्दोदीन दीक्षित, १९०० ई०, द्वितीय अंक : दृश्य १ पृ० ८।
५—माधवानलकामकन्दला : शालिग्राम वैश्य, प्रथम अंक, तीसरा गर्भांक, पृ० १५।
६—वही, प्रथम अंक, पृ० २५।

अप्सरा नृत्य का प्रयोग प्रायः कई नाटकों में किया गया है। इस नृत्य का उद्देश्य अप्सराओं के सौंदर्य द्वारा दर्शकों को मुग्ध करना तथा नाटकों के सौंदर्य एवं आकर्षण में वृद्धि करना ही रहा है। यह नृत्य आनन्द तथा बधाई की अभिव्यंजनार्थ प्रयुक्त हुआ है 'कल्पवृक्ष' नाटक के अन्तर्गत इन्द्र-सभा में अप्सरायें नृत्य करती हुई राग बहार में गाती हैं—

'आओ सब मिलि मंगल गाइए। बैठे सिंहासन देवराज ॥'

साधारण नृत्य से तात्पर्य उस नृत्य से है जो अत्यन्त साधारण, सरल रीति से हल्के-फुल्के रूप में किया जाता है, जिसमें भाव, मुद्रा तथा पैर-संचालन का अधिक महत्व नहीं होता। उदाहरणार्थ 'सीतास्वयंवर' नाटक में राम के जन्म पर ढाढ़ी व ढाढ़िन राजा के सामने आकर नाचते गाते हैं[१] तथा राज-दरबार में नटी बधाई देती हुई नाचती गाती है।[१] उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि इस काल के नाटकों में गीत के साथ ही नृत्य की परम्परा को निभाया गया है। मूक नृत्य, भाव-नृत्य तथा शास्त्रीय नृत्य का अभाव है। वेश्याओं और अप्सराओं के नृत्य की ही प्रमुखता है जैसा कि 'इन्दरसभा' नाटक में था।

भारतेन्दु-कालीन नाटकों में संगीत और काव्य :

संगीत और काव्य का एक दूसरे से गहन सम्बन्ध है। लयात्मकता, स्वर संयोजन, शब्द-निर्माण, शब्द-चयन, तथा ध्वनि के आवरण में गुंथे भाव-समूह ही संगीत के लिए उपयुक्त काव्य का स्वरूप प्रदान करते हैं। अधिक अलंकारत्व तथा पांडित्य संगीत के प्राण का हनन कर देता है। भारतेन्दुकालीन नाटकों में गीतों का काव्य-पक्ष सदैव सशक्त तथा संगीत के वातावरण से पूर्ण हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस बात का ध्यान अवश्य रखा गया है कि गीतों में काव्यत्व उतना प्रबल न हो जाय जो संगीत का विरोधी लगे फिर भी ऐसे गीत भी हैं जो काव्य के अधिक निकट हैं। ऐसे भी गीत हैं जिनमें संगीत तथा साहित्य, भाव तथा लय आदि का अपूर्व सामंजस्य हुआ है। इस अपूर्णता के संवरण के लिए नाटककारों ने शब्दों का निर्माण इस प्रकार किया है कि संगीत का माधुर्य, सरसता, स्वाभाविकता, मोहकता ध्वनि तथा गेयता स्वतः आ जाती है।

स्पष्टीकरण कर देते हैं। लोकगीतों में तदनुरूप ही भाषा-सारल्य है। ग्रामीण प्रदेश में प्रचलित शब्दों के आधार पर ही कजली, सोहर, वन्ना, झूलना आदि की रचना की गयी है।

उत्तम गीत :

संगीत तथा काव्य की दृष्टि से उत्तम गीतों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) धीरे धीरे चलो मगु राजकुमारी।
अति छवि वारी हमारी प्यारी सुमननि ते सुकुमारी।
रूप देखि रतिहुं मनहारी श्री निमिवंश दुलारी॥[1]

(२) आली यह पावस को दिन आयो।
गरजि-गरजि घन बूंदन वरसत चपला चहि चमकायो।
दादुर-मोर-पपीहरा वोलै कोयल कूक सुनायो।[2]

(३) कारे-कारे बदरन चपला चमके।
पिय के अंग दरस दुरि जाइ॥
कामिनि-नैनन अंसुआवर सैं।
धरक-करक हियरा अकुलाई॥
स्वास समीर सरसि अकझोरत।
डरप डरप जियरा लरजाई॥
पिउ पिउ रटत पपहिया पापी।
तड़प-तड़प हियरा विमसाई॥[3]

उपर्युक्त गीतों में भाषा की भावात्मकता और संगीतात्मकता दृष्टव्य है। 'धीरे-धीरे', 'गरजि-गरजि', 'कारे-कारे', पिउ पिउ आदि शब्दों की पुनरुक्ति के कारण गीतों में लय और ध्वनि का संचार हुआ है। इसके अतिरिक्त शब्दों के लोच युक्त प्रयोगों के कारण माधुर्य, ध्वनि और सरस संगीत का सृजन संभव हो सका है। उदाहरणार्थ पपीहा पपीहरा, वदरा बदरन, दरश दरस, आंसू असुआ, हिया हियरा, सदृश सरसि, आदि शब्द माधुर्य के सजीव रूप हैं तथा 'धरक-धरक' में 'ड़' के स्थान पर 'र' करने से कोमलता की सृष्टि हो गयी है। इसके साथ-साथ अनुप्रास और उपमा अलंकारों की स्वाभाविक छटा एवं भावानुरूप भाषा के प्रयोग ने गीतों को उत्तम श्रेणी के उपयुक्त वना दिया है। संगीतात्मकता की दृष्टि से निम्नलिखित गीत प्रशंसनीय हैं—

१—जनकवाग दर्शन : पं० रामनारायण मिश्र का काव्यतीर्थ, प्र० सं०, पृ० ८।

२—मयंकमंजरी : पृ० ६।

३—संयोगिता स्वयंवर : श्रीनिवास दास, पृ० ६।

छोड़ चले वृन्दावन में श्याम वंशी वारो रे।
विरह-विथा कछु कहि नहि जाती, निशिदिन जरत रहत यह छाती।
कर मल-मल पछताती, नेह बिसारो रे।[1]
आओ हमरे गेह पियरवा।
लागोंगी हंसि-हंसि तुम्हरे गरवा॥
चुनि चुनि फूल गूंथि निज हाथन लाल तुम्हें पहिराउंगी हरवा॥[2]

इन गीतों में संयुक्ताक्षरों के स्थान पर व्यथा—विथा, स्नेह-नेह, गृह-गेह, जैसे कोमल प्रयोग हैं साथ ही 'पियरवा', 'गरवा', 'हरवा' जैसे शब्दों में स्वयं संगीत का प्रधान गुण लय और आकर्षण विद्यमान है। यही नहीं 'रे' के प्रयोग से गीत संगीत के और अधिक निकट आ गया है। इस प्रकार के संगीत प्रधान गीत इस युग में पर्याप्त हैं जिन्हें हम निश्चय ही उत्तम कह सकते हैं।

निकृष्ट गीत :

इनके अतिरिक्त ऐसे गीत भी नाटकों में हैं जिनका काव्य की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है, जिनमें भाषा तथा भाव के सौंदर्य का अभाव है तथा जिनका कार्य केवल निम्न रुचि के दर्शकों का मनोरंजन करना प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ-माधवानल अपनी प्रिया के वियोग में गाता है जिसमें केवल शब्दाडम्बर है। न साहित्यिकता है, न रस—

अरी कंदल अरी कंदल, अरी कंदल अरी कंदल
मुझे क्या कर दिया तैने, न सोते कल न बैठे कल॥[3]

महारास नाटकों में गोपियां गाती हैं—[4]

(१) आज मेरो मन फंस गयो री
सखि सांवलिया की जुलफन में मेरो मन फंस गयो री॥

'प्रभासमिलन' नाटक में ग्वाल बाल-कृष्ण-दर्शन की प्यास लिए गाते हैं—

दिलदार यार प्यारे एक बार नेक आजा॥
नैना बरस रहे हैं सूरत जरा दिखा जा॥
मरते हैं बिन तिहारे इतना तो न सता रे।
टुक हम पे रहम खा रे हे प्राण प्यारे राजा॥[5]

१—नन्दविदा : बलदेव प्रसाद मिश्र : पृ० ११७।
२—महारास : 'मल्ल', पृ० ४६।
३—माधवानलकामकन्दला : शालिग्राम वैश्य, च० अंक' पृ० १४३।
४—महारास : 'मल्ल', पृ० १९।
५—प्रभास मिलन : बलदेव प्रसाद मिश्र : १९०३ ई०, छठा अंक, पृ० १३२।

यद्यपि इस प्रकार के गीतों की मात्रा अधिक नहीं है, किन्तु फिर भी उर्दू मिश्रित तथा इस प्रकार के साहित्यिक, भावहीन गीत यदि तदनुकूल कथानक तथा वातवरण में रखे जायें तब उनकी असाहित्यिकता उतनी नहीं खटकती। पौराणिक नाटकों में इस प्रकार के गीत नाटकीय-सौंदर्य व कथानक के लिये बाधक होते हैं। उदाहरणार्थ सीता जी द्वारा उर्दू का प्रयोग कराना तथा शृंगार का अमर्यादित रूप दर्शाने वाले गीत को प्रयुक्त कराना अनुचित लगता है। 'सीतास्वयम्वर नाटक' (वन्दोदीन दीक्षित) के अन्तर्गत राम को फुलवारी में देख जानकी गाती है— (दादरा)

आली लखौ वनमाली सलोना।
जालिम जुलुफ विपुल व्याली सम मोंहि डसी किमि जाऊंगी भौना॥[१]

यहां 'जालिम जुलुफ' का प्रयोग सीता जैसी आदर्श भारतीय नारी के सत् चरित्र के साथ उचित नहीं प्रतीत होता।

संगीत सम्बन्धी दोष :

एक अन्य दोप इस काल के नाटकों में कुछ स्थलों पर दृष्टिगत होता है। जहां एक ओर कुछ गीत संक्षिप्त, समयानुकूल तथा प्रभावपूर्ण हैं, वहां दूसरी ओर कुछ गीत अधिक लम्वे, अस्वाभाविक अतएव प्रभावहीन हैं। नाटक में संगीत की उपयोगिता केवल वहीं तक है जहां तक वह नाटकीय वातावरण को आकर्षक वनाता है तथा उसके कथानक का आवश्यक अंग वना रहता है। विस्तृत गीत नाटकीय कौतूहल तथा घटनाओं की उत्सुकता को नष्टप्राय कर देते हैं। ऐसे गीत दर्शक को उवा देने वाले होते हैं। संगीत की अपनी मर्यादा भी विनष्ट हो जाती है। निरन्तर तीन-चार गीतों की क्रमिकता तो अनेक नाटकों में उपलब्ध होती है। यथा, 'नाट्यसम्भव' में तीन गीत क्रमश: राग जोगिया, गोरी तथा ईमन कल्याण में गाए जाते हैं।[२] उस पर भी तीसरा गीत 'अहा यह नन्दन वन सुखदाई' अधिक विस्तृत है। इस पूरे नाटक में गीतों की मात्रा वहुत अधिक है। वलदेव मिश्र का 'नन्दविदा' नाटक तो आद्यन्त गीत-मय ही है। गद्य वहुत कम है। प्रत्येक पृष्ठ पर गीत हैं जिनमें कुछ लम्वे भी हैं।[३] कहने की आवश्यकता नहीं कि संगीत का इस प्रकार का अनावश्यक प्रयोग अवांछित है।

भारतेन्दु-कालीन नाटकों में संगीत का प्रयोजन :

इस काल के नाटकों में तथा भारतेन्दु के नाटकों में संगीत का प्रयोजन समान ही है। प्रधानत: नाटककार संगीत का उपयोग नाटकीय सौंदर्य को वढ़ाने तथा

१—प्रभास मिलन : वलदेव प्रसाद मिश्र : १९०३ ई०, पंचम अंक, पृ० ७८।
२—नाट्यसम्भव : किशोरीलाल गोस्वामी : पृ० ५-६।
३—वही, पृ० ४४ तथा पृ० ४८।

दर्शकों का मनोरञ्जन करने के लिए ही करते हैं। इसी के साथ-साथ उसमें अन्य विशेषतायें भी आजाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ सुन्दर, संक्षिप्त तथा समयानुकूल गीत नाटकीय वातावरण को आकस्मिक आकर्षण प्रदान करते हैं। 'माधवानलकामकन्दला' में नृत्यशाला में नायिका द्वारा गाया गया तराना,[१] 'श्रीदामा' नाटक में अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ी व सीधी-साधी पत्नी को न देखकर आश्चर्य, दुःख, चिन्ता से आकुल श्रीदामा का गीत—

'कहां गयी मेरी राम मढ़ैया।'[२]

'महारास' नाटक में कृष्ण के मिलन से प्रसन्न गोपियों का यह गीत—

'आओ हमारे गेह पियरवा'[३]

'भारत-ललना' नाटक में मूर्खता, कलह तथा निद्रा द्वारा गाया गया गीत—

'पिया मोरी नाहक निंदिया जगाई रे।'[४]

'ललिता-नाटिका' के द्वितीय अंक में विरहिणी ललिता का गीत—

'मेरे नैन अधिक तरसाए। प्यारे मेरो गलियां हुं नहिं आए'[५]

'अमरसिंह राठौर' के अन्तर्गत पराधीन भारत की स्थिति-सम्वन्धी वैतालिक-भाग—

'दुख सागर मांहि अथाह परे।
अरे भारत रे! अरे भारत रे॥
दिन रात अकाल दुकाल घिरे।
विकराल क्षुधा नित भारत रे॥'[६]

इत्यादि उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करते है। ये गीत कथानक को गति भी देते हैं तथा दर्शकगणों के मानस को प्रभावित भी करते हैं।

मंगलाचरण के लिए संगीत मुख्य साधन रहा है। ईश्वर-स्तुति, भजन तथा कीर्तन के लिये संगीत का प्रयोग अधिक हुआ है क्योंकि कृष्ण-लीला को लेकर नाटकों की रचना अधिक हुई है। अन्य पौराणिक कथाओं के आधार पर भी नाटक लिखे गए हैं अतः भजन कीर्तन स्वाभावतः आ गए हैं।

प्रकृति वर्णन के लिए भी संगीत का प्रयोग कुछ स्थलों पर हुआ है। उदाहरणार्थ 'मयंकमंजरी',[७] 'अंजनासुन्दरी'[८] तथा 'वेणु-संहार'[९] नाटकों में।

१—माधवानलकामकन्दला : शालिग्राम वैश्य : पृ० १५।
२—श्रीदामा : राधाचरण गोस्वामी : सं० १९६१ वि०, पृ० ११।
३—महारास : 'मल्ल' पृ० ४६। ४—भारत-ललना : 'मल्ल' पृ० ६।
५—ललिता नाटिका : अम्बिकादत्त व्यास, सं० १९४० वि० पृ० १३।
६—अमरसिंह राठौर : राधाचरण गोस्वामी : पृ० ४।
७—मयंकमंजरी : किशोरीलाल गोस्वामी : पृ० ६-७।
८—अंजनासुन्दरी : कन्हैयालाल भरतपुर : पृ० १३।
९—वेणु-संहार:भट्ट नाटकावली : सं० घनंजय भट्ट, प्र० सं०, प्र० अंक, पृ० ६२-६३।